कथा-वर्ष 1977

डा. देवेश ठाकुर

कथा-वर्ष–1977

[1976 की श्रेष्ठ कहानियाँ]

सम्पादक
डा० देवेश ठाकुर

मीनाक्षी प्रकाशन

मेरठ • नयी दिल्ली

कथा-वर्ष—1977

[1976 की श्रेष्ठ कहानियाँ]

अनुक्रमण

समर्पण

दिवंगत
यशपाल
फणीश्वरनाथ 'रेणु'
और
इब्राहीम शरीफ
को

अपनी बात

'कथा-वर्ष' की यह योजना 'कथा-वर्ष—1976' (1975 की श्रेष्ठ कहानियाँ) से पिछले वर्ष आरम्भ हुई थी। इससे पूर्व हमने 'कथा-क्रम' के दो बृहत् खण्डों में आरम्भ (रानी केतकी की कहानी) से लेकर 1974 तक की 175 श्रेष्ठ कहानियों का संकलन-सम्पादन किया है। ये दोनों खण्ड अब इसी वर्ष प्रकाशित हो रहे हैं। इसी 'क्रम' में 'कथा-वर्ष' की योजना का प्रारूप बना था और यह सोचा गया था कि 'कथा-वर्ष' की इस शृंखला में प्रत्येक वर्ष की श्रेष्ठ, सामयिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई, आवश्यक रूप से प्रतिबद्ध और साथ ही हिन्दी कहानीकार की विभिन्न मानसिकताओं और परिवेशों को उजागर करने वाली रचनाएँ दी जायें। साथ ही, हमारा ध्यान इस ओर भी था कि इस शृंखला में अधिक से अधिक समर्थ नए लेखकों को भी सम्मिलित किया जाय जिससे उनकी रचनाधर्मिता को साहित्य में रेखांकित होने का अवसर मिल सके। इसीलिए इस संकलन में कतिपय प्रतिष्ठित लेखकों के साथ एकदम नए रचनाकारों की कहानियाँ भी सम्मिलित की गयी हैं।

इस योजना का उद्देश्य हिन्दी कहानी की रचनाधर्मिता को प्रतिष्ठित करना तो है ही, साथ ही शोध और सन्दर्भ की दृष्टि से भी उसका निश्चित महत्त्व बने, इस ओर भी पूरा ध्यान रखकर श्रमसाध्य प्रयास किया गया है।

—देवेश ठाकुर

लिए रचनात्मक राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया अवश्य आरम्भ हो गयी है और इस परिवर्तन की कुछ स्पष्ट रेखाएँ हम पश्चिमी बंगाल की विधान सभा के चुनावों में लक्षित कर सकते हैं····लेकिन साथ ही, इस संक्रान्तिकाल में अभी कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना असामयिक और अपरिपक्व ही होगा।

□

ऐसी राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल और परिणामस्वरूप स्थापित आपात-स्थिति के बीच रचनाकार की अन्तरंग अभिव्यक्ति अवरुद्ध होकर रह जाती है। ऐसी स्थिति में अपने समय के चक्र को गहराई और वास्तविकता से रेखांकित करने वाली महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में नहीं आ पातीं। जो कुछ आ भी पाती हैं, उनकी मारक-शक्ति प्रकाशकों और सम्पादकों की कृपा से कुण्ठित हो गयी होती है। 1976 में इसीलिए हम व्यवस्था-विरोधी रचनाओं का बाहुल्य नहीं पाते। बहुत कम रचनाएँ, जो सामान्यतः छोटी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, अपने कथ्य और प्रस्तुति में, प्रेस सेंसर के बीच भी अपनी अस्मिता को बनाये रख सकी हैं। यह उनके रचनाकार के स्वस्थ संकल्प और सही बात को कहने की साहसिकता का प्रमाण देती हैं। 1975 में व्यवस्था का सीधा-सीधा विरोध 'मुसई चा' [काशीनाथ सिंह], 'सूरज कब निकलेगा' [स्वयं प्रकाश], 'जलते हुए डैने' [हिमांशु जोशी], तथा 'अन्तहीन-दो' [सुदीप], जैसी अनेक रचनाओं में हुआ था। इस बार 1976 में ऐसी तेज-तर्रार रचनाओं का अभाव अवश्य रहा है, किन्तु 'देवी सिंह कौन' [रमेश उपाध्याय], 'धन्यवाद' [शशिप्रभा शास्त्री], सन्नाटा [सुरेन्द्र तिवारी], 'बन्द रास्तों के बीच' [मिथिलेश्वर], 'फरिश्ते की मौत' [मनीषराय यादव], 'श्रीमान जी' [सुभाष पंत] तथा 'अलग-अलग तीलियाँ' [प्रभु जोशी] आदि में प्रकारान्तर से व्यवस्था-विरोध का जीवन्त स्वरूप सम्पूर्ण लेखकीय सजगता के साथ देखा जा सकता है। इन सब रचनाओं के साथ-साथ आज के औसत भारतीय जीवन को व्यक्त करने वाली कहानियाँ इस वर्ष में खूब प्रकाशित हुई हैं और उनको पढ़कर यह साफ-साफ जाहिर होता है कि हिन्दी कहानीकार सभी तरह की वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक विद्रूपता के होते हुए भी अपनी रचना-यात्रा में अधिक सजगता के साथ प्रशस्त हुआ है और अनेक अवसरों पर अपनी सीमाओं से भी परे, आगे बढ़कर अपनी बात कहने की साहसिकता उसने दिखलाई है। श्रीमती दुर्गा भागवत का यह आरोप एकांगी और भावुकतापूर्ण ही कहा जायेगा कि हिन्दी लेखकों ने आपात्काल में अपनी जागरूकता नहीं दिखलाई। उनके प्रति समस्त सम्मान भावना के बावजूद उनसे यह प्रश्न तो पूछा ही जा सकता है कि हिन्दी प्रदेशों में जो कांग्रेस को मूल से उखाड़ फेंका गया क्या उसमें हिन्दी लेखकों के योग का कोई प्रतिशत नहीं था। [यद्यपि बिकने के लिए आतुर अवसरवादी तो सभी जगह होते हैं] दूसरे, श्रीमती दुर्गा

भागवत जैसे विचारकों और लेखकों के होते हुए भी महाराष्ट्र में कांग्रेस क्यों जीत गयी ? इसका अर्थ क्या यह नहीं होता कि महाराष्ट्र की जनता में श्रीमती दुर्गा भागवत और उनके जैसे विचारकों-लेखकों का कोई प्रभाव नहीं है। लेकिन हम जानते हैं असली कारण ये नहीं हैं। असली कारण हैं कांग्रेसी कुशासन और विनोबा जी के 'अनुशासन पर्व' के दौरान निरीह जनता पर की गयी ज्यादतियाँ। जहाँ-जहाँ परिवार-नियोजन को कार्यान्वित करने के लिए जोर-ज्यादतियाँ की गयीं, जहाँ-जहाँ नौकरशाही ने अपना नंगा रूप दिखलाया, जहाँ-जहाँ संजय गांधी और उनके गिरोह के चरण पहुँच पाये और जहाँ-जहाँ इन सबसे जनता को सहना पड़ा, बस वहीं कांग्रेस के तीव्र विरोध में एक सुदृढ़ जनमत बनता चला गया और चुनावों के बाद तो, हम देखते हैं, देश का पूरा राजनीतिक परिदृश्य ही परिवर्तित हो गया। इस परिवर्तन के पीछे 30 वर्षों से चला आ रहा और धीरे-धीरे पल रहा जनता का असन्तोष ही मुख्य है। ऐसे परिवर्तन और ऐसी विजय का स्वागत होना चाहिए अवश्य, लेकिन साथ ही साथ यह भी देखना चाहिए कि कहीं आगे चलकर यह विजय प्रतिक्रियावाद पर प्रतिक्रियावाद की विजय प्रमाणित न हो जाये।

□

हिन्दी कहानी पर बात करते हुए इतना सब कुछ कहने की आवश्यकता इस लिए पड़ी कि आज व्यक्ति का जीवन राजनीति से प्रेरित और प्रभावित बन गया है। वे लोग भी, जो राजनीति में सक्रिय नहीं हैं या उससे उदासीन हैं, कहीं न कहीं राजनीतिक परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं और हम मानते हैं कि रचनात्मक साहित्य की सृष्टि व्यक्ति-जीवन से अछूते रहकर हो ही नहीं सकती। तब, ऐसी स्थिति में चेतनासम्पन्न और जागरूक लेखक के लिए अपने समय की नब्ज पर हाथ रखकर समाज की प्रत्येक साँस की परख करना परम आवश्यक हो जाता है। क्योंकि ईमानदार लेखक से न तो यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय से कटकर काल्पनिक कुहासे का अम्बर लगाये और न ही यह कि वह अपनी कुंठाओं की अभिव्यक्ति को ही साहित्य मनवाने का प्रयत्न करे। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि अभिव्यक्ति के अवरोध के बावजूद इस वर्ष हिन्दी कहानीकारों ने जितनी और जिस कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, उनसे हमारा सर निश्चय ही ऊँचा होता है। और तो और 'धर्मयुग' जैसी घरेलू और रंगीन पत्रिका में भी इस वर्ष अच्छी संख्या में अच्छी कहानियाँ छपी हैं। इससे निश्चय ही सही परिवर्तन की भूमिका रेखांकित की जा सकती है।

यह सही है कि ऐसी कथा-वार्षिकी को तैयार करने के लिए अधिक से अधिक कहानियों से गुजरने की आवश्यकता होती है, फिर भी सभी रचनाओं को देख जाना एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हो सकता। इसके बावजूद हमने हिन्दी की सभी

श्रेष्ठ, लोकप्रिय और चर्चित पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों से होकर निकलने का प्रयास किया है। इन पत्रिकाओं में सारिका, कहानी, माया, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, युग-परिबोध, प्रगतिशील समाज, कादम्बिनी और नवनीत आदि उल्लेखनीय हैं। इन पत्रिकाओं में प्रकाशित 150–200 कहानियों में से गुजरने के बाद हमें यही लगा कि आपातकाल में भले ही अभिव्यक्ति के प्रकार में थोड़ा सा अन्तर आ गया हो और व्यवस्था का विरोध उस तरह खुलकर न हुआ हो, जिस प्रकार 1975 में प्रकाशित रचनाओं में मिलता है, लेकिन शेष सभी प्रवृत्तियाँ पिछले वर्ष की भाँति ही इन कहानियों में भी विद्यमान हैं। पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध, आर्थिक दबाव से प्रभावित पारिवारिक जीवन के वैषम्य, अकेले पड़ जाने का अहसास, सुरक्षा का प्रश्न, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच परस्पर शिथिल होते सम्बन्ध, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का तनाव, सामान्य तथा मध्यवर्गीय जीवन की दिन-ब-दिन बदतर होती हुई स्थिति, नारी-अन्तर्द्वन्द्व, ग्रामीण अंचलों का करुण जीवन और मानवीय संवेदन—इन सबके चित्रण से ये रचनाएँ आपूर्ण हैं। इनके साथ ही कतिपय रचनाकारों ने प्रवासी भारतीयों के अकेलेपन और उस अकेलेपन से उत्पन्न उनकी मानसिक पीड़ा को भी अत्यन्त कुशलता से शब्दबद्ध किया है। कुछ चर्चित रचनाकारों की लेखनी से कुछ रचनाएँ मांसल सेक्स-सम्बन्धों और रोमांटिक मानसिकता की भी रची गयी हैं और यह शुभ स्थिति है कि ऐसी रचनाओं की संख्या नगण्य है। इसके अतिरिक्त कतिपय रचनाएँ शिल्प-प्रयोग की साक्षी देती हैं। लेकिन इनकी संख्या भी बहुत अधिक नहीं है। अधिकांश कहानीकारों की दृष्टि आज के जीवन के वास्तविक संघर्षों पर केन्द्रित रही है। और उन्होंने आम आदमी के सुख-दुःख उसके आस-पास के परिवेश और उन विवश स्थितियों का चित्रण किया है जिनमें उसे रहना और उनको सहना पड़ रहा है। एक तरह से कहा जा सकता है कि इस वर्ष की अधिकांश रचनाएँ लेखकों की अपने समय और परिवेश की उस चेतना सम्पन्नता को अभिव्यक्ति देने वाली रचनाएँ हैं जिसका विकास पिछले 10–15 वर्षों से निरन्तर होता चल रहा है। आपात्काल उस चिंतना और चेतना में कोई मूलभूत व्यवधान नहीं डाल सका है, यह सत्य इन रचनाकारों की जीवन्तता और प्रतिबद्धता को ही प्रतिष्ठित करता है।

☐

1976 की कथा-सृष्टि में सामान्य और मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन के बीच निरन्तर बढ़ते हुए वैषम्य, आर्थिक दबाव, असहायता और असन्तोष का रेखांकन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। 'सर्वहारा' [रामानन्द; कहानी, जनवरी], 'कुछ भी होने के लिए' [अकुलेश परिहार; कहानी, जनवरी], 'दबा हुआ आक्रोश' [अपर्णा टैगोर; कहानी, जनवरी], 'टुकड़े-टुकड़े आकाश' [प्रेमचन्द सहजवाला; कहानी, फरवरी],

'स्थगित महाभारत' [सुधांशु शेखर त्रिवेदी; कहानी, फरवरी], 'अपने लिए नहीं' [सुरेश मंथन; कहानी, फरवरी], 'घुन खाये रिश्ते' [अपर्णा टैगोर; कहानी, जुलाई], 'मरहम' [सीतेश आलोक; कहानी, जुलाई], 'समझौता' [यशपाल वैद्य; कहानी, सितम्बर], 'व्यवस्था' [राजेन्द्र यादव; धर्मयुग, 17 अक्तूबर], 'बैल' [गुरुबचन सिंह; कहानी, अक्तूबर], 'उत्तराधिकार' [प्रभास कुमार चौधरी; कहानी, अक्तूबर], 'कहर आषाढ़ का' [मोहर सिंह यादव; सारिका, अप्रैल], 'आवाज की अरथी' [आलम शाह खान; सारिका, सितम्बर], 'तालपत्री' [हृदयलानी; सारिका, सितम्बर], 'कर्ज' [अरुणा सीतेश; कादम्बिनी, अगस्त], 'कोई एक घर' [अशोक अग्रवाल; साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 14 नवम्बर], 'एक घर सपनों का' [मालती जोशी; साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 1 फरवरी], 'गुलाब के बगीचे तक' [मृदुला गर्ग; धर्मयुग, 12 सितम्बर], 'एक जैसी छत' [सुमति अय्यर; जागृति, अक्तूबर], 'ट्यूशन' [हृदयेश; साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 7 मार्च], 'बुजदिल' [नफीस आफरीदी; धर्मयुग, 12 अप्रैल], 'त्रिशंकु' [जीवितराम सेतपाल; सुधाबिन्दु, दिसम्बर], 'डरेवर साहब' [रवीन्द्र राजहंस; सारिका, अक्तूबर], 'अनाहूत' [बल्लभ सिद्धार्थ; धर्मयुग, 19 सितम्बर], 'शिक्षाकाल' [बलराम; धर्मयुग, 15 अगस्त], 'हत्या या आत्महत्या' [सलाम बिन रजाक; धर्मयुग, 11 जौलाई], 'योद्धा' [सुरेश उनियाल; माया, सितम्बर], 'फैसले के बाद' [इब्राहीम शरीफ; योजना, 7 जून], तथा 'महामारी' [स्वदेश दीपक; धर्मयुग, 12 दिसम्बर], इस सन्दर्भ की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

'कुछ भी होने के लिए' पर्वतीय परिवेश में प्रस्तुत मध्यवर्गीय रूढ़ मानसिकता को व्यक्त करने वाली रचना है। यहाँ पीढ़ियों से चली आ रही अन्धविश्वास की अस्वस्थ परम्परा तथा पुरोहित वर्ग द्वारा अपने स्वार्थ के लिए फैलाये गये आडम्बरों का उद्घाटन बड़ी सफलता से हुआ है। साथ ही, इसमें आर्थिक दबावों के बीच घुट रहे सामान्य व्यक्ति की वेदना और विवशता को भी स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति मिली है। 'घुन खाये रिश्ते' में यह आर्थिक दबाव और भी अधिक मार्मिकता से अंकित हुआ है। माता-पिता के बढ़ते हुए परिवार पर नवविवाहित रमापति की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र है कि एक स्थल पर वह अपनी गर्भवती माँ को धक्का देने की सोचता है, ताकि गर्भ गिर जाये और संयोग से जब वह अपने आप ही गिर जाता है तो उसे सन्तोष का अनुभव होता है। माता-पिता और सन्तान के सम्बन्धों के बीच आर्थिक वैषम्य ने एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी है जिससे परस्पर संवेदना की सम्पूर्ण आश्वस्ति छिन्न हो गयी है। 'बैल' में भी इस आर्थिक दबाव को गहराया गया है। जहाँ परिवार की गाड़ी खींचते चलने के लिए व्यक्ति की स्थिति बैल के समान हो जाती है। 'आवाज की अर्थी' और 'तालपत्री' दोनों में सामान्य वर्गीय जीवन का यथार्थ, अभाव, वैषम्य तथा साथ ही उसकी मानसिकता अपनी सम्पूर्ण भाषिक प्रभावशीलता के साथ प्रकट हुई है। 'कहर आषाढ़ का' में भी गरीब व्यक्ति की आर्थिक विवशता को रेखांकित किया गया है। इस कथा में आम आदमी के प्रतीक

घींसिया पर आषाढ़ का कहर नहीं पड़ता, वरन् स्वार्थ और शोषण की इस व्यवस्था को चलाये रखने वाले वर्ग के कहर से उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अशोक अग्रवाल की 'कोई एक घर' भी सामान्य परिवार के निरन्तर टूटते रहने की व्यथा-कथा को अत्यन्त मार्मिकता से साथ प्रस्तुत करती है। पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन को, नफीस की 'बुजदिल' में भी सफलता के साथ चित्रित किया गया है। वेतन-भोगी सामान्य व्यक्ति की आर्थिक परिस्थिति का चित्रण एक सीधी-सादी कहानी 'त्रिशंकु' [सेतपाल] में भी विशिष्ट मार्मिकता के साथ हुआ है। पारिवारिक वैषम्य और प्रवंचनाओं को रेखांकित करने के सन्दर्भ में वल्लभ सिद्धार्थ की 'अनाहूत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाती है। अर्थकेन्द्रित रिश्तों की घिनौनी पहचान ने मनुष्य से मनुष्यत्व की गरिमा छीन ली है और उसे परले सिरे का स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित और दूसरों के दुःख-सुखों से नितान्त उदासीन तथा विरक्त व्यक्ति बनाकर छोड़ दिया है। सामान्य वर्ग के पीड़ित और प्रताड़ित व्यक्तियों की दारुण और हृदय-विदारक परिस्थितियों का चित्रण बलराम की 'शिक्षा-काल' में अत्यन्त सजीवता से हुआ है। सामान्य वर्गीय वैषम्य और मानसिकता और साथ ही आर्थिक दबावों के बीच टूटते-गिरते और गलत चीजों से समझौता करते व्यक्ति का अंकन 'हत्या—आत्महत्या' का वैशिष्ट्य है। इसी प्रकार 'एक घर सपनों का' एक सुखी सम्पन्न परिवार के सपने जीती नारी के यथार्थ-अभावों की कहानी है जो अपने अभावों को अपने आस-पास के घरों द्वारा पूरना चाहती है। 'गुलाब के बगीचे तक' भी इसी प्रकार सपने देखने और फिर अपनी पारिवारिक समस्याओं के बीच उन स्वप्नों के टूटने, और उस टूटन का दर्द झेलने की मर्मान्तक कथा है। 'गुलाब के बगीचे' की ही भाँति 'एक जैसी छत' भी पारिवारिक वैषम्यों के बीच घिरी हुई नारी की विवशता को व्यंजित करने वाली सशक्त रचना है। 'ट्यूशन' में एक सम्पन्न वकील के घर अपनी विवशता में ट्यूशन कर रहे मौलवी साहब के अन्तर्द्वन्द्व और स्वयं को छोटा समझे जाने की हीन-भावना का अंकन है। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव की 'व्यवस्था' पारिवारिक जीवन की ऊब और खिजलाहट को अभिव्यक्ति देकर उससे मुक्ति की राह के शोधन की आकांक्षा की रचना बन गयी है।

पारिवारिक जीवन के बीच आर्थिक अभावों और दबावों से सम्बद्ध अन्य रचनाओं में 'दबा हुआ आक्रोश' हमारा ध्यान आकर्षित करती है। पुत्री की कमाई पर चल रहे घर में पिता की हीन-ग्रन्थि का चित्रण अत्यन्त सहज भूमिका पर हुआ है। यही बात पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव की स्थिति उत्पन्न कर देती है। यह तनाव पारिवारिक रूढ़िवादिता के कारण और भी गम्भीर और विषमय बन जाता है। इसी सन्दर्भ में लेखिका ने नारी-स्वातन्त्र्य के प्रश्न को भी वस्तुपरक भूमिका पर उठाकर एक संगत समस्या के विषय में चिन्तन की दिशा प्रशस्त की है। इसी प्रकार, जहाँ, दूसरी ओर 'टुकड़े-टुकड़े आकाश में' मध्यवर्गीय परिवार की त्रासदी का सफल चित्रण हुआ है, वहीं 'स्थगित महाभारत' में सामान्य वर्गीय जीवन की

वस्तुस्थिति को अत्यन्त मार्मिक और वास्तविक अभिव्यक्ति मिली है। मार्मिकता के सन्दर्भ में सुरेन्द्र मंथन की 'अपने लिए नहीं' एक महत्त्वपूर्ण रचना है जहाँ आर्थिक दबावों के कारण बूढ़ा पिता अपने जवान और कमाऊ बेटों के लिए एक बेकार की, उपयोग में न लाई जा सकने वाली चीज बनकर रह गया है। पूरे जीवन की साधना की यह निरर्थकता और उपेक्षा बड़ी अपमानजनक है। लेकिन लेखकीय आस्तिक और आस्थापूर्ण दृष्टि इस उपेक्षित पिता को सम्भालने के लिए उसकी बेटी को प्रस्तुत करती है, जो अपने भाइयों की मनोवृत्ति को समझकर पिता को अपने साथ रखने का निश्चय लेती है। इसके लिए वह अपने प्रणयी सुरेश से भी विवाह के लिए दो-चार साल प्रतीक्षा करने के लिए कह देती है। 'प्रतीक्षा कर सके तो ठीक अन्यथा'.... वह अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकती।' पारिवारिक वैषम्य के बीच संवेदना का यह हल्का, गुनगुना-सा स्पर्श मानवीय चेतना को जगाता-सा प्रतीत होता है। इस स्थिति के विपरीत 'मरहम' [सीतेश आलोक] मध्यवर्गीय परिवारों के बीच पति-पत्नी के तनावों को रूपायित करती है। इस रचना में लेखक की मनोवैज्ञानिकता की सही पकड़ स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसी कहानी के समान्तर एक दूसरी कहानी है 'समझौता' [यशपाल वैद]। इसमें पारिवारिक जीवन के दैनिक व्यवहारों को अभिव्यक्ति मिली है। यद्यपि शिल्प की परिपक्वता के अभाव में यह रचना पाठक पर अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाती, फिर भी कथ्य की सच्चाई की दृष्टि से यह अवश्य ही महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कृति है। कुछ लेखकों ने मध्यवर्गीय परिवारों के सामाजिक यथार्थ को कथ्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए इस वर्ग के संस्कारों और अस्वस्थ परम्पराओं का भी रेखांकन किया है और उनको प्रकाश में लाकर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा दी है। इस दृष्टि से 'उत्तराधिकार' दृष्टव्य है। इन्हीं अस्वस्थ परम्पराओं में लड़की के विवाह पर दहेज आदि के रूप में अत्यधिक खर्च करने की भी परम्परा है जिससे अभी तक लड़की का पिता जकड़ा हुआ है। मध्यवर्गीय परिवारों के दैनिक जीवन में वैसे ही अनेक-अनेक समस्याओं का ताँता लगा रहता है और उन समस्याओं के बीच लड़की के विवाह का प्रबन्ध करना जीवन को और भी विषम बना देता है। अरुण सीतेश की 'कर्ज' पिता की इस व्यथा का अच्छा अंकन करती है। जहाँ लड़की के विवाह के लिए मकान रेहन रखा जाता है, बच्चों की पढ़ाई छुड़ा दी जाती है। किन्तु ऐन समय पर लड़की द्वारा आत्महत्या कर लेने से घोर दुःख और सन्ताप के क्षणों में भी माता को एक राहत का स्पर्श-सा होता है।

मध्यवर्गीय परिवारों के आर्थिक वैषम्य को अभिव्यक्ति देने वाली कुछ और अच्छी कहानियाँ हैं। इनमें 'योद्धा' [सुरेश उनियाल], 'फैसले के बाद' [इब्राहीम शरीफ] तथा 'महामारी' [स्वदेश दीपक] के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। 'योद्धा' एक पढ़-लिखकर बेकार बने हुए युवक की मानसिकता, पड़ोसियों के व्यंग्य, उसकी बेकारी के कारण घर में छाई मनहूसियत और पिता की करुणा को अभिव्यक्ति देने

आर्थिक वैषम्य और उससे पीड़ित पारिवारिक जीवन के रेखांकन के साथ-साथ इस वर्ष की कतिपय रचनाओं में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच शिथिल पड़ते सम्बन्धों पर भी कतिपय कहानीकारों की दृष्टि गयी है। बौद्धिकता के एकांगी विकास तथा आत्मकेन्द्रीयता की निरन्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति सम्बन्धों की इस शिथिलता के मुख्य कारण हैं। वैसे यह सच है, कि आर्थिक दबाव और समाज में अर्थ की महत्ता—इन दोनों स्थितियों का भी इस सन्दर्भ में विशेष हाथ रहा है। पितृशोक [मेहरुन्निसा परवेज; सारिका, नवम्बर], 'समझौता' [राकेश वत्स; सारिका, दिसम्बर], 'एक नदी नर्मदा' [बिन्दु सिन्हा; साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 29 अगस्त], 'राख' [प्रतिमा वर्मा; धर्मयुग, 2 तथा 9 मई], 'रात अभी बाकी है' [मिथिलेश्वर; प्रगतिशील समाज, नवम्बर] तथा 'अनबीता अतीत' [दिनेश पालीवाल; धर्मयुग, 28 नवम्बर] इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। वास्तविक सम्बन्धों की गरिमा और परस्परता हार्दिकता से प्रेरित होती है। इस हार्दिकता के अभाव में ये सम्बन्ध झूठे और बनावटी लगने लगते हैं और जब इस बनावटीपन पर और मुखौटे चढ़ा दिये जाते हैं तब ये वितृष्णा उत्पन्न करने लगते हैं। 'पितृशोक' में सम्बन्धों के इसी मुखौटेपन पर लेखिका ने अत्यन्त तीखा व्यंग्य किया है। वस्तुतः व्यंग्य से समन्वित होकर यह कथा और भी प्रभावी हो गयी है। राकेश वत्स की 'समझौता' भी आत्मकेन्द्रीयता और आर्थिक प्रभावापन्न सम्बन्धों की शिथिलता की कहानी है। लेखक ने एक प्रकार से इसमें यह प्रस्थापित करना चाहा है कि अर्थ पर आकर सारे सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। दो भाइयों की इस कहानी में सम्पन्न भाई द्वारा विपन्न भाई के शोषण का सजीव चित्रण हुआ है। 'एक नदी नर्मदा' वैसे नारी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की कहानी है अवश्य, किन्तु इस अन्तर्द्वन्द्व की मूल भूमि व्यक्ति-सम्बन्ध ही है। सम्बन्धों की टूटन कभी-कभी व्यक्ति को बहुत अकेला, हताश और जड़ बनाकर छोड़ देती है। नर्मदा की भाँति जहाँ इस कथा-नायिका का ठण्डापन कहानी की रचना-प्रक्रिया को गति देता है, वहीं इसकी करुण परिणति अन्ततः सम्बन्धों की शिथिलता को रूपायित कर जाती है। इसी रूपायन में नारी के मानसिक उद्वेगों को जिस स्तर पर अभिव्यक्ति मिली है, वे इस कथा की सफलता और संवेदना में नये आयाम जोड़ देते हैं। 'एक नदी नर्मदा' में जिस प्रकार स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की शिथिलता प्रतिष्ठित हुई है, उसी प्रकार 'अनबीता अतीत' [दिनेश पालीवाल] में परस्पर रिश्तों के टूटने और तड़कने की स्थितियों का मार्मिक चित्रण है। 'राख' [प्रतिमा वर्मा] में यह टूटन पति-पत्नी के सम्बन्धों की शिथिलता के रूप में प्रस्तुत की गयी है। सम्बन्धों का यह शैथिल्य पारिवारिक, आर्थिक, परिवेशगत तथा मानसिक—कई स्तरों पर व्यक्त होता है। आज के मशीनी और बौद्धिक जीवन के मध्य समग्र जीवन में किसी न किसी बिन्दु पर टूटने की एक प्रक्रिया चल रही है जिसका प्रभाव सम्बन्धों पर भी प्रचुर मात्रा में पड़ा है। इसी सन्दर्भ में मिथिलेश्वर की 'रात अभी बाकी है' भी द्रष्टव्य है। यह कहानी सामान्य वर्ग के यथार्थ जीवन को कई स्तरों पर उद्घाटित करती है।

इनमें एक पक्ष सम्बन्धों के बीच आ गयी अवरुद्धता का भी है। वृद्ध पिता अपने ही घर में अपने पुत्रों तथा पुत्र-वधुओं से उपेक्षित है। यद्यपि, उसके मन में आज भी सब के लिए चिन्ता व्याप्त है। इस वर्ग की कहानियों में अचला शर्मा की—'खलनायक' तथा चित्रा मुद्‌गल की 'अग्नि रेखा' विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती हैं। अचला शर्मा के 'खलनायक' में पिता और पुत्र के बीच सम्बन्धों की कोई सौम्यता नहीं रह गयी है। वृद्ध पिता की छोटी-छोटी, सामान्य अपेक्षाओं, आवश्यकताओं को अकसर बेटा संवेदना के स्तर पर अनुभव नहीं कर पाता। आत्मकेन्द्रित मानसिकता से ग्रस्त पुत्र और उसकी पत्नी पिता से तटस्थ रहते-रहते अन्ततः एक दिन उसे अपने यहाँ से निकाल कर चाचा जी के यहाँ भेजने में सफल हो जाते हैं। लेकिन गाड़ी में चढ़ते-चढ़ते भी जब पिता की निश्छल आत्मीयता और अधिकार उसे थप्पड़ की तरह लगते हैं तो बहुत देर तक वह उसकी चुनचुनाहट महसूस करता रह जाता है। 'अग्नि रेखा' में सम्बन्धों की यह टूटन दोहरी प्रासंगिकता बनकर आई है। अब धीरे-धीरे सन्तान के साथ माता-पिता के रिश्तों में वह गरमाहट नहीं रह गयी जो पिछली पीढ़ी का वैशिष्ट्य थी, क्योंकि सभी जगह, सभी कुछ स्वार्थमूलक हो गया है। बेटा अपने घर में नौकरानी को रख सकता है लेकिन माँ को नहीं क्योंकि अवस्था बढ़ जाने पर माँ एक फालतू बोझ के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती। दूसरी ओर पति-पत्नी के बीच किसी तीसरे के आ जाने से भी सम्बन्धों में शिथिलता आने लगती है। मनु की लम्बी बीमारी में उसके साथ रहने के लिए उसकी बहिन शशी आई है—धीरे-धीरे अमरेन्द्र [मनु के पति] और शशी के बीच सम्बन्धों की इस कथा में प्रगाढ़ता मनु को अकेला, उपेक्षित-सा छोड़ जाती है। इस कथा में सम्बन्धों की यह शिथिलता और प्रगाढ़ता परिस्थितिवश ही अधिक है और सामान्य व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों से अधिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को व्यक्त करती है।

□

सम्बन्धों की शिथिलता का कारण कहीं न कहीं आज की शोषक व्यवस्था में खोजा जा सकता है। हिन्दी के रचनात्मक लेखन की समीक्षा के सन्दर्भ में 'व्यवस्था-विरोध' का मुहावरा बहुत प्रचलित है। यहाँ 'व्यवस्था-विरोध' का मतलब शोषक व्यवस्था का विरोध ही है। पिछले दशक से हिन्दी के कथा साहित्य और कतिपय कवियों की रचनाओं में भी 'व्यवस्था-विरोध' के स्वर तेजी से सुनाई पड़ने लगे हैं। इस विरोध के पीछे शोषक शक्तियों के मुखौटों को उभारने का संकल्प अधिक होता है। राजनीतिक शक्तियाँ अपने स्वार्थों में लिप्त रहकर आम आदमी की समस्याओं, आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं से उदासीन हो जाती रही हैं। परिणाम-स्वरूप एक ऐसे वर्ग को मनमानी करने का अवकाश मिलता रहा है जिसके पास राजनीतिक शक्तियों को अपने पक्ष में प्रभावित करने का सामर्थ्य है और सामाजिक

तथा साम्पत्तिक सत्ता से जो सम्पन्न है। स्पष्ट है कि इस वर्ग के द्वारा समाज के दुर्बल पक्ष के दोहन का कार्य बड़े व्यवस्थित तरीके से होता रहा है। आजादी से पहले भी, या यों क्यों न कहें कि सृष्टि के विकास काल से ही एक शक्तिवान वर्ग द्वारा दूसरे निर्बल वर्ग के दोहन की यह प्रवृत्ति और प्रक्रिया चली आयी है। कभी घुड़सवारों और लुटेरों ने सामान्य जनता का दोहन किया, कभी राजाओं ने, कभी सामन्तों ने और आजादी के बाद राजनेताओं और उनके आश्रय में पल रही नौकरशाही ने इस दोहन की परम्परा को जारी रखा है। 1977 में इन पंक्तियों को लिखते समय भी इस दिशा में कोई विवेकपूर्ण कार्य हो रहा हो, ऐसा नहीं लगता।

स्वाभाविक है कि चेतना-सम्पन्न लेखक शोषण की इस व्यवस्था के खिलाफ अपनी आवाज उठायें। क्योंकि हम इस बात को मानकर चलते हैं कि समाज में समता का आकांक्षी सही लेखक हमेशा प्रतिपक्ष का अर्थात् शोषित, पीड़ित और अभावग्रस्त तथा अन्याय सहते आम आदमी का पक्षधर होता है। इसीलिए उसको न्याय दिलाने के लिए, उसको या उसके अधिकारों की जानकारी देने तथा उनको प्राप्त करने की दिशा और प्रेरणा देने के लिए प्रचलित व्यवस्था की असंगतियों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना लेखक का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। यह एक सुखद स्थिति रही है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु और प्रेमचन्द के समय से ही हिन्दी लेखक ने पूरी निष्ठा और ईमानमारी कें साथ अपने इस दायित्व का निर्वाह किया है। और जैसे-जैसे समाज में अन्याय, शोषण तथा नेताओं के कथन और व्यवहार के बीच असंगति बढ़ती गयी है वैसे-वैसे हिन्दी लेखक ने, अपने विरोध को अधिक तीखे, सीधे और प्रभावी ढंग से व्यक्त किया है। 1976 की कहानियों में भी यह व्यवस्था-विरोध अनेक भूमिकाओं पर व्यक्त हुआ है—यद्यपि इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए आपातकाल में अधिक गुंजाइश नहीं थी।

व्यवस्था-विरोध के इस सन्दर्भ में हम 'बन्द रास्तों के बीच' और 'सरे आम' [मिथिलेश्वर; कहानी, अगस्त; तथा सारिका, अक्टूबर], 'श्रीमान जी' [सुभाष पन्त; सारिका, अक्टूबर], 'भूमिका' [शशांक; सारिका, सितम्बर], 'फरिश्ते की मौत' [मनीष राय यादव; सारिका, अप्रैल], 'मालिक का बंदा' [भीष्म साहनी; धर्मयुग, 25 जनवरी] तथा 'सिद्धार्थ का लौटना' [जितेन्द्र भाटिया; सारिका, अक्टूबर] को पहले क्रम में देख सकते हैं। 'बन्द रास्तों के बीच' में जहाँ व्यवस्था द्वारा आम आदमी के लिए सारी सम्भावनाओं को अवरुद्ध करने का षड्यन्त्र है, वहीं उस षड्यन्त्र और अन्याय के विरुद्ध सामान्य-जन के विद्रोह को भी स्वाभाविक रूप से सशक्त अभिव्यक्ति दी गयी है। मिथिलेश्वर ने जैसे इस तथ्य को उजागर करना चाहा है कि अन्याय और शोषण की इस अतिशय दूषित परम्परा को अनिश्चित समय के लिए स्वीकार और सहन नहीं किया जा सकता और एक बिन्दु पर आकर उसका सामना करने के लिए सामान्य-जन को भी तनकर खड़ा होना ही पड़ता है। अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता को बचाने का उसके पास इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं

है। अपनी दूसरी कहानी 'सरे आम' में मिथिलेश्वर ने उस उच्छृंखल व्यवस्था पर उँगली रखी है जहाँ समाज का गुण्डा तत्त्व सरे आम एक कण्डक्टर की हत्या कर देता है और मूक दर्शक उसकी रक्षा करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। यह गुण्डई और अव्यवस्था इसी शोषक और शासक वर्ग की देन है जिसने व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले गिरोह को अपने आस-पास पाल रखा है। शशांक की 'भूमिका' में अन्याय का यह विरोध दूसरे स्तर पर व्यक्त हुआ है। मछली पकड़ने वाला लड़का जब हवलदार के कहने पर बच्चों को मछली नहीं देता है तो इस प्रकार कुव्यवस्था के प्रति एक विद्रोह की भूमिका तैयार होती है। 'अंकुर' [फिल्म] के अन्तिम दृश्य में बच्चे द्वारा जमींदार की हवेली पर पत्थर फेंकने का जो सतही और फिल्मी विद्रोह दिखलाया गया था और यह जताने की कोशिश की गयी थी कि अब मूक और सामान्य जनता में भी शोषक-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की प्रक्रिया अंकुरित होने लगी है, उसे अपेक्षाकृत स्वाभाविक भूमिका और परिप्रेक्ष्य में शशांक ने 'भूमिका' में अभिव्यक्ति दी है। इसके विद्रोह के विपरीत पिछले पृष्ठों में उत्कथित 'रात अभी बाकी है' में शोषक व्यवस्था की मारक शक्ति और अन्यायी हथकण्डों पर लेखक की दृष्टि गयी है। असहाय बूढ़े पिता के बेटे को झूठी चोरी के जुर्म में पुलिस पकड़कर ले जाती है और परिवार और गाँव का कोई व्यक्ति पुलिस की इस ज्यादती का विरोध नहीं कर पाता क्योंकि वहाँ किसी की भी स्थिति मूक पशुओं से अधिक महत्त्व की नहीं है। दूसरी ओर, 'श्रीमान जी' में सुभाष पन्त ने व्यवस्था के पोषकों से सीधे-सीधे दो टूक बातें कही हैं। सम्बोधन की इस शैली का प्रभाव श्रमिक की विवशता को व्यक्त नहीं करता, उसके विद्रोह को रेखांकित करता है। सामान्य वर्ग में निरन्तर शोषण को सहते जाने के कारण, प्रतिक्रियास्वरूप जो चेतना और संकल्पशीलता जागी है, उसका स्पर्श 'श्रीमान जी' में मिलता है। समाज में व्याप्त भ्रष्ट व्यवस्था का उद्घाटन और विरोध मनीष राय की 'फरिश्ते की मौत' में भी दृष्टव्य है। इसी सन्दर्भ में भीष्म साहनी की 'साग मीट' के अतिरिक्त एक और कहानी इस वर्ष प्रकाशित हुई है—'मालिक का बन्दा'। अत्यन्त क्रूर, स्वार्थी किन्तु जनता के सेवक का स्वांग भरे हुए पुलिस संतरी के माध्यम से इस कहानी में लेखक ने धर्म, व्यवस्था, कानून, पुलिस, सब पर इतने सटीक किन्तु अपनी शैली और स्वभाव के अनुकूल शालीन व्यंग्य किये हैं कि यह पाठक के मन को काफी देर तक धीरे-धीरे उद्वेलित करती रहती है। नौकरशाही की सारी सेवाभासी पाशविकता इसमें अत्यन्त प्रभावात्मकता के साथ प्रस्तुत की गयी है। यह शब्द-शब्द लेखकीय जागरूकता और आक्रोश की कहानी है लेकिन सतह पर यह बहुत मामूली और मनोरंजक लग सकती है। यही बाह्य मामूलीपन और अन्तरंग जागरूकता इस कहानी के व्यवस्था-विरोधी महत्त्व को प्रस्थापित करते हैं। 'सिद्धार्थ का लौटना' एक नयी भूमिका पर व्यवस्था-विरोध की ही कहानी है। नायक भले ही पहले अपनी कम्पनी के व्यवस्थापकों के षड्यन्त्र का शिकार हो, प्रोमोशन ले लेता है किन्तु जब कम्पनी में हड़ताल होती है

तो वही स्वयं मैनेजमेंट के खिलाफ पुलिस को सूचना देने को उद्यत होता है क्योंकि वह जान गया है कि यह हड़ताल अन्याय, शोषण और षड्यन्त्र के विरुद्ध की गयी न्यायसंगत हड़ताल है और मालिक-नौकर के इस संघर्ष में उसे किसका पक्ष लेना है।

□

उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त दूसरे-क्रम में उन कहानियों की चर्चा की जा सकती है जो हमने संकलन में ली हैं। ये 'धन्यवाद' [शशिप्रभा शास्त्री; कादम्बिनी, नवम्बर], 'अलग-अलग तीलियाँ' [प्रभु जोशी; धर्मयुग, 7 मार्च], 'व्यवस्था' [शंकर पुणताम्बेकर; सारिका, अक्टूबर 1976 में 'विद्यालय' शीर्षक से प्रकाशित], 'कुछ भी नहीं' [मोहर सिंह यादव; धर्मयुग, 11 अप्रैल], 'साग-मीट' [भीष्म साहनी; धर्मयुग, 31 अक्टूबर], 'लाल लकीर' [विवेकानन्द; कहानी, जुलाई] तथा 'अन्तराल' [मधुकर गंगाधर; सारिका, 1976] हैं।

'धन्यवाद' साहित्य और प्रतिभा की अपेक्षा आर्थिक सम्पन्नता को वरीयता देने की प्रवृत्ति पर कड़ा व्यंग्य प्रस्तुत करती है। एक शैक्षणिक संस्था में सांस्कृतिक कार्यक्रम के उद्घाटन के लिए साहित्यकार को बुला तो लिया जाता है लेकिन निमन्त्रणित सेठों और मैनेजरों के बीच उसकी उपेक्षा, उसी व्यवस्था के भोंडेपन को उद्घाटित करती है जिसके तले आज सामान्य जनता ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से विपन्न देश की प्रतिभा भी उपेक्षित हो रही है। बेशर्मी की इन्तहा तब होती है जब कार्यक्रम के आयोजक प्रोफेसर कैलाश जी आमन्त्रित साहित्यकार निर्दोष जी के सम्मुख, व्यस्तता के बीच भी अपने कार्यक्रम में फैक्ट्री मालिक की उपस्थिति के लिए कृतज्ञता का भाव दिखलाते हैं और उन्हें आश्वासन देते हैं कि उनका (फैक्ट्री मालिक का) भाषण सुनने के लिए उन्हें [निर्दोष जी को] वे एक दिन अवश्य आमन्त्रित करेंगे। जिस समाज के बीच आर्थिक सम्पन्नता ही व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान बन जाती रही हो, वहाँ के प्राध्यापक वर्ग का इतना चापलूस हो जाना और वहाँ के साहित्यकार का इतना अपमान और इतनी उपेक्षा बहुत स्वाभाविक है। समाजवाद से प्रतिबद्ध इस देश में दिन-प्रति-दिन प्रसरित होती हुई इस शोषक व्यवस्था पर 'धन्यवाद' अच्छी टिप्पणी प्रस्तुत करती है। एक भिन्न कोण से 'अलग-अलग तीलियाँ' में सामान्य व्यक्ति के प्रति किये गये अन्याय और प्रतिक्रियास्वरूप उसके आक्रोश को अभिव्यक्ति मिली है। व्यवस्था द्वारा व्यक्ति की अपने जीवन-निर्वाह की अत्यन्त न्यायसंगत आकांक्षा को वस्तुपरकता के साथ यथार्थ की भूमिका पर रेखांकित किया है। लेखक की रचना-क्षमता कस्बई परिवेश की समस्याओं, वैषम्य और अन्याय को तो अभिव्यक्ति देती ही है, व्यक्ति-जीवन की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बीच इस व्यवस्था में धीरे-धीरे सुलग रहे आक्रोश का भी उद्घाटन करती है। सहनशील व्यक्ति में भी

एक बिन्दु पर आकर अपनी दबी हुई आग को हवा देने की शक्ति आ जाती है। इस कहानी का कम्मू पेन्टर उसी शक्ति का वाहक बनकर प्रस्तुत हुआ है, जो अपने अधिकार के लिए अब अन्तिम निर्णय तक संघर्ष करने के लिए उठ खड़ा होता है। शंकर पुणताम्बेकर की लघु कथा 'व्यवस्था' इस शोषक व्यवस्था में पीड़ित और विवश बन गये व्यक्ति की ही नहीं, बल्कि पीढ़ियों की करुणा-गाथा है। यहाँ दो जून रोटी प्राप्त करने के लिए अध्यापक को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी अस्मिता बेच देनी पड़ती है और अन्याय को अन्याय जानकर भी उसे व्यवहार में लाने की विवशता को आदत बनाकर पालना पड़ता है। शोषण और अन्याय की यह व्यवस्था किस तरह हमारे समाज में गहरे उतर गयी है, इसका अत्यन्त संवेदनशील भूमिका पर व्यंग्यात्मक अन्दाज में चित्रण 'व्यवस्था' का वैशिष्ट्य है। यह ऐसी व्यवस्था है जहाँ विद्यालय में सम्पन्न घर के विद्यार्थियों की गलती पर गरीब बच्चों का पिटना परोपकार समझा जाता है। और 'परोपकार' की यह परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। बहुत कम शब्दों में व्यवस्था के इस 'नंगेपन का प्रभावी चित्रण' ही इस लघु-कथा की उपलब्धि है।

प्रतिभा-सम्पन्न शिक्षित मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी समस्त नेकनीयती, सच्चरित्रता, लगन, परिश्रम और ईमानदारी के बीच भी, किसी 'गॉड फादर' के अभाव में किस प्रकार व्यवस्था के सीखचों से टकरा-टकरा कर 'लापता' हो जाता है, इतना अत्यन्त कुशल चित्रण 'कुछ भी नहीं' में हुआ है। अपनी इतनी विशिष्टताओं के पश्चात् भी वह 'कुछ भी नहीं' बन पाता और इस व्यवस्था में 'अनुशासनहीन संशयात्मक, अविश्वसनीय, अनिष्टकारी और अवांछनीय' समझा जाता है। भ्रष्ट-व्यवस्था में सही व्यक्ति के लिए किस प्रकार अनेकों अवरोध उत्पन्न कर दिये जाते हैं और किस प्रकार उसकी प्रगति के रास्ते में चट्टानें खड़ी कर दी जाती हैं—इसका यथार्थ चित्रण 'कुछ भी नहीं' का केन्द्रीय कथ्य है। इस व्यवस्था में ईमानदार का मतलब कायर होता है और चरित्रवान् का पौरुषहीन—और सचमुच इस व्यवस्था के अनुकूल न बन सकने पर व्यक्ति का भविष्य ही नहीं, उसका जीवन भी संदिग्ध बन जाता है। व्यवस्था के पाखण्ड और उसकी कुटिलता पर यह रचना अच्छा प्रहार करती है। व्यवस्था पर शालीन किन्तु तीखे व्यंग्य की दृष्टि से भीष्म साहनी की 'साग मीट' एक अत्यन्त सशक्त रचना है। जहाँ विपन्न व्यक्ति हमेशा सम्पन्न लोगों का 'साग मीट' बनते रहने के लिए विवश है। साथ ही इस कहानी में सम्पन्न वर्ग की जिस फूहड़ता को चित्रित किया गया है, एक नयी मनोरंजक शैली में, वह भीष्म साहनी की सार्थक और सशक्त प्रयोगधर्मिता का प्रमाण भी प्रस्तुत करती है। शिल्प की ताजगी और नवीनता के सम्पूर्ण निर्वाह ने इस व्यंग्य को और भी चोखा बना दिया है।

व्यवस्था-विरोध की एक और कहानी है नवोदित कथाकार विवेकानन्द की 'लाल लकीर'। ग्राम परिवेश को केन्द्र में रखकर कही गयी इस कथा में सरकार

द्वारा अत्यधिक प्रचारित सहकारी संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार को सक्षम अभिव्यक्ति मिली है। वहाँ खाद में मिलावट की जाती है; अमोनिया सल्फेट में नमक मिला दिया जाता है, यूरिया में साबूदाने और डाई-अमोनियम में खेसारी के दाने मिला दिये जाते हैं। इस भ्रष्टाचार का भण्डाफोड करने वाले मँगरा का सर व्यवस्था के पोषक उसके ही चाचा द्वारा फोड़ दिया जाता है। व्यवस्था का विरोध करने वाले को जैसे इस विद्रोह का मूल्य अपने खून से चुकाना पड़ता है। कहानी यहाँ पर अवश्य समाप्त हो जाती है किन्तु क्या वास्तव में यह यहीं पर समाप्त हो जाती है—यह प्रश्न पाठक को देर तक चिन्तनाकुल रखता है। यह कहानी अन्ततः यह ध्वनित करती हुई प्रतीत होती है कि वर्तमान अन्यायपूर्ण और शोषक व्यवस्था के विरुद्ध जाने में व्यक्ति को अपना खून भी देना पड़ सकता है—और उसके लिए चेतना सम्पन्न और न्याय के आकांक्षी नवयुवक वर्ग को तैयार रहना चाहिए। इस वर्तमान व्यवस्था में रहते-रहते एक आदर्शवादी व्यक्ति की अन्तिम परिणति कितनी क्रूर, भयावह और भ्रष्ट हो जाती है, इस तथ्य को प्रणय की भूमिका पर मनोवैज्ञानिक कथाओं के शिल्प के बहाने मधुकर गंगाधर ने 'अन्तराल' में सफलता से उठाया है। भले ही यह 'व्यवस्था विरोध' की कहानी न हो, लेकिन व्यवस्था के बीच असंगति उत्पन्न करने वाले तत्त्वों की अप्रत्यक्ष ध्वनि तो इससे निकलती ही है। आखिर वे कौनसी स्थितियाँ थीं कि एक आदर्शवादी प्रेमी और आज्ञाकारी पुत्र पच्चीस वर्षों के अन्तराल में इतना लम्पट बन गया कि उसने अपने मित्र की हत्या करके उसकी पत्नी और सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर लिया। इसमें व्यक्ति-विशेष की वैयक्तिक मानसिकता प्रमुख हो सकती है, लेकिन एक विशिष्ट मानसिकता, विशिष्ट प्रकार के परिवेश में ही आकार ग्रहण करती है। शिल्प की दृष्टि से भी यह कहानी विशिष्ट कही जा सकती है, लेकिन शिल्प अपनी समस्त समर्थता में भी इसके कथ्य को धुँधला नहीं पाता।

□

पिछले वर्षों की भाँति इस वर्ष भी व्यक्ति-जीवन में बढ़ते हुए अकेलेपन और इससे सम्बद्ध असुरक्षा की भावना पर कतिपय कहानियाँ लिखी गयी हैं। महानगरीय सभ्यता के विकास ने अकेलेपन की इस भावना को बढ़ाया है। अर्थ-प्रधान सम्बन्धों की भाँति अकेलेपन और असुरक्षा का यह भाव आत्मकेन्द्रिकता की प्रवृत्ति से प्रसूत है। दिनेश पालीवाल की 'छूटा हुआ कुछ' [धर्मयुग, 25 अप्रैल], भीष्म साहनी की 'ओ हरामजादे' [सारिका, सितम्बर] और शान्ता सिन्हा की 'एक टुकड़ा धूप' [माया, फरवरी] व्यक्ति के अकेलेपन को विभिन्न कोणों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने वाली रचनाएँ हैं। 'छूटा हुआ कुछ' में व्यक्ति के अकेलेपन और उसके बीच में आये हुए समाज की समस्या चित्रित हुई है तो 'ओ हरामजादे' में एक प्रवासी भारतीय की अकेलेपन की समस्या से उत्पन्न पीड़ा को तो अभिव्यक्ति मिली ही है; साथ ही, अपनी

धरती की गन्ध के प्रति उसका अगाध प्रेम, और अपनत्व भी प्रकट हुआ है और अपने लोगों से मिलने, बोलने की एक अकुलाहट और छटपटाहट भी। सभी प्रकार से मानवीय संवेदना के स्तर पर लिखी गयी यह रचना पाठक को बहुत समय के लिए गहरी आत्मीयता के लोक में ले जाती है। इसके विपरीत 'एक टुकड़ा धूप' मूलतः रोमान्टिक रचना है लेकिन साथ ही यह व्यस्त पति की हमेशा अकेली रह जाने वाली पत्नी की मानसिक व्यथा को भी उजागर करने में सफल है।

प्रस्तुत संकलन में भी अकेलेपन और असुरक्षा की भावना को रूपायित करने वाली तीन रचनाएँ रखी गयी हैं। निर्मल वर्मा की 'दूसरी दुनिया' [धर्मयुग, 4 जनवरी], सुधा अरोड़ा की 'दहलीज पर संवाद' [सारिका, नवम्बर] तथा आशीष सिन्हा की 'आकाश गंगा' [साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 8 अगस्त]। कथ्य की दृष्टि से ये तीनों रचनाएँ भी परस्पर भिन्न आयामों का स्पर्श करती हैं। अपने लंदन प्रवास के दौरान गरीबी के दिनों में 'मैं' के अकेलेपन और बेरोजगारी की चपेट के बीच एक अबोध बालिका से परिचय और आत्मीयता की मर्मस्पर्शी कथा 'दूसरी दुनिया' में कही गई है। पार्क की खाली बेंच पर बैठे हुए 'मैं' के लिए अपने अकेलेपन के क्षणों में वह नन्हीं बालिका एक उजास बनकर आती है—और उसके साथ खेलते हुए अभावों और अकेलेपन का उसका संसार सिमट कर छोटा होने लगता है। एक शिक्षित और बेकार व्यक्ति का अपना समय बिताने के लिए एक नन्हीं-सी स्कूल जाती बच्ची के साथ रमना कितना मर्मस्पर्शी हो जाता है। फिर यह बच्ची भी तो अकेली है। स्कूल से छूटने के बाद वह इस पार्क में आ जाती है और पास के अस्पताल में काम करने वाली अपनी नर्स माँ की छुट्टी की प्रतीक्षा में 'मैं' के साथ खेलती-फिरती रहती है। दो अकेले, जिनमें आयु, परिवेश, संस्कार और मानसिकता के सन्दर्भ में कुछ भी समान नहीं है, इस अकेलेपन को लेकर समान और परिचित हो जाते हैं और इस प्रकार अकेलेपन की संज्ञा से राहत पाते हैं। फिर वर्षों बीतने के पश्चात् जब सम्पन्न बना हुआ 'मैं' इस उम्मीद से कि शायद वह बच्ची फिर से वहाँ मिल जाये, एक दिन पार्क में आता है तो बच्ची वहाँ नहीं मिलती, बस उसके साथ खेले गये छोटे-छोटे बाल-सुलभ खेलों की स्मृति पूरे वातावरण में बिखरी मिलती है। 'मैं' वहाँ बैठा हुआ रह जाता है जब तक चौकीदार उसे पार्क के बन्द करने के समय की सूचना देने नहीं आ जाता। बेंच से उठकर बाहर आते हुए एक बार 'मैं' अपने को फिर बिलकुल अकेला महसूस करता है।

मूलतः मानवीय संवेदना और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर लिखी गयी यह कहानी मानसिक अकेलेपन को बिन्दु-बिन्दु रेखांकित करने वाली अत्यन्त सफल और सक्षम रचना है जो पाठक को अपने साथ दूर तक बहा ले जाती है। अकेलेपन की यह मानसिकता प्रवासी जीवन से प्रसूत न होकर, एक विशेष मनःस्थिति से उत्पन्न हुई लगती है और यह विशेष मनःस्थिति किसी के भी साथ, कहीं भी जुड़ सकती है। इसके विपरीत 'दहलीज पर संवाद' वृद्ध और अकेले पड़ जाने वाले 'माता-पिता'

के एकाकीपन को अत्यन्त सहजता और मार्मिकता के साथ व्यक्त करती है। अपने पुत्र, पुत्रवधू और नाती को स्टेशन पर छोड़कर माता-पिता रात को घर लौट रहे हैं। पिता के मन-प्राणों पर मारक खालीपन घिरा हुआ है और उन्हें यह अहसास बार-बार होता है कि वे न इधर हैं, न उधर। खालीपन, अपने से और अपने परिवेश से ऊब और अपनी निरर्थकता का उहसास उस अकेलेपन के बीच उन्हें झिंझोड़ रहा है। बच्चे कुछ दिन उनके साथ रहकर वापिस चले गये हैं। उनके पास कोई काम नहीं रह गया है। फिर भी उन्हें शान्ति नहीं है। रात के उस अंधेरे में अलग-अलग चारपाइयों पर साँसे उठती-गिरती रहती हैं। ऊपर छत पर धूल-सना, मैला पंखा धुँवला, और धुँधला हो जाता है। दूर कहीं दो का घण्टा बजता है तो अंधेरेदार सन्नाटा यों काँपता है जैसे कोई अधमरी चीज हवा में उल्टी लटक रही हो। स्पष्टतः यह अहसास अपने अकेलेपन और उससे उत्पन्न अपने निरर्थकता बोध का है जिसे सुधा ने अपने शिल्प से और भी सहज और विश्वसनीय बना दिया है। इसी सन्दर्भ में आशीष सिन्हा की 'आकाश-गंगा' भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन पड़ी है। यद्यपि अन्तिम पंक्तियों में यह अपने रचना-विधान में थोड़ी काव्यात्मक हो गयी है, फिर भी जिस मनोवैज्ञानिक भूमिका से कथ्य को उठाया गया है और जिस निस्संगता से उसे वास्तविक जीवन के साथ सम्बद्ध किया गया है, वह व्यक्ति की उपेक्षा की दुख-गाथा ही न रहकर उसके नितान्त अकेले पड़ जाने और निरर्थक हो जाने के अहसास को भी व्यक्त करती है। पूरी जिन्दगी एक सुखी और शान्त जीवन जीने के लिए परिश्रम और प्रयास करने के पश्चात् जब व्यक्ति पाता है कि उसके अधूरे बने घर में उसके लड़के आवारा निकल गये हैं, और बेटी चरित्रहीन हो गयी है, उसकी कहीं कोई नहीं सुनता, सब जगह से उसे ही उपेक्षा और अवमानना सहनी है और वह सब जगह हारता और जलील ही होता आया है तो वह भरे घर में भी अपने को अकेला महसूस करने लगता है। अकेलापन और उपेक्षा एक बिन्दु पर आकर बड़ी पीड़ित करने वाली बन जाती है। तब ऐसी स्थिति से उभरने का उसके पास केवल एक ही रास्ता बचा रहता है कि वह इस स्थिति से छिटककर दूर हो जाय और अपने को सभी अर्जित सम्बन्धों से एकबारगी ही काट ले। गनीमत है कि उसके इस निर्णय में उसकी पत्नी उसका साथ देती है क्योंकि वह भी तो समान रूप से उपेक्षित है और अकेली है। भले ही उसने अपनी इस पीड़ा को चुपचाप सहा है और उसे कोई अभिव्यक्ति नहीं दी है। लेकिन अविवाहित पुत्री का गर्भ धारण करना वह नहीं सह पाती। उसके लिए भी इस पूरी स्थिति से मुक्ति का यही एक रास्ता रह गया है कि वह जीवन की इस अन्तिम बेला में अपने पति की अनुगामिनी हो। मार्मिकता की दृष्टि से तो यह कहानी मन को छूती ही है, लेकिन उस व्यवस्था के प्रति आक्रोश भी उत्पन्न करती है जहाँ अपनी समस्त ईमानदारी, परिश्रम और आत्मीयता के बावजूद व्यक्ति इतना निरीह, उपेक्षित और अकेला हो जाता है।

□

उपर्युक्त आर्थिक-सामाजिक और व्यवस्था-सम्बन्धी रचनाओं के अतिरिक्त 1976 में वैयक्तिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को रूपायित करने वाली, स्थूल और रोमांटिक तथा नारी की वस्तुस्थिति तथा अनेक सन्दर्भों में व्यक्त उसके अन्तर्द्वन्द्व की भी कतिपय रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं। इस सन्दर्भ में यह दृष्टव्य है कि ऐसे रचनाकारों में या तो अधिकांश नये हैं या वे हैं जिनकी क्षमता व्यक्ति के रोमांटिक पक्ष के स्थूल निरूपण से आगे नहीं जा पाती। 'समय के टुकड़े' और 'अँगूठी' [ईश्वर सिंह सिहल; कहानी, फरवरी और मई] स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को केन्द्र में रखकर लिखी गई रचनाएँ हैं। दूसरी ओर 'आकाश नील' [मेहरुन्निसा परवेज; धर्मयुग, 21 मार्च], 'अपहरण' [कमल जोशी; धर्मयुग, 30 मई], 'कब तक' [हृदय लानी, सारिका, जनवरी] तथा 'टू इन वन' [रमेश गुप्त; धर्मयुग, 8 अगस्त] स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में नारी मनोविज्ञान को निरूपित करती हैं। इसी सन्दर्भ में जहाँ 'बन्ध-छवि' [नरेश मेहता; माया, जुलाई] में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को रूमानी अन्दाज में अभिव्यक्ति मिली है और जहाँ दिनचर्या [राकेश वत्स; धर्मयुग, 25 जुलाई] में नारी स्थिति के यथार्थ का निरूपण हुआ है, वहाँ 'देह-गन्ध' [दीप्ति खण्डेलवाल; माया, जुलाई] मनोवैज्ञानिक कहानी का आभास देते हुए भी मूलतः स्थूल माँसलता से आगे नहीं बढ़ पाती। 'समय के टुकड़े' प्रणय के त्रिकोण की शाश्वत गाथा है किन्तु 'अँगूठी' में पुरुष पक्ष की मानसिक पीड़ा की संवेदनात्मक प्रस्तुति कहानी को एक नया आयाम देती है; वैसे संध्या की करुणा भी मन को छूती है। तरु के माध्यम से नारी की मूक वेदना को मेहरुन्निसा परवेज ने 'आकाश नील' में अत्यन्त सफल अभिव्यक्ति दी है। लेकिन एक बात है। परवेज की अन्य रचनाओं की भाँति इस कहानी में भी नारी मनःस्थिति का निरूपण करते हुए लेखिका ने बड़े सहज भाव से नारी की गरिमा को प्रतिष्ठित किया है। यह प्रतिष्ठा ही उसके लेखन की महिमा को रेखांकित करती है। यह ठीक है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में नारी के भाग में उपेक्षा, दुर्भाग्य, तनाव और संघर्ष ही अधिक आये हैं। हमारा सामाजिक ढाँचा ही ऐसा है, जहाँ उसे ही सबसे अधिक सहन करना पड़ता है, लेकिन इतना सब सहने के बाद भी वह अपनी अस्मिता को बनाये रखती है, यह बड़ी बात है। इसी आदर्श को मेहरुन्निसा की अनेक रचनाएँ प्रतिष्ठित करती रही हैं। 'आकाश नील' का भी इसी दृष्टि से अधिक महत्त्व है। असामान्य मनोविज्ञान और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की दृष्टि से कमल जोशी की 'अपहरण' एक सशक्त रचना है। अपने ट्यूशन के अध्यापक और प्रेमी दीपक वर्मा तथा पति अजय के बीच सोमा का जीवन है जो दीपक वर्मा को अपना शरीर देकर भी उससे विवाह की आतुरता नहीं दिखलाती और अजय से विवाह के बाद भी दीपक से बड़ी सहज मानसिकता के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाये रखती है। दीपक से ही उसे पुत्र भी प्राप्त होते हैं लेकिन अपने पति अजय की मृत्यु के पश्चात् वह दीपक को अपने यहाँ आने से रोक देती है। दीपक जो अपने को अभी तक अपहरणकर्त्ता माने बैठा था, अपने जीवन की प्रौढ़ि

पर पहुँच कर अपहृत हुआ रह जाता है। स्पष्ट है कि सोमा के इस असामान्य मनोविज्ञान और निश्चय के पीछे सामाजिक संगति का तकाजा विशिष्ट है। इससे भिन्न मानसिक भूमिका पर हृदय लानी की 'कब तक' को देखा जा सकता है। यह कहानी सामाजिक जीवन के चौबच्चे की भी है, नारी स्थिति की भी और विवश से विवश नारी के मन में एक पारिवारिक जीवन जीने की आकांक्षा की भी। एड़ी वेश्याओं के परिवेश में जीती हुई भी वैवाहिक जीवन जीने का फैसला करती है। राजस्थानी छोकरी जिसको यहाँ, नारी-देहों के इस नरक में ले आया गया है, पैसे के लिए सब मरदों के साथ सोने का विरोध करती है। उसके विरोध में एड़ी के मन को विगलित करने की क्षमता है। इसलिए उसके पक्ष-समर्थन में एड़ी की उँगलियाँ अपनी सखी-बहिन सुन्दरी की गर्दन पर कसती चली जाती हैं। और वह आवेग और आवेश के इस क्षण में अपनी माँ के साथ हुए विवाद की स्मृति कर बैठती है—हाँ, हाँ····तू रंडी है, औरत नहीं····बोल किसकी औरत है तू ? पीरभाय अली भाय की····जिसको तू मेरा बाप बोलती····किदर है वो····तू किसी की औरत होती तो उसके घर में होती····इधर कमाठीपुरा के बाजार में खटिया नहीं चलाती होती····तू औरत होती तो मेरे को····अपनी छोकरी को धन्धा करने को नईं बोलती····बोल किदर से औरत है तू····?'

इस परिवेश से बाहर पारिवारिक जीवन के बीच माँ और पत्नी समझी जानेवाली नारी की दयनीय स्थिति का चित्रण राकेश वत्स की 'दिनचर्या' में बड़ी मार्मिकता के साथ हुआ है। आज भी परम्पराओं का पोषक पुरुष-वर्ग यही मानकर चलता है कि 'औरत की मुक्ति सिर्फ इस बात में है कि वह मशीन बन जाये और भावनाहीन मशीन बनकर घर का कामकाज सम्भाले।' वैसे दिनभर खपने के बाद भी उसे क्या मिलता है—सिर्फ दो रोटी और उतरे हुए चिथड़े। इस कहानी का छोटा बेटा जो शिक्षित होकर भी बेकार है और घर में उपेक्षित है, माँ को समझाना चाहता है कि वह 'सिर्फ एक गुलाम है, अपने पति की, अपने बेटे और बहू की, अपनी बेबसी की और इस समाज की, जिसने औरत की मजबूरियों का चुन-चुन कर फायदा उठाया है।'

दूसरी ओर, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के सन्दर्भ में नारी अन्तर्द्वन्द्व को रूपायित करने वाली एक और अच्छी कहानी इस वर्ष प्रकाश में आयी है, रमेश गुप्त की 'टू इन वन'। 28 वर्षीय शिल्पा का विवाह 19 वर्षीय सुमित के साथ हो जाता है। 40 वर्ष की आयु में सुमित की माता की असामयिक मृत्यु से उत्पन्न रिक्तता को उसकी उपस्थिति भरती है। सुमित के बाबू 48 वर्ष के हैं। सुमित बच्चा है, उसकी बातें बचकानी हैं। शिल्पा ने अपनी पारिवारिक स्थिति और अपनी चार छोटी बहनों के भविष्य के साथ समझौता किया है यह विवाह करके। पति-पत्नी के बीच वैचारिक समता का कहीं दूर तक नाम नहीं। वह सुमित और उसकी छोटी बहिन के लिए पत्नी और भाभी भी होकर आयी है और माँ भी····शिल्पा को लगता है कि जैसे वह बनवास की विभीषिका को भोगते हुए बस रथ के साथ-साथ भाग रही है। उसके लिए

जीवन की मिठास विवाह के एक महीने के भीतर ही कसैली अनुभूति बनकर रह गयी है। अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत मन्नू भण्डारी की 'त्रिशंकु' की ममी में भी अपनी बेटी की स्वतन्त्रता को लेकर एक असमंजस की स्थिति का अत्यन्त वास्तविक और सहज अंकन हुआ है। ममी ने स्वयं नाना की मरजी के विरुद्ध अपनी इच्छा से अपना विवाह किया था लेकिन इस तरह की कोई स्वतन्त्रता वह अपनी ही बेटी को नहीं दे पा रही है, साथ ही नाना का-सा स्पष्ट विरोध भी उसमें नहीं है। आधुनिक बनी हुई नारी के स्वकेन्द्रित मनोविज्ञान का हृदयग्राही और साथ ही आधुनिक दीखने की अपेक्षा का मर्मस्पर्शी चित्रण इस कहानी का वैशिष्ट्य है।

नरेश मेहता की 'बन्ध छवि' वैसे शिल्प की दृष्टि से विशिष्ट कृति है लेकिन इसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को आधुनिक बोध की भूमिका पर प्रस्तुत करने का प्रयास भी हुआ है। निशीथ माधवी का पति है। और तापस निशीथ का मित्र। समुद्र में नहाते हुए निशीथ दुर्घटना का शिकार हो जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। निशीथ की मृत्यु का आकस्मिक समाचार सुनकर तापस अपनी संवेदना प्रकट करने के लिए माधवी के पास आता है····और रोमांटिक भाषा-जालों के बीच माधवी तापस के पार्श्व में आकर उस क्षण को आलोकित करती खड़ी हो जाती है जहाँ भावनाओं को भाषा का स्वरूप प्रदान करना कोई अर्थ नहीं रखता। आधुनिक नारी के आधुनिक चिन्तन की यह कथा आकर्षक हो सकती थी यदि शिल्पगत बोझिलता इसमें नहीं होती। लेकिन शिल्पगत भारीपन ही कहानी को अनाकर्षक और कृत्रिम बनाता हो, यह बात नहीं है। सामाजिक परिवेश से कटकर अपनी वैयक्तिक कुंठाओं को रचनात्मक विधा के रूप में प्रस्तुत करने से भी रचना के निरर्थक होने का खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसका प्रमाण हमें दीप्ति खण्डेलवाल की 'देह गन्ध' में और अच्छी तरह से मिलता है। दीप्ति में प्रणय तो होता ही है, पूरी गृहस्थी भी होती है—अर्थात् प्रेमियों के माता-पिता, साड़ी की किस्में, उनके छापे, कपड़े की किस्म, किसी का संघर्ष, किसी की मृत्यु····गदराया यौवन, और शरीरों की चिपकन····। 'देहगन्ध' में यह सब कुछ अपनी सम्पूर्ण स्थूलता के साथ विद्यमान है। और विद्यमान है लच्छेदार रोमांटिक भाषा और रुग्ण तथा कुंठित मानसिकता। 'देह गन्ध' से ही उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. नारी किसी पुष्प-सी खिलती है। पुरुष उस पर भौंरे-सा मँडराता है, रस पीता है, उड़ जाता है।
2. हाँ, तो तुमने मेरे मजनूंत्व को अपनी वंकिम चितवन से जगा दिया था। वे पुष्प-धन्वा के फूलों के शर थे न।
3. वैसे जब अमराई में आम गदराते हैं तो अमराई सुगन्ध से सरोबार हो उठती है। कभी मुझे तुम्हारी देह-से महकती हुई अमराई की-सी सुगन्ध आती लगी थी, किन्तु आज लग रहा था कि वे आम गदराये नहीं, सड़ गये हैं।

4. याद आया, वर्षों पूर्व तुम्हारी ब्रा ढीली करते हुए तुम्हारे वक्ष को हाथों में भरते, कालिदास की शकुन्तला का वह प्रसंग याद आ गया था, जब यौवन भार से बोझिल हो उठी शकुन्तला ने अपनी सखी से कहा था—'तनिक यह चोली ढीली कर दो सखी····।'

इन वाक्यांशों और संवादों से लेखिका का अन्तर्जगत बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। बचाव के लिए कहा जा सकता है कि रचनाशीलता के लिए प्रणय एक शाश्वत प्रसंग है। ठीक है, लेकिन शाश्वत होते हुए भी प्रणय का विवेचन और उसकी अर्थवत्ता योग्य सामयिक सन्दर्भों से समन्वित होकर ही ग्राह्य हो सकती है। फरवरी 76 में प्रकाशित यह कहानी एक समर्थ लेखिका द्वारा अपने परिवेश के प्रति अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे रखने की जिद का ही प्रमाण दे पाती है। वैसे भी, आज की हिन्दी कहानी का स्वर इतना स्थूल, एकान्तिक और सामाजिक सन्दर्भों से कटा हुआ नहीं रह गया है। शुक्र है कि इस प्रकार की शब्द-केलि और कुंठित-निरर्थक प्रसंग बहुत-बहुत कम रचनाकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके हैं।

□

उपर्युक्त स्थूल रोमांटिक मानसिकता से परे होकर व्यवस्था पर सीधे प्रहार करते हुए जन-चेतना से समन्वित रचनाशीलता को आकार देना यद्यपि आपात्काल में दुष्कर था, फिर भी कतिपय कहानीकारों ने इस दिशा में पर्याप्त साहस दिखलाया है। रमेश उपाध्याय की 'देवीसिंह कौन' तथा दिनेश पालीवाला की 'लीला' इस दृष्टि से इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। 'देवीसिंह कौन' एक ऐसे ईमानदार श्रमिक की कहानी है जो काम भी करता है, जिसमें मालिकों से टक्कर लेने की क्षमता भी है और जो अपने मजदूर-वर्ग में इतना लोकप्रिय है कि जब उसे मारने का षड्यन्त्र रचा जाता है तो जासूसी करने वाले के पास आकर प्रत्येक मजदूर आकर कहता है—'मुझे मारना, देवीसिंह मैं हूँ।' लेखक ने बहुत सीधी-सच्ची भाषा में इस कहानी के द्वारा यह प्रतिष्ठित करना चाहा है कि मजदूर-वर्ग की एकता और सही तथा ईमानदार नेतृत्व ही उन्हें उनके मालिकों के शोषण से मुक्ति दिला सकता है। जन-चेतना की यह कथा एक यथार्थ और साथ ही अत्यन्त उदात्त भूमिका पर पाठक को प्रभावित कर ले जाती है। ग्राम्य परिप्रेक्ष्य में कथ्य को उठाकर 'लीला' में लेखक ने ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार पर उँगली रखी है। वहाँ की स्थिति तो यह है कि 'पंचों, सरपंचों और प्रधानों ने जेबों की जगह थैले और बोरे लटका रखे हैं। सरकार से ग्राम पंचायतों के पास विकास कार्यों के लिए पैसा आता जरूर है लेकिन वह प्रधान जी की बिटिया की शादी में खर्च हो जाता है। गरीब व्यक्ति [सीताराम] तो यहाँ लीला [रामलीला] में ही रावण बनता है—नकली रावण, लेकिन असली रावण तो यहाँ न जाने क्या-क्या कहर ढाया करते हैं और कोई राम

उनका वध नहीं करता । न जाने कितनी सीताओं को यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं···· । और जो भी जटायु उन्हें इन रावणी पंजों से छुड़ाने का प्रयत्न करता है, उसे ही मार कर हटा दिया जाता है···· ।'

लेकिन साथ ही लेखक को यह विश्वास भी है कि शोषण और अन्याय पर आधारित यह व्यवस्था हमेशा बनी रहने वाली नहीं है। उसे विश्वास है कि वक्त सबका इलाज करेगा । अभी ये सताये हुए भोले-भाले लोग सिर्फ लीला या नाटक कर रहे हैं। यह स्पष्ट है कि 'इन गरीबों में राम ही नहीं, रावण तक का पार्ट करने वाले लोग भी भले और सच्चरित्र आदमी हैं । अभी तो ये सिर्फ लीला दिखा रहे हैं और लीला कर रहे हैं । लेकिन जल्दी ही यह लोग अपनी भुजाओं की शक्ति पहचानेंगे···· । समझेंगे, कि वह सिर्फ राम का पार्ट करने के लिए ही नहीं हैं···· । वे सचमुच बलवान हैं । उनकी भुजाओं में शक्ति है । पीछे चलने वालों का बल है । और तब देखना····यह शाह जैसे दुष्ट और सचमुच के राक्षस····रावण····इनसे बचकर नहीं निकल सकते। यह लोग उन्हें उनकी सोने की लंकाओं में दफना देंगे । देख लेना । यह समय की धारा है, और इस धारा को कोई अब रोक नहीं सकता ।' मार्च 1976 [माया] में प्रकाशित यह कहानी सामयिक यथार्थ को तो पूरी प्रखरता के साथ प्रस्तुत करती ही है, भविष्य के लिए सही भविष्यवाणी भी कर देती है ।

'लीला' के अतिरिक्त ग्राम्य परिवेश पर कुछ अन्य कहानियाँ भी लिखी गयी हैं । इनमें रामानन्द की 'सर्वहारा' [कहानी, जनवरी], सच्चिदानन्द धूमकेतु की 'छिपे हुए हाथ' [सारिका, दिसम्बर], मिथिलेश्वर की 'रात अभी बाकी है' [प्रगतिशील समाज, नवम्बर] तथा विवेकानन्द की 'लाल लकीर' [कहानी, जुलाई] विशिष्ट हैं । 'सर्वहारा' में गाँव में बसने वाले सामान्य वर्ग के दुख-दर्दों, अभावों और उनकी समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है । सर्वहारा' वस्तुतः सर्वहारा वर्ग के जीवन का पोर्ट्रेट है जिसमें इस वर्ग के विवश जीवन की यातनाओं का अंकन यथार्थ दृष्टि से किया गया है । इसके विपरीत 'छिपे हुए हाथ' में ग्राम्य जीवन में व्याप्त उस ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का अंकन हुआ है जिसके कारण दो भाइयों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया जाता है । लेखक ने कहना चाहा है कि इस शोषक व्यवस्था में कुछ छिपे हुए हाथ हमेशा जीवन को कलुषित और विघटित करने के षड्यन्त्र में लगे रहते हैं । छंगुरी के विरुद्ध गाँव के सब लोगों का षड्यन्त्र इसी मनोवृत्ति को उद्घाटित करता है । दूसरी ओर मिथिलेश्वर की 'रात अभी बाकी है' व्यवस्था के शोषण, अन्याय और क्रूरता को रेखांकित करती है । गाँवों के अभावग्रस्त, चिन्ताओं से घिरे हुए पारिवारिक जीवन की सौम्यता से विच्छिन्न, उदास, उपेक्षित और साथ ही पुलिस के अत्याचारों से पीड़ित जीवन और परिवेश को पूरी संजीदगी के साथ प्रस्तुत करने के सन्दर्भ में यह कहानी सफल रही है। वस्तुतः देश की आजादी के इतने वर्षों के बाद भी गाँव के आम आदमी की तकलीफ में कोई कमी नहीं आयी है । बल्कि कभी-कभी तो यह लगता है कि आज भौतिक और मानसिक रूप में वह पहले से

भी अधिक पीड़ित और खाली होकर रह गया है। 'लाल लकीर' में व्याप्त चेतना की बात हम पिछले पृष्ठों में कह आये हैं। लेकिन 'चाचा' जैसे व्यवस्था के पोषक और चाटुकारों द्वारा प्रगति के सारे प्रयास असफल होते जा रहे हैं और नवयुवकों का न्यायसंगत विरोध और विद्रोह नपुंसक और असहाय बनता जा रहा है। विवेकानन्द की इस कहानी में इस स्थिति के प्रति एक चिन्ता कलात्मक संप्रेषण के साथ व्यक्त हुई है जिससे यह रचना अनेक आयामी विशिष्टताओं से सम्पृक्त दिखलाई पड़ती है।

□

जीवन की असहायता, विरूपता और टूटन की अभिव्यक्ति के साथ-साथ इस वर्ष की कुछ कहानियाँ मानवीय संवेदन और आदर्श को भी रूपायित करती हैं। इन कहानियों में उदात्त मानवीय भाव, जीवन को गरिमा प्रदान करने वाली वृत्ति और व्यक्ति के प्रति आस्था और निष्ठा का आदर्श व्यक्त हुआ है। इकबाल मतीन की 'धूप' [कहानी, जनवरी], मणि मधुकर की 'चन्द्रग्रहण' [कहानी, जून], दिवा पाण्डेय की 'पेपरवेट' [कहानी, अगस्त], प्रेमचन्द सहजवाला की 'कितना सुख' [सारिका, अप्रैल], कैलाशचन्द्र की 'कमीना' [सारिका, अप्रैल], जवाहर सिंह की 'झील और झरना' [माया, अगस्त], मेहरुन्निसा परवेज की 'आकाश नील' [धर्मयुग, 21 मार्च], यशपाल की 'बिना रोमांस' [माया, जुलाई] तथा निर्मल वर्मा की 'दूसरी दुनिया' [धर्मयुग, 4 जनवरी] तथा 'सलीब पर' [जीवितराम सेतपाल; नवलेखन, स० कुसुम जैन] आदि रचनाएँ हमें समस्त विषमताओं के बावजूद मनुष्य की स्वभावगत मूलभूत उदात्तता के सन्दर्भ में आश्वस्त करती हैं।

इकबाल मतीन की 'धूप' मूलतः व्यक्ति-चरित्र की दृढ़ता और उदारता और साथ ही मानवीय संवेदन की सुन्दर रचना है। 'चन्द्रग्रहण' में यद्यपि सामान्य परिवेश के बीच स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को कहा गया है, किन्तु स्थूल व्यावहारिकता के विपरीत इस रचना में लेखक का बल व्यक्तिपरक नैतिकता पर अधिक है। नैतिकता पर आस्था के अभाव में संवेदन का उत्स और उत्कर्ष समाप्त हो जाता है। अध्यापक और छात्रा के प्रणय सम्बन्धों को लेकर अनेक रचनाएँ लिखी जाती रही हैं—सामाजिक सन्दर्भ में इस यथार्थ से सभी परिचित हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि आधुनिकता के इस फैशन-युग में अध्यापक और छात्रा का मात्र 'स्त्री-पुरुष' का ही सम्बन्ध हो सकता है। दिवा पाण्डेय ने 'पेपरवेट' में अध्यापक को पितृत्व की भूमिका पर रखकर निश्चय ही अध्यापक जीवन को एक गरिमा प्रदान की है। प्रेमचन्द सहजवाला की 'कितना सुख' कर्त्तव्यपरायण का आदर्श प्रस्तुत करती है। अपने दायित्व की पूर्ति का सुख भी कम आल्हादक नहीं होता, लेखक ने इस कर्त्तव्य विमुखता के युग में बड़ी आत्मीयता से इस आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है।

इसी प्रकार से कैलाशचन्द्र ने 'कमीना' में आधुनिक नवयुवकों में बढ़ती हुई स्वार्थ-प्रवृति और उनकी बड़ों के प्रति कृतघ्नता पर अच्छा व्यंग्य किया है। 'झील और झरना' मूलतः पुरुष-वर्ग की देह-आसक्ति पर अच्छा व्यंग्य करती हुई भी नारी की सहनशीलता और त्याग-भावना को रेखांकित करने में सक्षम है। स्वार्थ और अहम् भाव से विच्छिन्न होकर नारी जब त्याग को अपनी शक्ति मान लेती है, तब पूरा परिदृश्य ही बदल जाता है और वह पथ-विभ्रष्ट पुरुष को अपनी राह ले आने में सफल हो जाती है। इसी प्रकार की संवेदना के स्तर पर मेहरुन्निसा परवेज की तरु ['आकाश नील' की नायिका] भी पाठक के साथ सहज तादात्म्य स्थापित करती है और वेदना में गलती हुई भी अपनी गरिमा को बचाये रखती है। प्रणय की भूमिका पर प्लावित यह कहानी नारी के आत्म-सम्मान की भी कहानी बन पड़ी है। किन्तु इस आत्म-सम्मान की प्रतिष्ठा में अहं का स्पर्श न होकर मानवीय तरलता विद्यमान है। इसी प्रकार विदेशी पात्रों को आधार बनाकर लिखी गयी 'बिना रोमांस' [यशपाल] उच्चतर मानव-मूल्यों को स्थायित करने वाली श्रेष्ठ रचना है। जर्जर रूढ़ियों के भँवर में हृदय की प्रणयात्मक दीप्ति बहुधा बुझ जाने के लिए विवश होती है। और तब ऐसी स्थिति में यदि प्रणयी एक दूसरे के निमित्त आत्म-बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करते हैं तो आज के स्वार्थ-प्रधान युग में यह एक बड़ी बात हो जाती है। 'बिना रोमांस' के प्रणयी मार्था और पैंडले एक दूसरे के लिए इसी प्रकार का आत्म-बलिदानी भाव लिये हैं। यही भाव उनके समर्पित और निष्ठावान प्रणय का सुन्दर उदाहरण है। दूसरी ओर, सेतपाल की 'सलीब पर' पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में छोटी-छोटी कटुताओं के बीच भी नारी की उदात्तता और संवेदना का स्पर्श कराने में सक्षम है। निर्मल वर्मा की 'दूसरी दुनिया' को अनेक सन्दर्भों में उद्धृत किया जा सकता है। लन्दन में एक भारतीय प्रवासी का अकेलापन, माँ की नौकरी करने की विवशता और व्यस्तता के बीच स्कूली बच्ची का अकेलापन, विदेशी जीवन के बीच पति-पत्नी के सम्बन्ध तथा कामकाजी नारी की वैयक्तिकता का प्रश्न आदि कितने ही आयाम इस कहानी के हैं। लेकिन पूरी कहानी में आरम्भ से लेकर अन्त तक सर्वत्र मानवीय संवेदना का एक गहरा रंग बिखरा पड़ा है जो इस रचना को अतिरिक्त रूप से विशिष्ट और प्रभावी बना देता है। हिन्दी की बहुत कम कहानियाँ इतनी गहरी और साथ ही इतनी सहज संवेदना के साथ लिखी गयी हैं। यह रचना इस वर्ष की उपलब्धि है।

□

प्रस्तुत संकलन में दो ऐसी लम्बी कहानियाँ भी दी गयी हैं जिनका उपर्युक्त पृष्ठों में उल्लेख नहीं हुआ है। इनमें एक है रमेश बत्तरा की 'नंग-मनंग' [वन्दना–2, अभिव्यक्ति विशेषांक, मई-जून-1976] तथा राजेन्द्र राव की 'नौसिखिया' [धर्मयुग

25 जनवरी, 1 फरवरी और 8 फरवरी]। बचपन में बालक को अनेक निषेधों के बीच से गुजरना होता है। इन निषेधों के परिणामस्वरूप बालक की कुछ ऐषणाएँ दमित होती रहती हैं। ये ऐषणाएँ चेतन से अर्धचेतन और फिर अचेतन मस्तिष्क में जाकर ठहर जाती हैं। कालान्तर में जब उन्हें अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है, तब ये पूरी जिद के साथ प्रकट होती हैं····लेकिन, जब उन ऐषणाओं की पूर्ति सम्मुख होती है, तभी कुछ ऐसा हो जाता है कि हमें बचपन के उस निषेध की सार्थकता समझ में आ जाती है। 'नंग-मनंग' में नग्नता को लेकर बचपन में पड़ी हुई उस गाँठ को, जो माँ, मोहल्ले के बच्चों और प्रेमिका ने उसके मन में गहरी बाँध दी थीं, 'मैं' सुहाग-रात के दिन अपनी पत्नी को बिजली के प्रकाश में नग्न देखकर खोल लेना चाहता है। लेकिन उस रात पत्नी से बातचीत के दौरान जब उसे इस बात का ज्ञान होता है कि 'नग्नता एक ऐसा माध्यम है कि जिसका आनन्द के क्षणों में कोई अस्तित्व नहीं रह जाता और स्वाभाविक अवस्था में कोई निर्वस्त्र रहकर भी नग्न नहीं होता' तब अपनी पत्नी को नग्न देखने की उसकी उत्सुकता शमित हो जाती है। एक अविवाहित कहानीकार द्वारा नग्नता का इतना सूक्ष्म और सटीक विश्लेषण और ऐसी समझदार पत्नी की कल्पना और अप्रत्यक्ष आकांक्षा इस रचना को मनोरंजक और साथ ही विशिष्ट बना देती है।

राजेन्द्र राव की 'नौसिखिया' एक बिल्कुल दूसरी भूमिका पर लिखी गयी रचना है। इसमें लेखक ने अपने देश में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के उस खोखलेपन पर व्यंग्य किया है जहाँ सैद्धान्तिक रूप से तो व्यक्ति के दिमाग को खूब भारी बना दिया जाता है लेकिन व्यावहारिक स्तर पर उसका योग नगण्य होता है। आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त और अपनी अत्यन्त सामान्य स्थिति के बावजूद पिता अपने बेटे को इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी करवाता है। लेकिन जब वह फैक्ट्री में अधिकारी के रूप में जाता है तब व्यावहारिक अनुभव में शून्य होने के कारण उसे सामान्य कारीगरों के मजाक का लक्ष्य बनना पड़ता है। ऐसी स्थिति में पड़े व्यक्ति की मानसिकता का सफल चित्रण इस रचना में हुआ है। यद्यपि अन्तिम पृष्ठों में कहानी में आरोपण है और इसीलिए वह कमजोर हो गयी है क्योंकि हम जानते हैं कि बाबा हरभजन सिंह की सहायता व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस समस्या का समाधान नहीं है और फिर 'पुनश्च:' ने तो इसे फिल्मी कहानी बना दिया है, लेकिन इतनी और इतनी बड़ी त्रुटियों के बावजूद यह कहानी हमारी शिक्षा-प्रणाली पर जो व्यंग्य करती है, मात्र उतने से ही इसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

□

पिछले वर्ष के दौर में कुछ ऐसी भी रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं, जो शिल्प की दृष्टि से दृष्टि को बाँधती हैं। प्रस्तुत संकलन में संकलित 'अन्तराल', 'कुछ भी

नहीं', 'साग मीट', 'दहलीज पर संवाद' तथा 'दूसरी दुनिया' आदि ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें गम्भीर कथ्य के साथ-साथ शैल्पिक प्रायोगिकता भी काफी स्पष्ट और प्रभावी है। लेकिन इनका शिल्प-वैशिष्ट्य किसी चमत्कार की अवतारणा न कर, कथ्य को प्रभावशीलता के साथ प्रस्तुत करने में सहायक हुआ है। शिल्प की नवीनता होते हुए भी ये शिल्प-प्रधान कहानियाँ नहीं हैं—यह इनकी अतिरिक्त विशिष्टता है। कथ्य की दृष्टि से हीन किन्तु शिल्प की दृष्टि से विशिष्ट पर साथ ही कृत्रिमता का स्पर्श करती हुई एक उल्लेखनीय कृति है—नरेश मेहता की 'बन्ध छवि' [माया, जुलाई]। 'बन्ध छवि' का कथानक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का 'शाश्वत' त्रिकोण है जिसे हम पिछले पृष्ठों में कह आये हैं। यह कथानक समान मानसिकता वाले पाठकों के लिए साहसिक ही नहीं, दुस्साहसपूर्ण और 'बोल्ड' भी हो सकता है लेकिन इसमें चौंकाने की प्रवृति के साथ-साथ नारी मनोविज्ञान की धज्जियाँ उखाड़ कर रख दी गयी हैं। कथानक के अतिरिक्त जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, नरेश मेहता का 'प्रथम फाल्गुनी' रूप अभी तक बरकरार है। शिल्प की यह नितान्त रोमांटिकता सम्भवतः नरेश मेहता की प्रकृति और कमजोरी बन गयी है कि उन्हें युगबोध का भी ध्यान नहीं रहता। 'बन्ध छवि' के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(1) शेड की गोल झालरदार छाया उसके पुष्ट वक्षस्थल पर दुकूल का आभास देती कैसी तराशती गुजर रही है, जैसे कि पृथ्वी के ग्लोब को विषुवत रेखा अर्धभागों में काटती है। अधो भाग की श्वेत भूषा पर जो घाटियों वाला पिघलता प्रकाश है, उसमें पुखराज का मलमली पीलापन आ गया है जो कि माधवी की त्वचा के कुन्दनवर्ण का भ्रम उत्पन्न करता है। माधवी के बैठने में फूल के बैठने की न केवल आश्वस्ति बल्कि मुद्रा तक लगती है····स्त्री यदि वृक्ष होती तो उसमें इसी पाटली सुषमा के फूल होते।

(2) माधवी ने अपने हाहाकार को भाषा या निःश्वास तक नहीं दी होगी, बल्कि वक्षस्थल के आँचल-सा नींद तक में व्यवस्थित कर रखा होगा।····माधवी की पढ़ने की मुद्रा से ऐसा लगता है कि वह पढ़ नहीं रही है, बल्कि निष्णात् पियानोवादन कर रही है।

(3) ····स्त्री अपने वक्षस्थल पर घूमते हुए अपने पुरुष के हाथ को, दबाव को जैसे कभी नहीं भूल पाती, तब भला जिसे वह धारण करती है, उसे कैसे भूल पाये····। और इसी प्रकार की कितनी ही काव्य-सूक्तियाँ····

'माया' ने इस कहानी को आज के दिन प्रचलित आन्दोलनों, खेमों और विद्वेष की भूमिकाओं से मुक्त 'वास्तविक' और 'जीवन्त' कहानी के रूप में प्रस्तुत किया है। मध्य-आपातकाल की नृशंसताओं के दिनों में प्रकाशित यह कहानी कथानक, कथ्य और शिल्प सभी स्तरों पर लेखकीय दृष्टि और मानसिकता की पहचान कराने में सहायक होती है। इस सन्दर्भ में हम कहें कि युग परिवर्तन के साथ केवल युग-बोध में ही परिवर्तन नहीं आता, उस युग के यथार्थ को अभिव्यक्त

करने की शैली में भी परिवर्तन आता है। लेखन की दीर्घकालीन परम्परा इसका प्रमाण है। इस तथ्य को जो रचनाकार ग्रहण नहीं कर पाते, उनकी रचनाओं का 'लैम्प शेड' की रोशनी में, एकान्त बन्द कमरों के बीच एक विशिष्ट वर्ग द्वारा चर्वण तो हो सकता है, लेकिन उनसे किसी प्रकार की 'गहरी समझ' पैदा नहीं होती। हम समझते हैं कि सामान्य जीवन-प्रवाह से कटी हुई नितान्त वैयक्तिक अनुभवों से ग्रस्त ऐसी 'शाश्वत' रचनाओं को 'वास्तविक' और 'जीवन्त' की संज्ञा देना प्रचलित 'आन्दोलनों' और 'खेमों' के खिलाफ एक और 'खेमा' खड़ा करने के षड्यन्त्र से अधिक और कुछ नहीं है।

☐

कुल मिलाकर इस वर्ष की कहानियों की यही कथा है। यह ठीक है कि कुछ रचनाओं में वैयक्तिक स्वर उभरा है; कुछ और कहानियाँ हैं, जिनमें रचनाकार के सीमित अनुभव-क्षेत्रों को अभिव्यक्ति मिली है; कुछ रचनाओं में आरोपित आदर्शवादिता है लेकिन अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जो सामान्यजन की तकलीफों से, उसके दुःख-दर्द से, उसकी रोज की समस्याओं से और भ्रष्ट व्यवस्था के बीच उसकी विवशता से सम्पृक्त हैं, और जीवन की उन विसंगतियों को रूपायित करती हैं जिनसे सही और वास्तविक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध बना हुआ है। इस प्रकार से ये रचनाएँ, साथ ही, जन-चेतना की रचनाएँ भी बन पड़ी हैं। ये रचनाएँ ही समय सापेक्ष रचनाधर्मिता से हमारी पहचान कराती हैं और शासन और सत्ता की चाटुकार न होकर प्रतिपक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। खुशी की बात यह भी है कि ऐसी रचनाएँ उन लेखकों के द्वारा दी जा रही हैं जो गाँवों, कस्बों और छोटे शहरों में रहते हुए सभी प्रकार से कुशासन और अव्यवस्था के शिकार हैं और जिनकी चेतना और प्रगतिशीलता ओढ़ी हुई अथवा फैशनेबुल न होकर सच्ची और भोगी हुई है। इन रचनाकारों का लेखन ही हमें इस संक्रमणकाल में जीवन्त रचनाधर्मिता के प्रति आश्वस्त करता है।

—देवेश ठाकुर

कहानियाँ

अचला शर्मा

खलनायक

कमरे में घुसते ही किसी तीखी रोशनी से उसकी आँखे चुंधिया गयीं। लगा, जैसे अप्रैल का सूरज ही पिघल कर आँखों में समा गया हो। कुर्सी पर बैठ, दराज से सिगार निकाल कर उसने मुंह में लगायी। लाइटर जलाते समय हाथ रुक गया—उफ ! फिर वही चौंध ! अचानक खुली खिड़की के पार देखा—सामने वाली इमारत की तीसरी मंजिल पर एक छोटा-सा लड़का हाथ में शीशा लिये खड़ा था और उसे ही अपना लक्ष्य बना रहा था।

'ट्रिंग····ट्रिंग····' फोन का चोंगा कान तक खींचते ही आवाज आयी—'योर फादर ऑन दि लाइन सर !' मिस बोस की मीठी आवाज में कड़वी सूचना। फादर····यानी बाबू जी। मगर किसलिए ? अभी आध घण्टा पहले ही तो वह घर से चला है। चलते समय उन्होंने याद दिलाया था—डॉ० सिन्हा से मेरी दवा लेते आना····अब ऐसी कौन सी एमरजेन्सी हो गयी ?

सिगार का धुआं माउथपीस में उगलते हुए उसने कहा, 'हाँ कहिए।'

'हेलो-हेलो····।'

'····बोलिए भी।' वह झल्ला गया।

'हेलो····हे····।

ओह ! वह फिर भूल गया। वह जिस सहज स्वर में बोल रहा है, उन तक आवाज कैसे पहुँचेगी। उसे चिल्ला कर बोलना पड़ेगा। वे ऊँचा सुनने लगे हैं। ऊँचा सुनने लगे हैं तो क्या ? ऑफिस है यह—लोग क्या सोचेंगे। तबीयत हुई, चोंगा इतने जोर से पटक दे कि दो टुकड़े हो जायें। लेकिन दूसरे ही क्षण वह चिल्ला कर बोल रहा था—'क्या बात है, किसलिए फोन किया ?'

'वो, तू मेरा चश्मा ले जाना भूल गया, उसकी कमानी टूट गयी है ना।'

'तो शाम को कह देते, अभी क्या····'

'पढ़ने में बड़ी दिक्कत होती है।'

'अच्छा-अच्छा कल बनने दे दूंगा।'

'और सुन, अपनी बीवी को समझा दे।'

'क्या मतलब !'

'एक-एक बजे तक पड़ोस में गप्पें मारती है, मुझे क्या भूख नहीं लगती। कुछ कहूँ, तो ऐसी नजरों से देखती है जैसे खा ही जायेगी।'

'आप भी बस हद करते हैं, ये सब बातें यहाँ करने की हैं....' वह गुस्से में उबल पड़ा। उफ ! फिर वही शरारती बच्चा होगा। उसका खेल हो गया और यहाँ अन्धे होने की नौबत आ गयी।

'और वह मेरी दवा याद से लेते आना।'

'अच्छा।' उसने दांत भींच कर आँखों को रूमाल से ढक लिया। इसकी माँ रोकती क्यों नहीं इसे ?

'तू बोल नहीं रहा कुछ....हेलो।'

'कहा न अच्छा, अब....'

'तो बुलाऊँ उसे ?'

'किसे ?'

'तेरी बीवी को, समझा दे उसे, बारह बजे से पहले रोटी न मिली तो....'

'रहने दीजिए अभी, शाम को कह दूंगा और अब आप....'

'और सुन, आज सूर्यग्रहण से पहले घर पहुँच जाना....बड़ी साध थी अपनी गंगा नहाने की, पर अपनी किस्मत कहाँ जो थोड़ा-सा पुण्य कमा लें।' वे बड़बड़ाने लगे।

'ठीक है—ठीक है, अगले साल सही, अब आप आराम करें।'

'अगले साल सूर्यग्रहण थोड़े ही लगेगा।' उनके तर्क के सम्मुख वह निरुत्तर हो गया। 'और वह दवा....'

'हां-हां याद है मुझे।' कहकर उसने जबरदस्ती सम्पर्क काट दिया। उनके साथ बात करते समय बहुत जोर से बोलना पड़ता है और फिर फोन पर तो और भी मुश्किल....एक खिलखिलाहट....एक चौंध और। उसने देखा—वह बच्चा ताली पीट कर हंस रहा है। उसने घण्टी दबा दी।

'जी साब !'

'यह खिड़की बन्द कर दो और कूलर ऑन करो। तुम लोग यहाँ काम करते हो या बस ऊँघते हो, मेरे आने से पहले यह सब होना चाहिए।'

'जी साब !' और चपरासी ने फाटक से खिड़की के पल्ले बन्द करके पर्दा खींच दिया। कूलर की घर्र-घर्र कमरे में भर गयी। उसने कुर्सी की पीठ पर सिर टिका लिया और बुझी हुई सिगार की राख झाड़ कर फिर से लाइटर उठाया। शीशे की वह चौंध बन्द खिड़की से टकरा कर लौट गयी होगी और उसकी वह शैतान हँसी भी। उसकी माँ ने जरूर उसे एक चाँटा लगाया होगा और उसकी हँसी....रुदन में बदल गयी होगी....

☐

शाम को वह उनके सामने जाकर खड़ा हो गया। जानना चाहा कि वे आखिर चाहते क्या हैं? इस तरह फोन करके उसे परेशान क्यों करते हैं? पर वे इस तरह खामोश रहे, जैसे पिछले कई बरसों से किसी नाराजगी के कारण उससे बोले न हों। वह इस 'अनबोले' के सामने परास्त हो गया। उसके भीतर खौलता हुआ गुस्सा अचानक ठण्डा पड़ने लगा। उसे महसूस हुआ कि वह बिना अपराध की सजा सुनने के लिए यहाँ खड़ा है, अपनी यातना के प्रति तटस्थ। जैसे अभी कोई मेज पर हथौड़े बजा कर उससे पूछेगा कि—'तुम अपने बचाव के लिए कुछ कहना चाहते हो?' और वह इस तरह निरुत्तर रह जायेगा, जैसे यह प्रश्न उससे न किया गया हो····

रात पत्नी को समझाते हुए उसने कहा, 'जानती हो, बाबू जी तुम्हें खुद पसन्द करके लाये हैं—तुम्हें तकलीफ देने की बात वे कैसे सोच सकते हैं।'

'जानती हूँ, और यह भी जानती हूँ कि मैं तुम्हारी पसन्द नहीं हूँ।'

पत्नी की आवाज विद्रूप के कारण परायी लगी। उसे सहज करने के लिए उसने सहलाना चाहा, पर तभी दीवार से चिपकी छिपकली 'धप्' से बिस्तर पर आ गिरी। पत्नी चीख कर खिसक गयी और वह उसी तरह निश्चेष्ट पड़ा रहा। दूसरे कमरे से उनके गुनगुनाने की आवाज आकर उनके बीच लेट गयी। पत्नी के माथे पर शिकायती बल पड़ गये और उसे लगा कि कोई भोंथरे चाकू से उसके पैरों की नसों को काटे जा रहा है।

पत्नी को उनसे बहुत शिकायतें हैं। मसलन, वे बाग में खड़े-खड़े पेशाब कर देते थे। पत्नी चिल्लाती, 'घर में दो-दो बाथरूम हैं, वहाँ नहीं जायेंगे, बाहर लोग देखें तो क्या कहेंगे।'

'लोग क्या कहेंगे।' यह पत्नी का तकियाकलाम था। जिस बात से उसे ऐतराज होता, उसे वह 'लोगों' की आड़ लेकर कहती। पत्नी जब यह बात कह रही थी, तो वे बोले, 'अब क्या करूँ बेटा, अन्दर जाते ही टाँगें काँपती हैं, घुटने न मुड़ते हैं न सीधे होते हैं।'

□

रक्तचाप के कारण डॉ० सिन्हा ने खाने-पीने में नमक के परहेज के लिए खास कहा है, पर यह उन्हें मान्य नहीं। पत्नी कुछ कहे, तो थाली पटक देते हैं। छोटी बच्ची की उगली पकड़ कर सड़क पर घूमने निकल जाते हैं। पत्नी को ऐतराज यह है कि सड़क पर मोटर-बसें वगैरह आती-जाती हैं—इनका क्या? कहीं बच्ची के साथ कोई दुर्घटना हो जाये तो? ये तो एक किनारे बैठ कर पड़ोस की बुढ़िया से गप्पे मारने में डूब जाते हैं और बच्ची अलग भटकती रहती है। उसने भी कई बार उन्हें देखा है। पड़ोस की अम्मां जी के साथ शाम के धुँधलके में पुलिया पर बैठकर धीमी आवाज में कुछ बोलते हुए। अम्मां जी के झुर्रियोंदार चेहरे पर

उस समय सर्दियों की गुनगुनी धूप लिखी रहती है, पर वे जवाब में कभी कुछ नहीं कहतीं। शायद वे जानती हैं, इसके लिए उन्हें चिल्लाकर बोलना पड़ेगा, जिससे उनकी बातों की गोपनीयता खत्म हो जायेगी। अकसर लौटते समय वे उनका हाथ थामे गेट तक पहुँचा जाती हैं।

उनकी अन्तरंगता को भांपकर पत्नी ने एक दिन व्यंग्य किया था—'बूढ़ा पंछी भी पंख फैलाने लगा।'

'इसमें हर्ज क्या है?' उसने विरोध किया था।

'हर्ज कैसे नहीं है, जब तक तुम्हारी अम्मां जीवित थीं, उनके साथ तो हमेशा छत्तीस रहते थे, और फिर शीला बहन जी क्या सोचेंगी, बुड्ढा उनकी सास को बरगला रहा है।'

उसे लगा था—यह उनके प्रति ज्यादती है। इसमें गलत क्या है?

'सभी तो साथ खोजते हैं इस उम्र में। कुछ देर बैठ कर दुख-सुख की बातें ही करते होंगे।'

'सुख-दुख नहीं जी, शेरो-शायरी होती है, मैंने अपने कानों से सुना है।'

शेरो-शायरी का शौक उन्हें शुरू से है। ढेरों किताबें उन्होंने जमा कर रखी हैं। वरना एक जोड़ी जूते और तीन जोड़ी कपड़ों के सिवाय और कोई पूंजी उनके पास नहीं है। खाली वक्त में अकसर गुनगुनाते रहते हैं, पत्नी चाहती है—और कुछ नहीं तो सब्जी ही काट दिया करें, उसे कुछ सहायता मिलेगी। इस उम्र में शेरो-शायरी भली लगती है क्या?

एक उम्र होती है, जो किसी भी सामाजिक तथा नैतिक बन्धनों से परे होती है। लेकिन वह स्वयं एक बन्धन होती है। इसलिए वह युवावस्था की तरह 'डेंजरस' नहीं होती। लेकिन बचपन की तरह स्वप्नदर्शी भी नहीं होती। व्यक्ति मौत के मुहाने पर खड़ा होकर जीवन की ओर मुड़कर देखता है। उसे लगा, वे आजकल उसी दौर से गुजर रहे थे। पीछे लौटने के लिए आतुर।

□

उस शाम उसने उन दोनों को हँसते देखा। वह दफ्तर से लौट रहा था और मोड़ पर पुलिया पर बैठे वे दोनों एक-दूसरे का मुँह जोहते हँस रहे थे। उनकी आँखों में मोह की तरलता थी। पृष्ठभूमि में नाला था और उसके ठहरे हुए पानी से बदबू का भभका उठ रहा था। लेकिन उनकी तन्मयता अबाधित गति से बह रही थी।

उसने गाड़ी में ब्रेक लगाये और कहा, 'नमस्ते अम्मां जी, आपका गठिया का दर्द अब कैसा है?' उत्तर में वे लोग खामोश हो गये।

'मौसम अच्छा है आज।' वह फिर हँसा।

किन्तु उनमें से कोई नहीं बोला। उसकी स्थिति हास्यास्पद हो आयी, जैसे उसने नवविवाहित दम्पति के कमरे में झांकने का अक्षम्य अपराध किया हो। उनके मौन से साफ जाहिर था कि उन्हें उसका हस्तक्षेप पसन्द नहीं आया। उनकी मुद्रा कह रही थी कि वे अपने नितान्त आत्मीय क्षणों में किसी की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करेंगे। पता नहीं, उन्हें या स्वयं को निरापद करने के लिए, उसने वहाँ से टल जाना उचित समझा।

'अच्छा, चलता हूँ।' वह खिसिआये स्वर में बोला और आगे बढ़ गया। घर पहुँच कर, लॉन में कुर्सी डालकर चाय की भाप में तनाव को हल्का करते समय तक उसके भीतर प्रतिशोध का कीड़ा जन्म ले चुका था। वे चाहे भूल गये हों, पर वह कैसे भूल सकता है, जब उन्होंने उसके निजी जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय अपने हाथ में लेकर उसे हमेशा के लिए कंगाल बना दिया था। आज वही, अपनी दो घड़ी की सम्पन्नता का प्रदर्शन करके उसकी विपन्नता का मजाक उड़ा रहे हैं, उसने सिगार सुलगाया....काश! इस समय धूप होती और उसके पास वैसा ही शीशा होता....तुमने कभी समुद्र के तूफानी शोर को संगीत के सुरों में ढलते सुना है?....तुमने कभी रुई के फाहों की तरह हवा में उड़ती उम्र को पकड़ने की कोशिश की है? तुम कभी हँसते-हँसते अचानक रोने लगे हो प्रबोध गुप्ता? तुम कभी....?

उसके भीतर कोई लगातार सवाल करने लगा। उसने टाई की नॉट को ढीला किया। उफ, कितनी गरमी लग रही है! तुमने कभी भागने की कोशिश की है मि० गुप्ता? उसने महसूस किया—शिराओं में बहते रक्त की गति तेज हो गयी है। हाँ, भागने की कल्पना से ही उसकी टाँगें कांपने लगती थीं, भीतर से दबाव महसूस होता था और वह जहाँ कहीं खड़ा होता, वहीं पेशाब कर देता। पिता ने सारी उम्र स्कूल मास्टरी की थी, पर वे चाहते थे—वह खूब पढ़े। वे जो चाहते थे—उसे बेंत की भाषा में व्यक्त करते थे।

बी० ए० में उसकी सेकण्ड पोजीशन आयी। फिर 'कांपीटेटिव एग्जाम' में पाँचवा नम्बर। उसे नौकरी मिली—अच्छा पद मिला और इस सबके साथ अपने उन औसत स्वप्नों के पूर्ण होने का आश्वासन भी, जो उसने मधु को लेकर, अपने छोटे-से घर को लेकर, भविष्य को लेकर देख रखे थे। लेकिन उसे क्या मालूम था कि उसके जन्मदाता के दिमाग में एक दूसरा ही यन्त्र फिट था, जो अपनी रुचि से उसके भविष्य की तसवीरें खींच रहा था। उसकी इच्छा के प्रतिकूल उन्होंने उसकी शादी कहीं और तय कर दी थी। भागना चाहता था, पर वह समझ गया कि भागने के लिए सिर्फ एक जोड़ी पैरों का होना ही काफी नहीं है। आवश्यक होता है उनकी शक्ति के प्रति विश्वास।

कुछ दिन की ऊहापोह के बाद उसने मधु से जाकर माफी माँग ली थी। वह मोम की गुड़िया की तरह चुप और सफेद बनी रही थी। सच! अगर वह उकसाती, उसे गालियाँ देती, धोखेबाज कहती, तो सम्भव है, उसके पैरों में हरकत

पैदा होती, और····शायद वह उसी रात मधु को भगाकर किसी दूसरे शहर ले जाता। पर····

उस क्षण से वह लगातार किसी ऐसे अवसर की तलाश में रहने लगा, जिसे आधार बना कर उन्हें निर्वासित कर सके। इससे पहले पत्नी जब भी उनकी शिकायत करती, वह झल्ला जाता—'कहाँ भेज दूँ इन्हें, आखिर पिता हैं मेरे, इसे झुठला दूँ, ऐसा विकल्प तो नहीं है मेरे पास।'

'तो फिर मैं ही चली जाऊँगी।' पत्नी धमकी देती।

अब उसका रवैया बदलने लगा। पत्नी कुछ कहती, तो वह गम्भीर मुद्रा में सुनता रहता और अन्त में कहता, 'जरा सब्र रखो, जल्द ही कोई हल निकालूँगा।'

भीतर से हर वक्त सदय रहता। आँख-कान खुले रखता कि कब मौका आये और कब वह उन्हें जाल में फाँस सके। कभी सोचता—वह निःशस्त्र शत्रु पर वार करने जा रहा है, पर दूसरे ही क्षण विरोधात्मक प्रतिक्रिया होती—वे निरीह नहीं हैं कि उन पर दया की जाये। वे सही मायने में खुर्राट हैं। मंजे हुए शातिर की तरह उन्हें अपनी हर चाल का परिणाम हमेशा से मालूम रहा है। अतः पकड़े जाने पर जानबूझकर चुप्पी साध लेते हैं, जैसे कुछ जानते ही न हों। पर वह सब समझता है—सब।

□

एक दिन घर में घुसते ही उसने पाया, पत्नी भरी बैठी है—'देखो, बहुत दिन हो गये हैं, यह सब झेलते, मैं बहुत पढ़ी-लिखी नहीं हूँ, तुम्हारी रुचि के अनुकूल नहीं हूँ, तो क्या अपने बच्चों का भला-बुरा सोचने का हक भी नहीं है? तुम तो सब देखकर भी कुछ नहीं करते, लेकिन मैं आज अन्तिम फैसला दे रही हूँ, इस घर में या ये रहेंगे या मैं।'

पत्नी का अल्टीमेटम उनसे बदला लेने की भूमिका बन गया। पत्नी सुबकने लगी और टुकड़ों में उसने जो बताया, वह कुछ इतना गम्भीर नहीं था कि वह इस कदर तेजी दिखाता। बात यह हुई कि शाम को जब विनय—उसका लड़का मास्टर साहब से पढ़ रहा था, तो उन्होंने उसे बुलाकर बाजार से सिगरेट लाने को कहा। मास्टर साहब ने शिकायत की, तो पत्नी को गुस्सा आ गया। उसने समझाया कि विनय को पढ़ते समय न उठाया करें, इस पर वे बिगड़ गये और जोर-जोर से गालियाँ देने लगे। यहाँ तक कि पीट देने की धमकी भी दी।

उसके भीतर छिपे चोर ने उकसाया—अब मौका है। उसने रुकना ठीक नहीं समझा, क्योंकि उसे भय था—ज्वार उतर जाने पर वह कुछ नहीं कर पायेगा। वह गुस्से से पागल उनके कमरे में पहुँचा और बोला—'इस तरह के वातावरण में बच्चे पर कितना गलत असर पड़ेगा, यह आप क्या समझेंगे। बेहतर होगा कि मैं

आपको कुछ दिन के लिए चाचा जी के यहाँ भेज दूं। आप तैयारी कर लीजिए, कल तक टिकट का इन्तजाम हो जायेगा।'

उसने फैसला सुना दिया और वे चुप रहे, प्रतिरोध में एक शब्द भी नहीं कहा। उस शाम पुलिया पर जाकर नहीं बैठे। खाना भी चुपचाप खा लिया। बस ! बीच-बीच में स्थिर दृष्टि से उसकी ओर ताकते रहे, जैसे उसके निर्णय की वास्तविकता को माप रहे हों।

अगला दिन लखनऊ की दो सीटें रिजर्व करवाने में गुजर गया। उन्होंने किताबें समेट लीं और जाने के लिए प्रस्तुत हो गये। वह खुद साथ नहीं जाना चाहता था, इसलिए कहा—'मुझे छुट्टी नहीं मिल सकेगी। यह चपरासी आपको पहुँचाकर लौट आयेगा।'

स्टेशन तक वह स्वयं साथ गया। वे चुपचाप खिड़की से सिर टिकाये बैठे रहे। चपरासी पानी-वानी का इन्तजाम करने लगा। एकाएक उसे लगा कि वह जबरन उनका सिर रेल की पटरियों पर रख रहा हो और उधर से धड़धड़ाती हुई ट्रेन आ रही है....।

'कुछ और चाहिए क्या ?' उसने रूमाल से चेहरे का पसीना सोखते हुए पूछा, जैसे मृत्यु-दण्ड से पूर्व उनकी अन्तिम इच्छा जानना चाहता हो। वे खामोश रहे। वह इन्तजार करता रहा। शायद वे कुछ कहेंगे—ऐसा, जो अकेलेपन और आत्मदया से पसीजा हुआ होगा। पर वे कुछ नहीं बोले। एक मक्खी उनकी नाक पर जा बैठी। उन्होंने उसे उड़ाने की आवश्यकता महसूस नहीं की। गाड़ी ने सीटी दी। उसने पांव छुए और नीचे उतर आया।

'आप परेशान न हों, मैं जल्द ही वापस बुलवा लूंगा।' वह झूठा दिलासा देने के भाव से बोला।

गाड़ी अपने स्थान से हिली।

'कोई आता-जाता हो, तो एक नया चश्मा बनवा कर भेज देना।' उनकी टूटी कमाने वाले चश्मे के भीतर से दो स्थिर आँखें उसे तोल रही थीं।

प्लेटफार्म की भीड़ में से बाहर के लिए रास्ता बनाते हुए उसने हाथ उठा कर अपने बायें गाल को सहलाया—लगा, जैसे किसी ने थप्पड़ मार दिया हो.... और चुनचुनाहट अभी तक बाकी है।

[धर्मयुग, 7 नवम्बर 1976]

आशीष सिन्हा

आकाश गंगा

'कहाँ जा रही है ?' जानकी नाथ ने रुकते-रुकते पूछ ही लिया था। आभा शीशे में एकटक अपना चेहरा निहार रही थी। माथे की बिंदिया संवारती हुई कुछ क्षणों के लिए उसने जानकी नाथ की ओर देखा था।

'बस पापा, यूं ही····!' आभा बिंदिया संवारने में व्यस्त थी। उसने आगे कुछ नहीं कहा।

'बारिश हो रही है ···· !' पता नहीं, किस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने फिर कुछ कहा, पर आभा ने जवाब नहीं दिया। कमरे के एक कोने से छाता निकालकर, बरामदा लांघकर वह बाहर निकल आई। वह आभा के पीछे-पीछे बरामदे तक आये, फिर रुक गये। आभा को उन्होंने रोकना चाहा था। किन्तु वह रुकी नहीं।

'पापा, ये तामझाम अब हटाइये यहाँ से !' बरामदे से उतरकर लोहे की सलाखों, बालू और पत्थर के ढेर को लांघती हुई आभा बोली थी।

तामझाम ! जानकी नाथ मुस्कराये थे। मकान के सामने बिखरे लोहे की सलाखों में जंग लग रहा था। बारिश की बूंदें सलाखों को भिगो रही थीं। बालू का ढेर बारिश में भीगकर मिट्टी बन गया था। छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े मकान के अहाते में बिखरे पड़े थे। पास-पड़ोस के बच्चे उन्हें अक्सर इधर-उधर फेंकते रहते हैं। जानकी नाथ इन बिखरे पत्थरों को, जंग लगते लोहे की सलाखों को, बालू के ढेर को एक आकार देना चाहते थे। ख्वाइश थी, यह अधूरा मकान वह पूरा कर लेंगे। नये मकान का एक खाका, एक अस्पष्ट धुंधली आकृति उनके जेहन में उभरती····। दो और कमरे····छत पर एक ओर ···· एक लम्बा अहाता, अहाते के एक किनारे एक नीम का पेड़····दूसरी ओर फूलों की एक छोटी-सी क्यारी····शाक-सब्जियों के कुछ पौधे ···· । पर ज्यों-ज्यों मौसम बदला था, ज्यों-ज्यों वक्त बीतता गया था, जानकी नाथ के मकान का खाका और भी धुंधला बनता चला गया था। जानकी नाथ की योजना धरी-की-धरी रह गयी थी और इस बार भी वह 'आउट' हो गये थे।

छुक्… छुक्….छुक्….छुक्….जानकी नाथ का ध्यान दूर, मैदान के उस पार ऊँची पहाड़ीनुमा जगह से गुजरती रेल की ओर जाता है। इस गाँव का छोटा-सा स्टेशन—मायागंज हाल्ट—बहुत पास है। सुबह-शाम दो-तीन गाड़ियाँ मायागंज हाल्ट पर रुकती हैं। बाकी गाड़ियाँ धरती, मकान, आस-पास की दुकानों को कंपाती हुई आँधी की तरह आगे बढ़ जाती हैं। ये एक्सप्रेस-गाड़ियाँ होती हैं। जानकी नाथ फिर मन-ही-मन हँसते हैं। इन एक्सप्रेस-गाड़ियों में और जिन्दगी की गाड़ियों में कहीं-न-कहीं समानता है। जिन्दगी की गाड़ी भी तो जब चलती है तब तीर की तरह आगे निकलती जाती है, और जब रुकने लगती है तब फिर वही छुक् …. छुक् …. ।

आउट ! उन्हें फिर यह शब्द याद आया। युगों पहले की वह दुपहरिया याद आई। सैंकड़ों कण्ठों से एक जोरदार चीख-सी निकली थी। हाथ में बैट लिए उन्होंने सामने देखा था। सफेद ओवरकोट पहने अम्पायर ने अपनी अंगुली हवा में उछाल दी थी। जानकी नाथ मैदान छोड़ कर पैवेलियन वापस आ गये थे।

हाँ, बचपन में जानकी नाथ ने क्रिकेटर होने का सपना देखा था।

बड़ी मुश्किल से कालेज की टीम में उन्हें स्थान मिला था। किसी मैच के दौरान, कप्तान ने उन्हें सबसे पहले बल्ला चलाने के लिए भेजा था। वे स्टम्प्स पर अपनी बैट लिए चौकसी के साथ खड़े हो गये थे। आँखें गेंद फेंकते हुए खिलाड़ी पर टिकी थीं। खिलाड़ी पीछे हटकर गेंद फेंकने के लिए दौड़ पड़ा था। अचानक जानकी नाथ ने देख लिया था, क्रीज पर एक कंकड़ पड़ा है। खतरा था—गेंद छोटे से कंकड़ से टकराकर घूम सकती है। वह घबरा गये थे। पल भर का समय था। उधर गेंद फेंकने के लिए खिलाड़ी दौड़ पड़ा था। जानकी नाथ गेंद फेंकने वाले उस खिलाड़ी को देख रहे थे। पर अन्तर्दृष्टि उस कंकड़ पर जमी थी। पल-पल बीतता समय ! कुछ क्षण सिर्फ ! इन्हीं क्षणों में उन्होंने सोचा, खेल रुकवाकर कंकड़ हटा दिया जाये। पर अब यह होना असम्भव था। गेंद लेकर विरोधी पक्ष का खिलाड़ी अपनी दौड़ के अन्तिम चरण पर आ गया था। उसका हाथ हवा में उछला था। कांपते हाथों से जानकी नाथ ने बल्ला घुमाया था, पर उस छोटे-से कंकड़ से टकरा कर बाहर जाती हुई गेंद घूमकर स्टम्पस से टकराई थी। स्टम्पस उखड़ गये थे। अम्पायर के हाथ की अंगुली ऊपर उठी थी। स्कोर-बोर्ड शून्य था। वहाँ उनके नाम के आगे शून्य ही रहा। सैंकडों कण्ठ एक साथ गर्जे थे—'आउट !'

जानकी नाथ पैवेलियन वापस आ गये थे।

जानकी नाथ कभी क्रिकेटर नहीं बन सके। स्कोर-बोर्ड का शून्य और 'आउट' जैसे जीवन भर के लिए उनकी शिराओं में समा गया। जानकी नाथ तब से जिन्दगी में लगातार आउट होते रहे। जब कभी किसी चीज की ओर हाथ बढ़ाते, वही छोटा-सा कंकड़ जैसे उनके और उस चीज के दरम्यान आ जाता और जानकी नाथ आउट हो जाते ! तब भी, जब अट्ठावन वर्ष की आयु में उन्होंने सोचा था, शहर से

आशीष सिन्हा

आकाश गंगा

'कहाँ जा रही है ?' जानकी नाथ ने रुकते-रुकते पूछ ही लिया था। आभा शीशे में एकटक अपना चेहरा निहार रही थी। माथे की बिंदिया संवारती हुई कुछ क्षणों के लिए उसने जानकी नाथ की ओर देखा था।

'बस पापा, यूं ही····!' आभा बिंदिया संवारने में व्यस्त थी। उसने आगे कुछ नहीं कहा।

'बारिश हो रही है ···· !' पता नहीं, किस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने फिर कुछ कहा, पर आभा ने जवाब नहीं दिया। कमरे के एक कोने से छाता निकालकर, बरामदा लांघकर वह बाहर निकल आई। वह आभा के पीछे-पीछे बरामदे तक आये, फिर रुक गये। आभा को उन्होंने रोकना चाहा था। किन्तु वह रुकी नहीं।

'पापा, ये तामझाम अब हटाइये यहाँ से !' बरामदे से उतरकर लोहे की सलाखों, बालू और पत्थर के ढेर को लांघती हुई आभा बोली थी।

तामझाम ! जानकी नाथ मुस्कराये थे। मकान के सामने बिखरे लोहे की सलाखों में जंग लग रहा था। बारिश की बूंदें सलाखों को भिगो रही थीं। बालू का ढेर बारिश में भीगकर मिट्टी बन गया था। छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े मकान के अहाते में बिखरे पड़े थे। पास-पड़ोस के बच्चे उन्हें अक्सर इधर-उधर फेंकते रहते हैं। जानकी नाथ इन बिखरे पत्थरों को, जंग लगते लोहे की सलाखों को, बालू के ढेर को एक आकार देना चाहते थे। ख्वाइश थी, यह अधूरा मकान वह पूरा कर लेंगे। नये मकान का एक खाका, एक अस्पष्ट धुंधली आकृति उनके जेहन में उभरती····। दो और कमरे····छत पर एक ओर ···· एक लम्बा अहाता, अहाते के एक किनारे एक नीम का पेड़····दूसरी ओर फूलों की एक छोटी-सी क्यारी····शाक-सब्जियों के कुछ पौधे ····। पर ज्यों-ज्यों मौसम बदला था, ज्यों-ज्यों वक्त बीतता गया था, जानकी नाथ के मकान का खाका और भी धुंधला बनता चला गया था। जानकी नाथ की योजना धरी-की-धरी रह गयी थी और इस बार भी वह 'आउट' हो गये थे।

छुक्''' छुक्''''छुक्''''छुक्''''जानकी नाथ का ध्यान दूर, मैदान के उस पार ऊँची पहाड़ीनुमा जगह से गुजरती रेल की ओर जाता है। इस गाँव का छोटा-सा स्टेशन—मायागंज हाल्ट—बहुत पास है। सुबह-शाम दो-तीन गाड़ियाँ मायागंज हाल्ट पर रुकती हैं। बाकी गाड़ियाँ धरती, मकान, आस-पास की दुकानों को कंपाती हुई आँधी की तरह आगे बढ़ जाती हैं। ये एक्सप्रेस-गाड़ियाँ होती हैं। जानकी नाथ फिर मन-ही-मन हँसते हैं। इन एक्सप्रेस-गाड़ियों में और जिन्दगी की गाड़ियों में कहीं-न-कहीं समानता है। जिन्दगी की गाड़ी भी तो जब चलती है तब तीर की तरह आगे निकलती जाती है, और जब रुकने लगती है तब फिर वही छुक् '''' छुक् ''''।

आउट ! उन्हें फिर यह शब्द याद आया। युगों पहले की वह दुपहरिया याद आई। सैंकड़ों कण्ठों से एक जोरदार चीख-सी निकली थी। हाथ में बैट लिए उन्होंने सामने देखा था। सफेद ओवरकोट पहने अम्पायर ने अपनी अंगुली हवा में उछाल दी थी। जानकी नाथ मैदान छोड़ कर पैवेलियन वापस आ गये थे।

हाँ, बचपन में जानकी नाथ ने क्रिकेटर होने का सपना देखा था।

बड़ी मुश्किल से कालेज की टीम में उन्हें स्थान मिला था। किसी मैच के दौरान, कप्तान ने उन्हें सबसे पहले बल्ला चलाने के लिए भेजा था। वे स्टम्प्स पर अपनी बैट लिए चौकसी के साथ खड़े हो गये थे। आँखें गेंद फेंकते हुए खिलाड़ी पर टिकी थीं। खिलाड़ी पीछे हटकर गेंद फेंकने के लिए दौड़ पड़ा था। अचानक जानकी नाथ ने देख लिया था, क्रीज पर एक कंकड़ पड़ा है। खतरा था—गेंद छोटे से कंकड़ से टकराकर घूम सकती है। वह घबरा गये थे। पल भर का समय था। उधर गेंद फेंकने के लिए खिलाड़ी दौड़ पड़ा था। जानकी नाथ गेंद फेंकने वाले उस खिलाड़ी को देख रहे थे। पर अन्तर्दृष्टि उस कंकड़ पर जमी थी। पल-पल बीतता समय ! कुछ क्षण सिर्फ ! इन्हीं क्षणों में उन्होंने सोचा, खेल रुकवाकर कंकड़ हटा दिया जाये। पर अब यह होना असम्भव था। गेंद लेकर विरोधी पक्ष का खिलाड़ी अपनी दौड़ के अन्तिम चरण पर आ गया था। उसका हाथ हवा में उछला था। कांपते हाथों से जानकी नाथ ने बल्ला घुमाया था, पर उस छोटे-से कंकड़ से टकरा कर बाहर जाती हुई गेंद घूमकर स्टम्पस से टकराई थी। स्टम्पस उखड़ गये थे। अम्पायर के हाथ की अंगुली ऊपर उठी थी। स्कोर-बोर्ड शून्य था। वहाँ उनके नाम के आगे शून्य ही रहा। सैंकडों कण्ठ एक साथ गर्जे थे—'आउट !'

जानकी नाथ पैवेलियन वापस आ गये थे।

जानकी नाथ कभी क्रिकेटर नहीं बन सके। स्कोर-बोर्ड का शून्य और 'आउट' जैसे जीवन भर के लिए उनकी शिराओं में समा गया। जानकी नाथ तब से जिन्दगी में लगातार आउट होते रहे। जब कभी किसी चीज की ओर हाथ बढ़ाते, वही छोटा-सा कंकड़ जैसे उनके और उस चीज के दरम्यान आ जाता और जानकी नाथ आउट हो जाते ! तब भी, जब अट्ठावन वर्ष की आयु में उन्होंने सोचा था, शहर से

दूर इसी गाँव में एक छोटा-मोटा मकान बनवा लेंगे। नौकरी से अवकाश प्राप्त करने में तब दो साल रह गये थे, पर यह नहीं हो सका। देखते-देखते लोहा, सीमेण्ट, ईंट की कीमतें आसमान को छूने लगीं। जानकी नाथ की सारी योजनाएँ धरी-की-धरी रह गयीं। दो वर्ष बाद वे नौकरी से 'आउट' हो गये। मकान पूरा बनवाया नहीं जा सका। शहर छोड़कर जानकी नाथ गाँव आ गये। सोचा था, नौकरी छोड़ने पर जो पैसे मिलेंगे उससे मकान पूरा कर लिया जायेगा। पर यह सब नहीं हुआ। यहाँ भी जानकी नाथ 'आउट' हो गये। तीनों लड़कों ने उनसे सारे रुपये लगभग छीन लिये। लड़के बेकारी से तंग आ चुके थे। वे बिजनेस करना चाहते थे। जानकी नाथ की पूंजी अब उनकी अपनी पूंजी थी।

फुहार कब का रुक गया था। जानकी नाथ बरामदे से कमरे में आ गये। धूप उग आई थी और रोशनी का एक छोटा-सा टुकड़ा मकान से सटे तालाब के किनारे नारियल के पत्तों पर थिरक रहा था। जानकी नाथ की निगाहें तालाब की सीढ़ियों पर थीं। वहाँ उनकी पत्नी पानी भर रही थी। पानी भर कर उन्होंने तालाब में डुबकी लगाई थी। साड़ी का टुकड़ा बुलबुले की तरह पानी की सतह पर उभरा था। लहरें, ऊबड़-खावड़ सड़क पर चलती गाड़ी में बैठी सवारियों की तरह हिचकोले खा रही थी। खिड़की पर खड़े अपलक नेत्रों से वह उधर ही देखते रहे। कुछ समय बाद वह फिर दिखाई दीं। तालाब से ऊपर उठ आई थीं। घड़ा भर कर कमर पर रखकर वह घर की ओर चल पड़ीं।

शान्त तालाब, धूसर नीलाभ जल, नारियल के पत्तों पर रोशनी के टुकड़े का झिलमिलाना देखते-देखते जानकी नाथ न जाने कहाँ खो गये। इस उम्र में बचपन अकसर यादों के किसी कोने से सर क्यों उठाना चाहता है? उनकी आंखों में अपनी माँ की तस्वीर उभरी थी। गाँव में, माँ इसी तरह भीगे कपड़ों में तालाब से उठकर घर की ओर बढ़ती। घर के मिट्टी के पुते आंगन में उनके भीगे पाँव की छाप पड़ती। हर कदम के साथ-साथ उनके भीगे कपड़ों से फुहार की तरह पानी की बूंदें सारे में फैल जातीं। माँ के ओठों पर एक जाप होता। वह सीधे उस कमरे की ओर जातीं, जहाँ नये साल का अनाज रखा रहता। माँ न जाने कितनी देर तक अनाज की पूजा करती?

'क्या सोचते रहते हो हर वक्त?' पत्नी तालाब से लौटकर न जाने कब कमरे में आ गयी थी। वह हाँफ रही थी। जानकी नाथ अपनी दुनिया में वापस आये।

जर्जर शरीर की हड्डियाँ भीगे कपड़ों को छेदकर जैसे बाहर आना चाह रही हों। गर्दन की हड्डियाँ दब और उभर रही थीं। जानकी नाथ की पत्नी हाँफ रही थी। पैर कीचड़ से सने थे। चेहरे का रंग लगभग सफेद कागज की तरह था। सिर के केश ऐंठे हुए रस्सी की तरह चेहरे पर बिखरे थे। पत्नी का बूढ़ा शरीर थर-थर काँप रहा था। पानी से भरा घड़ा उन्होंने कमरे के एक किनारे रखा था।

सहसा जानकी नाथ का हृदय भर आया था। उन्होंने स्वयं से पूछा था—

उनकी पत्नी को भर पेट खाना मिलता भी है इस घर में ?

'छोटकु, तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ?' जानकी नाथ पत्नी के पास सरक आये थे। जानकी नाथ की पत्नी घर की छोटी बहू थी। जानकी नाथ की माँ, उनके पिता, सभी उसे छोटकु कहकर पुकारते थे। जानकी नाथ अब भी अंतरंग क्षणों में पत्नी को छोटकु ही कहकर सम्बोधित किया करते हैं।

'ठीक हूँ !' उन्होंने खटिया के नीचे से एक छोटी-सी पोटली निकाल ली थी। एल्यूमिनियम की एक कटोरी में चार-पाँच मुट्ठी चावल रखकर उसे पानी से धो रही थी।

'बड़के को कहना जरा चावल ला दे ····।' पत्नी का इशारा बड़े लड़के की ओर था।

'कहूँगा····' जानकी नाथ कमरे से बाहर हो गये थे। बचपन में देखा अनाज से भरा कमरा और उस कमरे में, भीगे कपड़ों में माँ का मन्त्रोच्चारण जानकी नाथ की आँखों के सामने एक बार और घूम गया था।

□

आभा को यह सब अच्छा नहीं लगता है। गाँव की जिन्दगी भी कोई जिन्दगी है ? पिता पर वह मन-ही-मन झुंझलाती है। क्या जरुरत थी, इस गाँव में मकान बनवाने की ? वह भी अधूरा ! इतने दिनों तक शहर में रहकर कोई गाँव में रह सकता है ? ट्यूबवेल से पानी पम्प करते-करते आभा की झुंझलाहट और बढ़ गयी थी। यादव दारोगा का लड़का—कालू गोप अब भी वहाँ खड़ा था। आभा ने साड़ी ठीक-ठाक लपेटकर ट्यूबवेल की हैण्डिल पर अपने दोनों हाथ रखे। किसी पुरुष की गिद्ध-दृष्टि के सामने पानी पम्प करना अपने आप में भी एक मुसीबत है। कालू गोप वहाँ से अभी नहीं हटेगा। पम्प करती हुई आभा कभी-कभार उधर देख लेती। कालू गोप की मुस्कराती आँखें उसी पर टिकी रहतीं। बदन में एक झुरझुरी-सी फैल जाती।

पानी से भरी बाल्टी लेकर आभा चल पड़ती है। दुर्गाथान तक पहुंचते-पहुँचते वह हाँफ जाती है। सड़क पर वह बाल्टी रखती है। एक बार फिर पीछे देखती है। कालू गोप की निगाहें अब भी उसी ओर हैं। आभा बाल्टी उठाकर चल पड़ती है। दुर्गाथान के बाद चौधरी की विशाल इमारत थी। इमारत के पीछे बांस का घना जंगल था। उस जंगल के बीच से चलकर घर जल्दी पहुँचा जा सकता है। आभा वही रास्ता पकड़ती है।

आभा मुड़कर बांस की झाड़ियों के बीच से पीछे देखती है। नहीं, कालू गोप अब नहीं दिखता है ! आभा चैन की सांस लेती है। पर मन-ही-मन माँ और भाइयों पर बिगड़ती है। तालाब के पानी से बदबू आती है—माँ शिकायत करती

है । भाइयों के पास इतना समय नहीं है कि वे यहाँ तक आकर पानी भरें ।

कालू गोप साल में तीन-चार बार गाँव आता था । वह शहर में रहता था । आभा ने सुन रखा था, कालू डाक्टर बन रहा है । बन रहा है तो बन ही रहा है । लोगों का कहना है, वे एक अर्से से कालू गोप के डाक्टर बनने की बात सुनते आ रहे हैं । यादव दारोगा की जिद है, वह किसी भी कीमत पर कालू गोप को अवश्य डाक्टर बनायेगा । आभा जब कालू गोप को देखती है तब सोचती है, कालू डाक्टर बने या न बने, 'जैण्टलमैन' तो जरूर बन गया है । स्मार्ट भी—शहर के छोकरों की तरह । आभा इन छोकरों से परिचित है । शहर में कुछ दिनों के लिए उसे कालेज भेजा गया था ।

दो-तीन दिन बाद आभा फिर सार्वजनिक ट्यूबवेल पर पानी भरने गयी थी । कालू गोप उस दिन भी वहीं खड़ा था । आँखों पर काला चश्मा था । नीला कुर्ता, सफेद पैंट पहने था कालू गोप । पानी भर लेने के बाद जब वह बाल्टी लेकर आगे बढ़ी थी, कालू आगे सरक आया था । नल की भीड़ जब पीछे छूट गयी थी तब कालू ने पूछा था, 'पहुँचा दूँ ?'

आभा ने बाल्टी जमीन पर रख दी । घूमकर उसने कालू गोप को देखा था । आभा को न जाने क्यों गुस्सा नहीं आया था । गाँव के अधनंगे, अनपढ़ लोगों के बीच उसे कालू गोप शिष्ट और सौम्य लगा था—जैण्टिलमैन !

'पहुँचा सकेंगे ?' आभा अनायास बोली थी ।

कालू गोप ने कमीज की आस्तीन चढ़ाई थी । उसके हाथ सीधे बाल्टी पर झुके थे और वह बाल्टी लेकर आगे चल पड़ा था ।

'जानते भी हैं, कहाँ पहुँचाना है ?'

'जानता हूँ । मैं हर वक्त आपके पीछे-पीछे चलता हूँ,' कालू गोप ने पीछे चलती हुई आभा को देखा था, 'ठीक उसी तरह जिस तरह फिल्मों में हीरो, हीरोइन के पीछे चलता है....।' आभा ने कालू को रोकना चाहा था, पर वह रोक न सकी । पानी से भरी बाल्टी घर के पास तक पहुँचाकर वह रुका था । फिल्मी हीरो की तरह उसने एक झटके से चेहरे पर झुक आये बालों को पीछे हटाया था । एक सिगरेट निकालकर होठों के बीच रखी थी, फिर दोनों कन्धे उचकाकर कहा था, 'फिर कभी मुलाकात हो तो खुशी होगी ।'

कालू लौट गया था ।

आभा कालू को वापस लौटते देख रही थी । कालू के व्यक्तित्व से शहरीपन टपक रहा था । आभा को लगा था, कालू फिल्मी पर्दे से या किसी रोमाण्टिक उपन्यास से उठकर सीधे उसके पास आया है ।

□

रोशनी सिमट आई है। आसमान में हल्की लाली तेजी से मिट रही है। मायागंज-हाल्ट उस हल्की फीकी रोशनी में कैनवास पर अलसाये हाथों से बनाई तस्वीर की तरह लगता है। आकाश का रंग मोर के पंखों-जैसा धूसर-नीलाभ है। उस मोर के पंखों-जैसे आकाश के सीने पर एक-एक कर नक्षत्र उभरते हैं—झिल-मिलाते-से। जानकी नाथ मिट्टी से लिपे-पुते आंगन में बैठे हैं। दृष्टि-शेष होते हुए अलौकिक प्रकाश-पुंज पर थमी है। एक दिन बीत रहा है। पाप और पुण्य का एक लेखा-जोखा शेष हो रहा है।

दूर यहाँ-वहाँ ढिबरी जल उठती है। दुकानों के पास छायाएँ डोलती हैं। स्टेशन से घण्टियों की आवाजें हवा में तैरती हुई इधर आती हैं। एक हल्का गुंजन उस अलौकिक निस्तब्धता पर धब्बे की तरह उभरता है और फिर छक्....छक्.... छक्....छक्....! हाल्ट पर गाड़ी आकर रुकती है।

गाड़ी से समय का अहसास उन्हें होता है। आभा अभी भी घर नहीं लौटी है। कहाँ जाती है ? वह पूछते भी हैं तो जवाब नहीं मिलता। जानकी नाथ लम्बी सांस लेते हैं।

सामने अंधेरे में कोई पत्थरों से टकराता है। कोई गिर पड़ता है। जानकी नाथ खड़े हो जाते हैं। अंधेर में उन्हें कुछ दिखाई नहीं देता। कुछ क्षण खड़े रहते हैं तो देखते हैं—आभा लंगड़ाती हुई इधर आ रही है।

वह जानकी नाथ के पास आकर खड़ी हो जाती है। पाउडर और क्रीम की एक मीठी खुशबू उन तक पहुँचती है।

आभा कहाँ से जुटाती है यह सब ?

'ये पत्थर और ईंट की नुमाइश घर के सामने करने की क्या जरूरत है ?' —आभा गिर पड़ी थी, शायद इसीलिए झुंझला रही है।

जानकी नाथ चुप रहे।

'मैं कल ही इन्हें यहाँ से फिकवाती हूँ।' आभा कमरे के अन्दर दाखिल होती हुई बोली, 'मकान बनवाना हो बनवाइये पापा, नुमाइश से क्या फायदा ?'

आभा चली जाती है। जानकी नाथ पूछना चाह रहे थे कि वह कहाँ जाती है हर रोज, पर पूछ ही न सके। ये पत्थरों का ढेर, बालू, लोहे की सलाखें आभा के लिए नुमाइश की चीजें हैं। इन्हें जुटाने के लिए जानकी नाथ ने अपना कितना खून सुखाया, आभा कभी जान नहीं पायेगी ! बच्चे अपने माँ-बाप को क्यों नहीं समझना चाहते ? रो देने का मन करता है जानकी नाथ का !

धीरे-धीरे. निःशब्द, रात कब गहरा आती है, उन्हें पता ही नहीं चलता। पत्नी अन्दर से आवाज देती है, फिर भी वह बैठे रहते हैं। झिलमिलाते नक्षत्रों की फीकी रोशनी अंधेरे पर काबू पाने की कोशिश करती है। स्टेशन से मालगाड़ियों के शंटिंग की आवाज टूट-टूट कर सारे वातावरण में गूंजती है। बैलगाड़ियों का हुजूम एक-एक कर सामने वाली सड़क से गुजरता है। उनके चक्के की किचर-किचर

ध्वनि और बैलों के गले से बँधी घण्टी की आवाज, चिड़ियों के उखड़े पर की तरह शून्य में तैरती रहती है। बैलगाड़ी के नीचे लटकती लालटेन की रोशनी, हिचकोलों के साथ-साथ झूमती है। मकान के पीछे, बाँस-वनों से किसी निशाचर पक्षी की आवाज गूंजती है। दूर, स्टेशन के पीछे ताड़ीखाने से कोई बेसुरा गीत उन तक पहुँचता है। जानकी नाथ यह सब देखते-देखते न जाने कहाँ खो जाते हैं! एक स्वप्निल, नीलाभ-स्वप्निल संसार उनकी आँखों के सामने आ थमता है। ऊब, हताशा, थकान और गरीबी न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं! एक बार पत्नी से उन्होंने कहा था, 'छोटकु, यह बरामदा मेरा अतीत है। यहाँ बैठकर खेत में हल चलाते हुए मैं अपने युवा पिता को देखता हूँ। गोबर से लिपे-पुते अनाज-घर में सिन्दूर का स्वस्तिक चिह्न लगाती हुई अपनी माँ को देखता हूँ···· उनींदे आसमान के नीचे धान की लहलहाती बालियों के बीच कजरी का राग अलापते किसी मनचले किसान को भी देखता हूँ।'

मकान के सामने अंधेरे में एक रिक्शा आकर रुकता है। एक सवारी उतर जाती है। दूसरा उतरते हुए रिक्शे से लुढ़क कर नीचे गिर पड़ता है। रिक्शा वाला सहारे के लिए आगे बढ़ता है तो वह रिक्शे वाले पर बिगड़ता है। लड़खड़ाती जबान में गाली-गलौज की आवाज उन तक पहुँचती है। जानकी नाथ उन्हें पहचान लेते हैं। अचानक कमर की बूढ़ी हड्डियों का दर्द सीने तक फैल जाता है। कण्ठ सूखने-सा लगता है। जानकी नाथ बरामदे से उठकर उसी ओर बढ़ते हैं।

'बड़के····उठ, देख कौन आ रहा है?' मंझले की आवाज लड़खड़ाती है। कदम भी लड़खड़ाते हैं। वह किसी तरह बड़के को खड़ा करना चाहता था। जानकी नाथ उन तक पहुँचते हैं। खड़े रहते हैं कुछ क्षण। अपने दोनों बेटों को इस आधा-अधेरा, आधी-रोशनी में देखते हैं। शराब की तेज महक उनके नथुनों से टकराती है। बड़ी मुश्किल से वे अपने को सम्हालते हैं।

'उठ बड़के····!' रुंधे गले से वह चीखते हैं।

'कौन है बे?' बड़के उनका हाथ झटक देता है।

'तेरा बाप!' जानकी नाथ की आवाज थर्राती है।

बड़के ने उनकी आवाज नहीं सुनी। वह उन्हें पहचान भी नहीं पाया।

'पापा, हम खुद चले जायेंगे!' मंझला शायद होश में था, 'आप अन्दर जाइये पापा!'

जानकी नाथ फिर भी खड़े रहते हैं।

'···· पापा, बिजनेस में घाटा हो रहा है,' मंझला उन्हें समझा रहा था, 'आपकी पूंजी घटते-घटते एकदम समाप्त हो गयी है। हम बहुत दुखी हैं पापा! बड़के ने गम गलत करने के लिए····मैंने तो छुआ तक नहीं पापा····!'

उनसे आगे कुछ सुना नहीं गया। वे वापस लौट आते हैं।

····दफ्तर में एक दिन अचानक उनकी तबीयत खराब हो गयी थी। तब

अवकाश-ग्रहण करने में तीन साल थे। अचानक सीने के एक कोने से टीस उठी थी और दर्द का एक सैलाब सारे सीने में फैल गया था। वह अपनी कुर्सी पर बेहोश हो गये थे। उन्हें उठाकर साथियों ने मैनेजिंग डायरेक्टर के शीत-ताप नियन्त्रित कमरे में लिटा दिया था। जब उन्होंने आँखें खोलीं तब लगभग सारा दफ्तर उन पर झुका था। उनके परम मित्र त्यागी का हाथ उनके सिर पर था। उसने कहा था, 'यार जानकी' क्यों तुम व्यर्थ में इस कोल्हू से जुते हुए हो! तीन-तीन लड़के हैं तुम्हारे! कितना बड़ा सहारा है! मारो गोली नौकरी को और·····'

उस दिन जानकी नाथ से आगे कुछ और सुना नहीं गया था। उन्होंने आँखें बन्द कर ली थीं।

□

'ऐ, कैसे लगती हूँ मैं इस साड़ी में—' आभा ने साड़ी किसी मॉडल की तरह लपेट रखी थी।

'ग्रेट!' कालू ने कहा था, 'यहाँ अच्छी साड़ी मिलती ही नहीं है। लेकिन जो भी मिली, उसी में तुम ग्रेट लगती हो!'

'मैं अब और तुमसे कुछ नहीं लूंगी,' ताड़ के एक लम्बे पेड़ के सहारे टिक कर आभा बोली थी, 'पापा कल माँ से पूछ रहे थे, यह साड़ी आभा को किसने दी?'

यादव दारोगा के लड़के ने अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर ठहाका लगाया था। फिर वह आभा के करीब आया था। करीब और, और करीब! उसका चेहरा आभा के चेहरे को छूने-सा लगा था। एक ठण्डी सिहरन आभा के शरीर के इस कोने से उस कोने तक दौड़ गयी थी। यादव दारोगा के लड़के ने आभा का चेहरा अपनी हथेलियों में थामा था। आभा की धड़कनें थमने-थमने को हुई थीं। और जब उसने उसे बाँहों में भर लिया तब आभा की धड़कनें थम-सी गई थीं।

'नहीं, अभी नहीं! ये सब नहीं—' आभा छटपटाई, फिर एक झटके में उसने अपने को मुक्त किया था।

'तुम तो एकदम अनपढ़ देहाती लड़की की तरह पेश आती हो!' यादव दारोगा का लड़का शायद नाराज था, 'इस गाँव की हवा तुम्हें भी लग गई है! पर तुम तो शहर से आई हो!'

आभा ने कुछ नहीं कहा था। यादव दारोगा के लड़के ने सिगरेट सुलगा ली थी।

'नाराज हो गये?' कुछ क्षण यूँ ही बीते तो आभा ने पूछा था।

'नहीं!' सिगरेट का धुंआ आसमान की ओर उछालते हुए उसने कहा था।

आभा ने चाहा कि वह ठहाका लगाकर हँसे। कालू नाराज है, पर

नाराजगी छिपाने की कोशिश कर रहा है। पहली बार उसे अपनी कीमत का अहसास हुआ। कालू उस पर फिदा है। उसकी एक मुस्कराहट, एक अदा, एक आरज़ू पर कालू फिल्मी हीरो की तरह सब कुछ न्योछावर कर सकता है।

'सुनो, मेरे पास आओ—' आभा ने हाथ के इशारे से कालू को बुलाया था।

यादव दारोगा के लड़के की आँखें चमकीं। अपने अभिनय क्षमता पर वह स्वयं मुग्ध हुआ था। यह लड़की धीरे-धीरे रास्ते पर आ रही है। बस, एक बार ही तो संकोच की दीवार तोड़नी है; फिर तो लट्टू की तरह उसके हाथ में नाचेगी।

'नहीं —' कालू ने भीगे स्वर में कहा था, 'मैं अच्छा लड़का नहीं हूँ न !'

'किसने कहा ?' आभा हैरान हो उठी।

'फिर तुम मुझसे अलग क्यों हुई ?' अबोध शिशु की तरह उसने यह पूछ लिया था।

'एकदम भोले हो तुम !' आभा खिलखिलाकर हँसी थी, 'कैसे बनोगे डाक्टर ?'

'नहीं बनूंगा डाक्टर—मैं कुछ नहीं बनूंगा····' यादव दारोगा के लड़के के सीने से एक लम्बी साँस निकली थी, 'जब मुझे कोई अपना समझता ही नहीं है···· !'

यह अन्तिम वाण था। कालू गोप ने बहुत सोच-समझ कर आभा नाम की एक शोख, चंचल, भावुक लड़की की ओर फेंका था।

'धत् पगले !' आभा ने दौड़कर कालू का कन्धा पकड़ लिया था, 'एक तुम ही तो हो जो इस गाँव में मुझे भाते हो ! तुम से जब मिलती हूँ, बातें करती हूँ, तब लगता है शहर के किसी रेस्तरां या कैफे में बैठ कर बातें कर रही हूँ। इसलिए भी तुम दो-तीन महीने ही रहते हो फिर चले जाते हो !'

तीर खाली नहीं गया था। यादव दारोगा का लड़का मन-ही-मन हँसा था—अब इस लड़की को कोई नहीं बचा सकता····गाँव के सूखे, नीरस दिन अब खत्म हुए लगता है···· उसने आभा को फिर बाँहों में भर लिया था। पर इस बार उसने कोई हरकत नहीं की। एक आवेश उसके चेहरे को छू रही थी। वह अब फूँक-फूँक कर कदम रखना चाह रहा था। आभा बहुत देर तक उसकी बाँहों में झूलती-सी रही।

'अब लौटें ! काफी देर हो गयी !'

'ठीक है,' कालू ने कहा था, 'कल फिर यहीं मिलूंगा !'

आभा जब जाने-जाने को हुई तब कालू ने कहा था, 'अबकी जब शहर से लौटूंगा तब तुम्हारे लिए 'जीन्स' लेता आऊँगा। साड़ी छोड़कर जब तुम जीन्स पहनोगी तब टॉप लगोगी—फिल्मों की हीरोइन की तरह !'

'रियली ?' आभा पीछे मुड़कर हँसी थी।

☐

'बस यही था, और कुछ नहीं रहा !' पत्नी ने हाथ से दो चूड़ियाँ निकाल उनकी हथेली पर रखीं।

जानकी नाथ ने पत्नी की खाली कलाई की ओर देखा था। दुबली-पतली कलाई ! उभरी हुई हड्डियाँ। चूड़ियों के बिना दोनों हाथ कंकाल के हाथों जैसे लग रहे थे।

'बड़के को कहा था ?'

'हाँ।'

'मंझले को ?'

'मंझले को भी—' पत्नी ने भरे गले से कहा था, 'छोटे को भी कहा था···· अब कोई हमारी नहीं सुनता। कोई यह नहीं सोचता, घर का खर्च कैसे चलेगा !'

जानकी नाथ खटिया पर बैठ गये थे। सोने की दो चूड़ियाँ थीं घर में। आज के बाद वे भी नहीं रहेंगी। पर सब दिन ऐसे नहीं थे। छोटकु की सास ने न जाने कितने जेवर दिये थे ! ससुर ने भी—सब एक-एक कर चले गये।

'स्टेशन के पास वाले सोनार के यहाँ जाना। वह खरीद लेगा,' पत्नी रो रही थी, 'चावल लेते आना लौटते वक्त, कुछ और सामान भी !'

'यहाँ बैठ छोटकु !' जानकी नाथ ने पत्नी को पास बिठाया था, पर जानकी नाथ से आगे कुछ नहीं कहा गया। पहले-पहल जब-जब छोटकु रोती थी, जानकी नाथ दिलासा देते थे, 'जी छोटा मत करो···सब ठीक हो जायगा····!' अब ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे जानते हैं, अब कभी कुछ ठीक नहीं होगा। उस छोटे-से कंकड़ ने जानकी नाथ को एक मँजा हुआ खिलाड़ी बनने नहीं दिया था। लेकिन उन्हें लगता है, उस कंकड़ ने उनका पीछा नहीं छोड़ा है। जीवन भर हर वक्त, हर क्षण वह छोटा-सा कंकड़ उनके रास्ते में खड़ा होता रहा है और सब कुछ तहस-नहस करता रहा है।

पत्नी रोती रही। चेहरा हथेलियों में ढका था। वह झुक गयी थी। रीढ़ की सूखी हड्डियाँ काँप रही थीं। पके-अधपके केश सूखे चेहरे पर बिखर आए थे। पत्नी को उन्होंने दिलासा नहीं दिया। क्या कहें उस से ! धीरे-धीरे सब कुछ कहने-सुनने के बाहर होता जा रहा है। जानकी नाथ चारपाई से उठ गये। धोती बदली। कुर्ता चढ़ाया और घर से बाहर निकल आए।

आषाढ़ का मेघ सिर के ऊपर था। धूप तेज नहीं थी। हवा में नमी थी। जानकी नाथ ने चलते-चलते मिट्टी की सोंधी महक महसूस की। स्टेशन पीछे छूट गया। महाबीरथान भी। महाबीरथान के ऊपर एक झण्डा हवा में लहरा रहा था। बच्चे चबूतरे पर बैठे थे। कुछ गुल्ली-डण्डा खेल रहे थे। जानकी नाथ चलते रहे। चलते-चलते अचानक रुक गये। दूर नीली कमीज के साथ हवा में लहराती पीली साड़ी उन्होंने देख ली थी। आभा और यादव दारोगा के लड़के ने उन्हें देखा नहीं था। उन पर नजर पड़ते ही उन दोनों ने रास्ता बदल लिया। खड़े-खड़े जानकी नाथ ने जेब में

पड़ी दो चूड़ियों को एक बार टटोल लिया। आँखों से चश्मा उतार कर कुर्ते की छोर से शीशा पोंछ लिया। उन दोनों को एक साथ देखते ही उनकी धड़कनें तेज होने लगीं थीं। खड़े-खड़े उन्होंने गहरी साँस खींची। उन्हें थोड़ी-सी राहत मिली। वह आगे बढ़ गये। पास ही सोनार की दुकान थी।

सोनार बड़ी देर तक उन चूड़ियों को परखता रहा, फिर कुछ नोट उसने जानकी नाथ की ओर बढ़ाये।

'बस ?' जानकी नाथ हैरान थे।

'हम तो इतना ही दे सकते हैं लाला जी !' सोनार ने अपनी लाचारी व्यक्त की, 'वैसे इसकी कीमत ज्यादा मिल सकती है। पास ही ग्रैण्ड साहब के अहाते में मेला लगा है वहाँ कई दुकानें हैं। आप वहाँ क्यों नहीं जाते ?'

'जाऊँगा....' उन्होंने नोट लौटा दिये थे, 'वहीं जाऊँगा भाई !'

ग्रैण्ड साहब का अहाता दूर नहीं था। साहब तो अब नहीं रहे, पर उनका विशाल बाग अब भी ज्यों-का-त्यों था। मेला, मीना बाजार या रामलीला का आयोजन यहीं होता रहता है।

दूर से ही उन्होंने विशाल चर्खी को ऊपर-नीचे घूमते देख लिया था। चर्खी से झूला लटका था। लोग झूले पर बैठे थे। उनके हाथ हवा में हिल रहे थे। चेहरे पर मुस्कराहट थी। हँसी, किलकारियों और ठहाकों से वातावरण गूँज रहा था। जानकी नाथ अहाते के अन्दर आये। पास ही 'बिजली की लड़की' की नुमाइश थी। दूर, एक किनारे 'बंगाल के जादू' का बड़ा-सा इश्तहार था। इत्र, खुशबू, मिठाई और चाट की दुकानें थीं। निशाना साधने वाले राइफल में गोलियाँ भर कर गुब्बारों पर दाग रहे थे। मेले के बीचोंबीच एक ऊँची सीढ़ी बनी थी। ठीक सामने एक चौकोर टंकी पानी से भरी थी। रोज शाम को यहाँ 'मौत की छलांग' लगाई जाती है। एक आदमी बदन में आग लगाकर छलांग लगाता है। जानकी नाथ ने यह सुना तो दंग रह गये।

दूर-दूर के गाँव से लोग आये हैं। अपरिचित आँखों में कुतूहल है। उनकी रंगीन पोशाकें हवा में लहरा रही हैं। बच्चे मिठाई और गुब्बारों के लिए मचलते हैं। जादूगर खेल-तमाशे दिखाकर भीड़ को अपनी ओर खींचता है। जानकी नाथ मुग्ध नेत्रों से यह सब देखते हैं। अचानक वह अपने अन्दर एक हल्कापन-सा महसूस करते हैं। मेले में आये शिशुओं का कुतूहल, रंगीन पोशाकें, भीड़, रंग, हवा, बादल और शोर-शराबा जैसे उन्हें एक दूसरी दुनिया में ले आता है। वह मेले का एक छोटा-सा हिस्सा बन जाते हैं। जल्दी-जल्दी दोनों चूड़ियाँ बेचते हैं। उन्हें अच्छी कीमत मिल जाती है। रुपये जेब में रखते हैं और गोलाकार घूमते हुए काठ के हवाई-घोड़े के पास आ ठहरते हैं।

'आइए साहब, आपको सैर कराएँ !' कोई एक उधर से आवाज देता है। वह देखते हैं—बच्चे घोड़ों पर बैठे हैं। कुछ जगहें खाली हैं। जानकी नाथ को न

जाने क्या सूझता है कि वह उस आदमी के साथ हवाई-घोड़े की ओर बढ़ जाते हैं। वह आदमी उन्हें घोड़े पर बैठाता है। क्षण भर में सारी जगहें भर जाती हैं। घोड़ा गोलाकार घूमने लगता है। जानकी नाथ के चेहरे से जैसे खुशियाँ टपकने सी लगती हैं। वह आगे-पीछे देखते हैं। बच्चे खुशी से झूम रहे हैं। जानकी नाथ उन बच्चों की किलकारियों में खो जाते हैं।

छायाएँ जब लम्बी हो चलीं, मेले में जब यहाँ-वहाँ एकाध बत्तियाँ जल उठीं, गहराते मेघों के बीच से चमकती धूप ने जब रंग बदला तब जानकी नाथ मेले से बाहर आये। मेले से निकले तो फिर अपनी दुनिया में वापस आ गये। उन्हें लगा था, कुछ घण्टों के लिए वह सब कुछ भूल गये हैं। किसी अदृश्य शक्ति ने जैसे उन्हें बाँध रखा है—पतंग जिस तरह डोर से बँधी रहती है। जब तक वह मेले में थे, पतंग की डोर में बेइन्तहा ढील दी जा रही थी और वह धूसर नीलाभ आकाश में तैर रहे थे। मेले से बाहर आते ही जैसे वह अदृश्य शक्ति अपनी डोर समेट रही हो! जानकी नाथ दुःखी हो उठे।

घर के पास पहुँच कर एक किराने की दुकान पर वह रुके। चावल खरीदना है। वह दुकानदार से चावल तौलने के लिए कहते हैं। दुकानदार सौदा तौल कर उनकी ओर बढ़ाता है। जानकी नाथ रुपये निकालने के लिए जैसे ही कुर्त्ते की जेब में हाथ डालते हैं, हाथ की अंगुलियाँ खाली जेब की दीवारों से टकराकर रह जाती हैं। दूसरा हाथ, दूसरी जेब में डालते हैं। वह भी खाली! ऊपर की जेब भी खाली! जानकी नाथ अपनी शिराओं में ठण्डापन महसूस करते हैं। कमर की बूढ़ी हड्डियों का दर्द फिर सीने में फैलने लगता है। बड़ी मुश्किल से कह पाते हैं, 'किसी ने रुपये निकाल लिये····!' दुकानदार फिर भी सौदा उन्हें देना चाहता है, पर जानकी नाथ इनकार कर उसका शुक्रिया अदा करते हैं और आगे बढ़ जाते हैं।

काफी रात गये वह घर पहुँचते हैं। हारे-थके-से बरामदे पर बैठ जाते हैं—चुपचाप। कुछ देर के बाद पत्नी बाहर झाँकने आती है। उन्हें अन्दर बुलाती है। जानकी नाथ हाथ-मुँह धोते हैं। पत्नी कुछ भी नहीं पूछती। नाराज भी नहीं होती। भोजन की थाली चुपचाप उनकी ओर बढ़ाती है। वह देखते हैं—थाली में चावल और सब्जी है।

'कहाँ से आया चावल ?' वह अब बोलते हैं।

'आभा ले आई !' पत्नी ने किसी तरह कहा।

'कहाँ से ?'

पत्नी चुप।

'कहाँ से ? क्या आभा कमाती है ?' न जाने क्यों शान्त जानकी नाथ एकाएक दहाड़ उठते हैं, 'छोटकु, बता कहाँ से ले आई आभा चावल !'

'मैं नहीं जानती····आभा ने मुझे नहीं बताया !' पत्नी का निःस्पृह स्वर था।

'बड़के ने ये चावल खाये ?'

'हाँ।'

'मंझले ने ?'

'हाँ।'

'छोटे ने ?'

'हाँ-हाँ-हाँ····।' पत्नी की आवाज विकृत हो उठी थी।

थाली उठाकर जानकी नाथ ने एक ओर फेंक दी और कमरे से बाहर निकल गये।

□

आषाढ़ के काले-काले मेघ झुक आये हैं। दूर-दूर तक रोशनी सिमटी है। धुंधला-धुंधला-सा लगने लगता है सब कुछ। हवा के झोंकों के साथ वर्षा की बूंदें एक तरन्नुम का अहसास देती हुई बरसती रहती हैं। जानकी नाथ बरामदे में बैठे-बैठे बारिश देखते हैं। वह देखते हैं—मकान के सामने बालू का ढेर भीग रहा है। वह देखते हैं, पत्थरों का टुकड़ा कुछ और दूर तक बिखर गया है और लोहे की सलाखें जमीन में धँसती जा रही हैं।

फिर भी वह बरामदे में बैठे रहते हैं। उनकी दुनिया जैसे सिमट कर बरामदे में आ गई है। मायागंज-हॉल्ट पर गाड़ियाँ आती हैं और चली जाती हैं। फिर आती हैं। वर्षा के बाद जाड़ा आता है। जानकी नाथ वहीं बैठे-बैठे शीतकाल का कुहासा देखते हैं। भोर के थिरकते तारे को देखते हैं, मायावी चाँदनी में हौले-हौले तैरते बादलों के टुकड़ों को देखते हैं। मौसम बदलता है, पर जानकी नाथ वहीं बैठे रहते हैं। उसी तरह चैत की आंधी देखते हैं। जेठ के तपते सूरज को भी देखते हैं।

वैसे ही बैठे-बैठे एक दिन जानकी नाथ को कमरे के अन्दर एक दबी सिसकी सुनाई देती है। न चाहते हुए भी वह अन्दर जाते हैं। बिस्तर पर औंधी लेटी छोटकु रो रही है। चारपाई के पास आकर पत्नी के सिर पर हाथ रखते हैं। पत्नी की हिचकियाँ तेज होती हैं, फिर धीमी। और फिर अचानक उसी तरह रोती हुई कहती है, 'मुझे जहर ला दो····अब मुँह दिखाने के काबिल भी न रहे!'

जानकी नाथ चुप थे। बाहर शेष होती हुई रोशनी जैसे उन्हें बुला रही थी वह कमरे के अन्दर बेचैनी महसूस कर रहे थे।

'कलमुँही माँ बनने वाली है!'

'क्या ?' जैसे एक हथौड़ा सीने से आ टकराया। वह चारपाई पर बैठ गये थे। पत्नी रो रही थी।

दिन ढला। शाम हुई, फिर रात। और उसी रात जब भोर का तारा खूब चमक रहा था, चाँद अपने पीले प्रकाश को समेटने को ही था, दूर-दूर तक खामोशी की

चादर बिछी हुई थी, जानकी नाथ चुपचाप बिस्तर से उठे। बहुत धीरे-से उन्होंने छोटकु को जगाया था। वह जैसे तैयार ही थी। अपना दुर्बल हाथ उन्होंने जानकी नाथ की ओर बढ़ाया था। जानकी नाथ ने काँपते हाथों से हड्डियों के इस ढाँचे को सम्भाला और उस अधबने मकान से बाहर निकल आये थे।

बालू के ढेर में उनके पैर धँस गये थे। पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़ों पर कदम लड़खड़ा रहे थे। लोहे की छड़ों ने भी जैसे उनका रास्ता रोका था, पर वे दोनों आगे बढ़ रहे थे। आगे बढ़ते हुए वे दोनों कुछ बुदबुदा रहे थे, जैसे बच्चों को आशीष दे रहे हों।

मायागंज हॉल्ट पीछे छूट गया था। खेत, मैदान, गाँव पीछे छूट गये थे। वे चलते रहे। कितने पहाड़, कितनी नदियाँ, कितने झरने! चलते-चलते वे पहाड़ देखते, धूप में सोई नदी देखते, झरनों से फूटता सतरंगी इन्द्रधनुष देखते। उनके सामने अनन्त, असीम विस्तार था। झिलमिलाती रोशनी के पेड़ थे, नक्षत्रों का समारोह था। उनके सामने खुशियों का कभी न खत्म होने वाला एक अंतहीन सिलसिला था। फिर उनका दायरा और व्यापक हुआ। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, बन कर वे आकाश गंगा में अलौकिक प्रकाश-पुंज बनकर झिलमिलाने लगे थे। महाशून्य में लीन होने से पहले उन दोनों ने एक बार फिर कुछ कहा था, जैसे अपने बच्चों को आशीर्वाद दे रहे हों।

उन दोनों द्वारा उच्चारित शब्द उस असीम विस्तार में लीन नहीं हुआ था। सैकड़ों, हजारों मील की दूरी तय करके, नदी, पहाड़, झरने लाँघकर ये शब्द किसी सौरभ की तरह उस अधबने मकान तक पहुँचे थे और उस मकान की खिड़कियों से, दरवाजों से, टकरा कर ईंट, पत्थर और बालू के ढेर में घुलमिल गये थे।

[साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 8 अगस्त 1976]

इब्राहीम शरीफ

फैसले के बाद

चेहलम के दूसरे ही दिन से राबिया की परेशानियाँ दुगुनी हो गयीं। हालांकि उसके पति के रहते हुए भी इस तरह की परेशानियाँ हुआ करती थीं लेकिन उनको दूर करने की सारी जिम्मेदारी अकेली राबिया की नहीं होती थी। ऐसे में, ज्यादा से ज्यादा वह पति की इधर-उधर की झल्लाहट को चुपचाप सह लेती और थोड़ी देर बाद उल्टे पति को सब्र की ऊँची-ऊँची बातों से सांत्वना देती या भूखे बच्चों को पानी पिलाकर, बेहद आकर्षक परियों की कहानियों के भुलावे में डालकर रात भर के लिए सुला देती या बहुत नहीं तो कुलसुम खाला को किसी के घर भेजकर दो-चार फुलके मंगवा लेती ताकि कम से कम बच्चों को चुप कराया जा सके। इसके अलावा राबिया ने पति के रहते हुए यह नहीं महसूस किया कि अगले दिन की रोटी-दाल जुटाने में उसे कुछ करना है। न वह ऐसा कुछ कर सकती थी और न ही करने की जरूरत होती थी। इस सबको लेकर नीचे-ऊपर होने वाला उसका पति था जो या तो किसी से कुछ मांग-मूंग कर चूल्हा गरम करता या एकाध ऐसे किसी मरीज को खोज निकालता जिसे जुलाब की गोलियों की, बुखार के काढ़े की या बुरी हवा से बचने के लिए ताबीज-गण्डे की जरूरत होती। इस जुगाड़ में कुछ न कुछ मिल जाता और दो-चार रोज न सही, दो-एक जून के लिए खाना मयस्सर हो जाता। इस सबके बीच राबिया का काम फुलके सेंकना होता, दाल छौंकना होता, सालन बनाना होता और पति बच्चों को खिला चुकने के बाद दो-चार कौर कम-ज्यादा निगलकर अगले दिन के अन्धेरे के बारे में सोचते हुए सो रहना होता। मगर अब····राबिया ने छोटे बच्चे की उघड़ी हुई टांगों पर चादर ओढ़ा दी और वहीं बैठी सोचने लगी····।

उसके पति को मरे आज इक्तालिसवाँ दिन था। कल ही चेहलम हुआ था और कल तक राबिया ने अपने तीन बच्चों के साथ जैसे-तैसे चला लिया था। एक तो मौत का घर था, इसलिए लोगों की हमदर्दी खैर-ख्वाही कुछ न कुछ साथ ले आती थी। कोई औरत दुःख विचारने आयी, साथ में सेर-आधा सेर आटा ले आयी। कोई रहमदिल राबिया के सूने हाथों को देखकर आह भरने आयी, झोले में थोड़ी सी खेत की मूंगफली लेती आयी। कोई पड़ोसिन अपने बच्चे के लिए हाजमे की

गोली लेने आयी तो कटोरे में थोड़ा सालन और रूखे-सूखे ही सही, चार-छः फुलके बाँध लायी। इस आरक-जारक में राबिया का भरा हुआ दिल भी थोड़ी देर के लिए हल्का हो जाता और बच्चों के और अपने सूखे हलक भी भीग जाते।

इस सबके अलावा चेहलम के दस दिन पहले ही गाँव वालों ने सभी मोतबर लोगों के यहाँ से चन्दा इकट्ठा किया था, थोड़ा सा गेहूँ, चावल, दाल, घी, मिर्च-मसाला और ऊपर से कुछ रुपये। आखिर, मरहूम की ठीक तरह से चेहलम की रस्म पूरी करने की गाँव के सारे मजहबी लोगों की जिम्मेदारी जो थी। गाँव में अकेले ही तो ऊँचे खानदान के शख्स थे जिनके दादे-परदादे और लोगों के दादा-परदादाओं की तरह देशी न होकर विदेशी थे, सीधे अरब से आये हुए। राबिया के पति के चेहरे पर वह जलवा भी था। ऊँची नाक, पतले होंठ, खुला हुआ रंग, लम्बा कद और नूरानी चेहरा। गहरी काली दाढ़ी में वह एकदम औलियाई रुतबा के लगते। कुरान की तिलाअत खूब उम्दा अन्दाज में करते और कुतबे की नमाज में लोगों के दिल और दिमाग को कुदरती माहौल में पहुँचाकर सुन्न कर देते। हकीम भी इतने पहुँचे हुए थे कि अपने हाथ से चुटकी भर राख भी दे देते तो बड़े से बड़ा मर्ज हवा हो जाता। उनके पास कई गैबी ताकतें भी थीं। किसके जिस्म पर किस जिन, भूत, शैतान का साया है, चेहरा देखते ही भाँप लेते और ऐसा गण्डा-ताबीज करते कि बुरी बलाओं के जबड़ों में फँसा हुआ आदमी भी दो ही चार रोज में भला-चंगा हो उठता और आराम की जिन्दगी गुजारने लगता। उन्होंने अपनी जिन्दगी में कितने लोगों को मौत के मुँह से निजात दिलायी, कितनी बाँझों की झोलियाँ भरीं, कितने भटके हुए लोगों को सही रास्ते पर लगाया, कितने काफिरों के दिल में खुदा का खौफ जगाया। ऐसे आला दर्जे के इन्सान का चेहलम हम लोग न करें तो कल मरकर खुदा को क्या जवाब देंगे ? लोगों ने आपस में सोचा और चन्दा वसूल करने में जुट गये। मरहूम के तईं लोगों की मुहब्बत और इज्जत का ही नतीजा था कि चेहलम भी बाकायदा मनाया गया और चालीस दिन तक राबिया और उसके बच्चों को भी मोटा-झोटा खाने को मिलता रहा। पता नहीं रात कितनी गुजर गयी। राबिया बेसुध सोते हुए अपने तीनों बच्चों के पास बैठी जाने कब तक अपने गुजरे और आने वाले दिनों के बारे में सोचती रही। इसके बावजूद जब उसे कोई बात हौसला देने वाली नहीं लगी तो वहाँ से उठकर थोड़ा पानी पी आयी और बगल के ओसारे में सोती हुई कुलसुम खाला के खर्राटों की आवाज सुनती हुई बच्चों की बगल में लेट गयी।

सवेरे चार-छह झापड़ खाने के बाद भी जब छोटे बच्चे ने रोना बन्द नहीं किया तो रुआंसी होकर राबिया बोली, 'कुलसुम खाला, कुछ दिन पहले तू बता रही थी न, मरियम बू कहाँ काम करती है ?'

शायद बच्चे के रोने की आवाज में कुलसुम खाला को कुछ सुनायी नहीं दिया। वह उसी तरह अपने लहंगे की फटी हुई कोर सीने में मशगूल रही। राबिया

ने बच्चे के गाल पर एक झापड़ और रसीद किया तो वह जमीन पर पड़कर लोटने लगा। कुलसुम खाला से बच्चे का इस तरह रोना देखा नहीं गया। वह उठी, सुई ओसारे की ओलथी में कहीं खोंस दी और बड़बड़ाती हुई अपने कमजोर हाथों से बच्चे को उठाने लगी, 'रोओ नहीं, बेटे····सुबह-सुबह क्यों रो रहे हो ?'

बच्चे ने एक नहीं मानी और उसी तरह जमीन पर लेटा रोता रहा। राबिया का बड़ा लड़का और लड़की अपने बिछौनों पर ही बैठे सहमे-सहमे से अपने भाई और कुलसुम खाला को देखते रहे। कुलसुम खाला रोते हुए बच्चे के पास उकड़ूं बैठ गयी और अपने-आप दुबारा बड़बड़ाने लगी, 'पता नहीं अल्लाह मियाँ का तुम लोगों ने क्या बिगाड़ा····उसने साहब को उठा लिया····अरे, मुझे बुला लेता, मेरा है ही कौन जिसके लिए मैं जियूं····नहीं, इन छोटे-छोटे मासूमों के सिर का साया छीनने ही में उसे मजा आता है····ऐ खुदा, तेरा राज तू ही जाने····रोओ नहीं, बेटे ····मैं कहती हूँ, क्या यह उनके मरने की उमर थी····मौत भी क्या, अच्छी खासी बातें कर रहे थे कि सो गये····या रब, ऐसा कहर न ढाता····इन बच्चों ने तेरा क्या बिगाड़ा था ?'

बच्चे ने रोने की आवाज थोड़ी धीमी की तो राबिया ने अपना सवाल दुहराया, 'कुलसुम खाला, मैं क्या पूछ रही हूँ ? मरियम बू कहाँ काम करती है ?'

कुलसुम खाला ने अपनी धुंधली नजर से राबिया की तरफ देखा। बोली, 'वह तो बीबी, चौबे जी के खेत में काम करती है····काम क्या है बीवी, मूंगफली के पौधे उखाड़ो····दिन के ढाई रुपये मिलते हैं, इसी से तो बेचारी पेट पाल रही है····।'

'क्या यह काम बहुत दिन चलेगा ?' राबिया ने पूछा।

'चलेगा, बीबी····वहाँ खतम हुआ तो और भी तो खेत हैं····कुछ मिलता ही रहेगा।'

'तो कुलसुम खाला, मरियम बू से कह आना, कल से मैं भी उसी काम पर जाऊँगी····।'

'जी····!' कुलसुम खाला राबिया की यह बात सुनते ही ऐसे उठ खड़ी हुई जैसे उसके पैरों के बीच कोई सांप आ गया हो। 'क्या कहा बीबी आपने !'

'कल मैं भी खेत पर काम करने जाऊँगी····साथ में जीलानी भी जायेगा···· तुम दोनों बच्चों को सम्भाल लेना····जीलानी भी तो अब तेरह साल का हो गया है, दोनों काम करेंगे तो रोज के पाँच रुपये मिलेंगे····।'

कुलसुम खाला के बहुत देर तक बोल नहीं फूटे। वह उसी तरह जमीन पर लेटे हुए बच्चे के पास खड़ी राबिया को आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगी। जब उसका मुंह खुला तो सिर्फ उसने इतना कहा, 'बीबी आपको पता है, आप क्या कह रही हैं ?'

राबिया को पता था वह क्या कर रही है, और उसे यह भी पता था कि वह बहुत बड़ी बात कह रही है। यदि अनवर हुसैन चिश्ती की बीवी घर से बाहर

निकले और खेत में जाकर मजदूरी करे, यह वाकई बड़ी बात थी। चिश्ती खानदान के पास कभी दौलत नहीं थी तो क्या हुआ, गाँव का सबसे इज्जतदार खानदान यही तो था। इस घर की बहू-बच्चियों का साया तक किसी ने आज तक नहीं देखा। लोग कहते हैं इस घर से औरत तभी बाहर निकलती है जब वह मरकर लाश बन जाती है। वरना आज तक गाँव के किसी आदमी ने चिश्ती खानदान की औरतों की झलक तक नहीं पायी है। उसको भी बीस-बाईस साल हो गये इस घर में आये। बस-मायके गयी तो देहलीज के बाहर कदम रखा है, वरना नहीं। वह भी पर्देदार गाड़ी में, अपना पैर तक किसी को दिखाये बगैर। ऐसे खानदान की बहू राबिया खेत पर बेपर्दा होकर काम करने जायेगी ?

'बीबी आपको पता है, आप क्या कह रही हैं ?' कुलसुम खाला से दुबारा सिर्फ इतना ही कहा गया। दरअसल राबिया की बात सुनने के बाद उसके सोचने और भरोसा करने की ताकत कुछ ऐसी ढीली पड़ गयी जैसे कब्र से उठकर अनवर हुसैन चिश्ती सीधे घर चले आये हों और भौंचक निगाहों से वह उन्हें देखकर कुछ कहने और न कहने के शशोपंज में फँसकर रह गयी हो।

राबिया ने उसे समझाते हुए कहा, 'अब किया भी क्या जाये, कुलसुम खाला ....बच्चों को पालना भी तो है....मैं भी कब तक भूखी रह सकती हूँ ?'

'फिर भी बीबी, आप....?'

'हाँ, कुलसुम खाला, मैं कल से काम पर जाऊँगी....।'

कुलसुम खाला दुबारा वहीं बैठ गयीं। इस बीच जमीन पर लेटा हुआ बच्चा भी उठकर बैठ गया था। उसके गालों पर बहे हुए आँसुओं की धार सूख गयी थी। कुलसुम खाला दुबारा अपने आप बड़बड़ाने लगी, 'या खुदा, बन्दा करीम, यह तू क्या सुना रहा है....इस खानदान की बहू खेत में काम करने जायेगी....क्या तुझे अपने प्यारे बन्दों की इज्जत-आबरू का ख्याल नहीं है....? परवरदिगार, ऐसा कहर मत ढा....मेरी इस बूढ़ी जान को मत सता....मैंने उस खानदान की बाँदीगिरी की है ....मेरी आँखों के सामने इस खानदान की इज्जत मत लूट....मेरे अल्लाह....मेरे खुदा....।'

राबिया अपने और बच्चों के बिस्तर समेटने लग गयी थी। उसने बिस्तर तह करके एक तरफ रखते हुए कहा, 'इसमें ऐसी कौन सी बात है, कुलसुम खाला....लोग अपना पेट पालने के लिए काम तो करते हैं ?'

'ना बीबी, खुदा के वास्ते ऐसा मत कहिए। पहले मेरी लाश उठाइये और बाद में आप दहलीज से बाहर कदम रखिए....यह शर्मनाक बात कहेंगे तो गाँव के लोग क्या कहेंगे....? सारे दीन की इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी....खुदा के वास्ते आप ऐसा मत कहिए....।'

राबिया ने जमीन पर बैठे हुए बच्चे को गोद में उठा लिया और उसके गालों पर हाथ फेरते हुए बोली, 'कुलसुम खाला, देखा नहीं, यह मासूम सुबह-सुबह

भूख के मारे कैसे रो रहा है ? मैं इसे ऐसे कब तक सम्भालूंगी ?'

'सब्र कीजिए, बीबी····आप तो ऊँचे ख़ानदान की हैं—हम जैसे मामूली लोगों की तरह दिल को छोटा करना आपको नहीं सुहाता····सब्र····।'

शायद राबिया को कुलसुम खाला का इस तरह समझाना अच्छा नहीं लगा। वह अपनी फितरत के खिलाफ आवाज में थोड़ी-सी झुंझलाहट भरते हुए बोली, 'सारी जिन्दगी सब्र ही किया है, कुलसुम खाला····क्या तुमे पता नहीं कि मैंने जिन्दगी में सब्र के सिवा कुछ नहीं किया है ? अब सब्र के साथ-साथ मेहनत भी करनी पड़ेगी, कुलसुम खाला····अब सिर्फ सब्र से काम नहीं चलेगा।'

कुलसुम खाला की अकल अब तक लौट आयी थी। वह अपने दोनों घुटनों पर हाथ रखकर तकलीफ से उठती हुई बोली, 'बीबी मेरी क्या हैसियत है कि मैं आपको समझाऊँ····! लेकिन इतना जान लीजिए कि आपने दहलीज के बाहर कदम रखा तो गाँव में आग लग जायेगी····फिर कोई इज्जतदार आदमी गाँव में नहीं रहेगा····।' शायद उससे और कुछ कहा नहीं गया। वह पैर घसीटती हुई ओसारे में जाकर बैठ गयी।

बच्चा दुबारा रोने लग गया था। दोनों बड़े बच्चे उठकर हाथ-मुँह धोने और निपटने चले गये थे। राबिया बच्चे को जमीन पर उतार कर कोठरी के अन्दर गयी, शायद बच्चे के लिए कोई खाने की चीज ढूंढ़ने-टटोलने के लिए। अब तक भी कुलसुम खाला के दिमाग ने सहज ढंग से काम करना शुरू नहीं किया था। सिर्फ राबिया की बातें उसके दिमाग में चक्कर काट रही थीं, आड़ी-तिरछी। वह वहाँ ज्यादा देर बैठी न रह सकी। वहाँ से उठी, बाहर आँगन में आकर खड़ी हो गयी, रोते हुए बच्चे को एकटक देखती हुई। जब राबिया बाहर आयी तो उसके हाथ में गुड़ का एक छोटा-सा टुकड़ा था। उसने वह टुकड़ा बच्चे के हाथ में थमा दिया और बेहद अफसोस-भरे लहजे में बोली, 'इन बच्चों का भूखों मरना मुझसे देखा नहीं जायेगा, कुलसुम खाला····वो होते तो और बात थी····अब मैं इन मासूमों की मौत का जुर्म अपने सिर पर नहीं ले सकती।'

कुलसुम खाला की तर्कशक्ति जवाब दे गयी थी। वह धीरे-धीरे सुबकने लगी। जैसे अभी-अभी अनवर हुसैन चिश्ती की सांस रुक गयी हो। थोड़ी देर वह उसी तरह वहाँ खड़ी रही और उसके बाद पूरे आक्रोश में भरकर बोली, 'बीबी, इस खानदान के बच्चों को जिन्दा रखने का फर्ज क्या गाँव वालों का नहीं है ? मैं जाकर गाँव वालों से पूछती हूँ····देखती हूँ, वो खुद कैसे अपनी नाक कटवाते हैं···· अगर गाँव वालों ने बच्चों के और आपके लिए कुछ नहीं किया तो थू है उन पर···· आज जुमा है न, बीबी····आज गाँव के सभी लोग मस्जिद में मिलेंगे····मैं जाके लोगों से कहती हूँ, अपनी इज्जत बचा लो, वरना इस आला खानदान की बहू खेत में काम करने जायेगी····देखती हूँ लोगों में इज्जत-हया बची है कि नहीं।'

ये सारी बातें सुनकर राबिया ने कोई जवाब नहीं दिया। शायद उसके दिल

के किसी कोने में थोड़ी-सी आशा जगी थी कि कुलसुम खाला की बातों से गाँव वाले पसीज जायेंगे और बच्चों के लिए कुछ न कुछ करेंगे। वह दुबारा कोठरी के अन्दर चली गयी।

कोई दो बजे जब कुलसुम खाला मस्जिद से लौटी तो धूप में चलने की वजह से उसके बूढ़े चेहरे पर पसीना भरा हुआ था और हवाइयाँ उड़ रही थीं। राबिया का छोटा बच्चा औंधा पड़ा सो रहा था, और बड़ा लड़का वहीं बैठा कोई किताब पढ़ रहा था। लड़की कोठरी के अन्दर कुछ काम कर रही थी। राबिया पल्लू से सिर ढके किसी बहुत पुरानी किताब पर झुकी हुई थी। कुलसुम खाला आकर उनके पास बैठ गयी। बहुत देर तक कोई कुछ नहीं बोला।

काफी देर बाद कुलसुम खाला अपने आप बड़बड़ायी, 'आग लग जाये गाँव वालों को····किसी मुए ने कुछ नहीं कहा····।'

राबिया ने किताब पर से नजर उठायी और कुलसुम खाला की तरफ देखा। बूढ़ी बड़बड़ाये जा रही थी, 'अब यह जमाना बहुत दिन नहीं चलेगा····जहाँ लोगों में इज्जत-आबरू का ख्याल नहीं है, वहाँ खुदा का रहम कहाँ होगा····मैं कहती हूँ यह दुनियाँ तबाह हो जायेगी····।'

'आखिर बात क्या हो गयी, कुलसुम खाला ?' राबिया ने किताब बन्द कर दी।

'बात क्या है, बीबी, खुदा का कहर टूटने वाला है····।'

'तू सीधी बात क्यों नहीं करती ? आखिर हुआ क्या ?'

'होता क्या, बीबी ! किसी मुए ने कुछ नहीं कहा····बस सभी यही कहते रहे कि चिश्ती खानदान की कोई औरत घर के बाहर कदम नहीं रख सकती····।'

'तूने क्या लोगों को बताया कि····?'

कुलसुम खाला ने बात बीच ही में पकड़ ली। ऊँची आवाज में कहने लगी, 'बताया सब कुछ है, बीबी····मगर किसी करमजले के मुँह से यह नहीं निकला कि हम उनके खाने-पीने का कुछ न कुछ करेंगे····वह मरा रहीम खाँ कितना पैसे वाला है····अहमद मियाँ, शौकत अली, वह कादिर बेग—किसके पास पैसे की कमी है ? मरों के यहाँ रुपया सड़ रहा है····लेकिन किसी का दिल हो, तब न····ऊपर से कमीने कहते हैं, यह उनकी इज्जत का सवाल है, इसलिए आपको घर के बाहर निकलने नहीं देंगे····।'

राबिया वहाँ से उठी। पास के आले में किताब रख दी। लौटकर अपने बड़े लड़के के पास बैठ गयी। धीमी, मगर मजबूत आवाज में बोली, 'कुलसुम खाला, फिकर करने दे उन लोगों को अपनी इज्जत की····मुझे तो अपने बच्चों की और अपनी जिन्दगी की फिकर है····तू शाम को चौबे बाबू से कह दे, कल से मैं और मेरा बच्चा उनके खेत पर काम करने आयेंगे····कल की मजदूरी से दो रुपये भी माँग ला····।'

कुलसुम खाला ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला, लेकिन तब तक राबिया का छोटा बच्चा जग गया था और हाथ-पैर झाड़कर जोर-जोर से रोने लग गया था। सिर्फ राबिया को पता था, घर में अब गुड़ का चूरा भी बचा नहीं रह गया था जिससे रोते हुए बच्चे को चुप कराया जा सके।

[योजना, 7 जून 1976]

चित्रा मुद्गल

अग्निरेखा

लगता है, 'वह' आवाज न होकर एक 'चीख' बन गयी है, जो घर के जमे हुए सन्नाटे को अकसर तोड़ती रहती है। कभी-कभी उसे ऐसा भी महसूस होता है कि उसके आस-पास भयानक चीखों की बेशुमार भीड़ इकट्ठी हो गयी है जिनके तीखे स्वर वह खुद नहीं सुन पाती। कोशिश करके भी अपनी आवाज को नहीं पहचान पाती, उसे आश्चर्य होता है, पता नहीं कब, कैसे, इन सबके मायने बदल गये हैं जो कभी उसके अपने नहीं थे, या शायद, उसी की खातिर बदल दिये गये हैं और अकसर उसे यह समझाने की चेष्टा हर कोई करता है कि जो कुछ 'वह' सोचती है, उसका मायना यह था, वह नहीं, जो कुछ वह सोचती है। उसे यह सब इतना अधिक असहनीय लगता है जैसे वह सिर्फ उन लोगों का 'समझाना' मात्र बन कर रह गयी है, जो वह कभी नहीं रहना चाहती····

बिस्तर पर पड़े-पड़े उसकी दृष्टि घर की हर हलचल का स्पर्श करती रहती है और जब वह थक कर चूर हो जाती है तो अपने सिरहाने रखी हुई, दवाइयों की शीशियों से लदी, गोल नन्हीं टेबिल पर अटक जाती है। तब उसे लगता है, फिर से उसकी चीखों का सैलाब फट पड़ा है। वह 'वह' न होकर इन तमाम दवाइयों की छोटी-बड़ी शीशियों में विभक्त हो गयी है, जो धीरे-धीरे खाली होती जा रही हैं और फिर वह घबड़ा उठती है—सुबह उसने डा० दत्ता से कहा था, आप कुछ और दवाइयाँ लिख दीजिए न ! ये तो खत्म होने को आ रही हैं। वे मुस्करा पड़े थे। कई बार आँखों की कोरों को खींचते हुए उन्होंने न जाने क्या जाँचा और एक लम्बी सांस जो उनकी थी, उसने अपने सूखे चेहरे पर 'भाप' की तरह महसूस की····और अपने अस्तित्व के प्रति आश्वस्त होकर उसने इत्मिनान से अपनी पलकें मूंद ली थीं। उसे पेपर लिखने तथा फाड़ने की आवाज से महसूस हुआ था कि 'प्रिस्क्रिप्शन' पास खड़ी हुई शशी को पकड़ाया जा रहा है। और उसने यह हिदायत भी सुनी कि दवाइयाँ आज दोपहर तक अवश्य आ जानी चाहिए। डॉ० साहब की पदचाप के साथ-साथ शशी के स्लीपरों की आहट भी दूर होती चली गयी थी। वह कोशिश करके भी अपनी भारी होती हुई पलकें खोल नहीं पायी। पता नहीं, डॉ० साहब ने जो 'डोज'

उसे अभी दिया था शायद उसमें नींद की दवा भी मिली हुई थी।

□

नींद खुली, तो शाम हो आयी थी। उसे पॉट की जरूरत महसूस हुई। आवाज देकर उसने बाई को पॉट दे जाने के लिए कहा तथा बाद में 'रनिंग चेयर' भी ले आने की हिदायत दी। न जाने क्यों, आज उसका बड़ा मन कर रहा था, 'बालकोनी' में बैठकर निस्सीम समुद्र के एकाकीपन को अपनी दृष्टि में समा ले, वह—जो अपने अन्तर में सबको समा सकता है किन्तु स्वयं किसी में नहीं। उसका अकेलापन शायद उससे बहुत बड़ा है····उसकी गर्जना—शायद मनु की चीखों से ज्यादा ऊँची है····

समुद्र से लगे हुए इस 'मनुबेला' अपार्टमेंट्स में फ्लैट लेने के समय, अमरेन्द्र तथा उसके बीच काफी कहा-सुनी हुई थी। अमरेन्द्र की फैक्टरी से यह घर दूर भी बहुत पड़ता था। 'ड्राइविंग' में पौना घण्टा लग जाना तो निश्चित था ही, उसके साथ-साथ अमरेन्द्र का एक और 'रीजन' था। स्वास्थ्य की दृष्टि से वह बचपन से ही 'स्नोफीलिया' का मरीज रह चुका था। इस दृष्टि से समुद्री हवा उसके लिए नुकसानदेह साबित हो सकती थी, किन्तु हुआ वही, जो उसने सोचा और निर्णय लिया। पहली बार जब वह इस घर को देखने आयी थी तो उसे महसूस हुआ था, बस! यही वह घर है जिसे वह कब से ढूँढ़ रही है। बना भी इतना सुन्दर था कि हर कमरे की खिड़की समुद्र की ओर ही खुलती थी····।

—दीदी, बाहर 'बालकोनी' में बैठेंगी क्या? शशी उससे पूछ रही थी तथा बाई 'रनिंग चेयर' भी ले आयी थी।

—हाँ, उसने अपने आप में लौटते हुए संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

शशी तथा बाई ने उसे सहारा देकर 'चेयर' पर बैठा दिया। फिर 'बालकोनी' में पड़ी हुई आराम-कुर्सी पर अगल-बगल दो कुशन लगा कर उसे पुनः सहारे से बैठा दिया।

····उसके सामने साँझ के झुटपुटे में डूबते हुए सूरज का 'लाल' गोला था। किनारे की ओर दौड़ती चली आ रही लहरों पर सुनहरी ललाई तैर रही थी। सब कुछ वैसा ही····एक शाम अमरेन्द्र के साथ जब वह इस 'बालकोनी' में बैठी थी तो डूबते हुए लाल सूरज की ओर देखकर अमरेन्द्र थोड़ी देर कुछ सोचता रहा था फिर सहसा उसका चेहरा अपनी ओर घुमाकर बोला था—लगता है, तुमने अपने माथे पर डूबता हुआ सिंदूरी सूरज टाँक लिया है मनु····

वह सुनकर कुछ अन्यमनस्क हो उठी थी, पता नहीं, यह प्रशंसा थी या उस वातावरण की अभिव्यक्ति। पर यह सच था, जो कुछ भी तुलना में कहा गया था वह उसे अच्छा नहीं लगा था····और उसने उस दिन से माथे पर सिंदूर की बिन्दी का आकार छोटा कर दिया था।

—आपके लिए 'काफी' बना लाऊँ दीदी ? शशी का स्वर काफी उल्लसित था ।

इस लम्बी बीमारी के दौरान आज पहली बार दीदी पहले की तरह 'बालकोनी' में बैठी थी । माँ के पास से जब वह इस घर में आयी थी तब अकसर दीदी तथा जीजा जी को इस जगह शाम की चाय पीते हुए देखती रहती थी ।

—कॉफी नहीं, चाय अगर····मनु का स्वर अधूरा ही रह गया ।

—ओ, श्योर, श्योर दीदी, अभी लायी ।

—देखो, शक्कर जरा मेरे हिसाब से ।

—बिल्कुल ! साथ में ले आऊँगी । वह हँसती हुई किचिन की ओर मुड़ गयी । बहुत दिनों बाद शक्कर ज्यादा डालने की आदत पर दीदी ने पहले की तरह चुटकी ली थी ।

····एक अरसा हो गया है शशी की यह निश्चल हँसी सुने हुए तथा खुद भी हँसे हुए । और यह अरसा····जो भयानक नियति की तरह उस पर गुजरा है—उसने उसका ही नहीं, सबके चेहरे बदल दिये हैं, अब जो कुछ भी वे एक दूसरे के सामने हैं, कितने अपरिचित, कितने अजनबी हैं । शायद इस हँसी की तरह, कभी-कभी वे अपनी पुरानी शक्ल में आत्मीयता के साथ उभर आते हैं····उसे महसूस होता है, क्या वक्त हमारे चेहरे बदल देता है ? या हम खुद ही अपने आपको बदल लेते हैं····

····अम्मा ने लिखा था—मैं तो यही चाहती हूँ कि इस खुशी के अवसर पर मैं तुम्हारे करीब रहूँ, लेकिन बेटे-बहू के चक्कर में इस तरह फँसी हूँ, न तुम्हारे पास आ सकती हूँ, न तुम्हें यहाँ बुला सकती हूँ, बहू का भी छठा महीना चल रहा है, सब कुछ उसे बिस्तर पर ही चाहिए, ऐसे में उसे अकेला छोड़ने का मतलब समझती हो न ! मैं जानती हूँ, तेरा भी समय नजदीक है और अमरेन्द्र के घर से भी तेरे पास खड़ा होने वाला कोई नहीं है····पर तू घबड़ाना बिल्कुल नहीं, अस्पताल में तो सब कुछ बड़े-बड़े डाक्टर सम्भालते हैं, नर्सें हर तरह का ध्यान रखती हैं····खैर, मैं शशी को तेरे पास भेजना चाहती हूँ । एक बात मैं तुझे छुपाकर लिखवा रही हूँ, भाई-भाभी के रहते हुए भी अब शशी का सारा जिम्मा तेरे ऊपर है, उसे वहीं किसी कॉलेज में दाखिल करवा देना । तुझे भी सहारा रहेगा और वह भी तुम लोगों के भरोसे कहीं लग जायेगी । मैं जानती हूँ, अमरेन्द्र तुझे बहुत मानता है····यह चिट्ठी पढ़कर फाड़ देना ।

····अम्मा को अपने जिन्दा रहने का बहुत दुख था । बाद में भी उन्होंने कई चिट्ठियाँ लिखवायी थीं और उसने उनके कहे मुताबिक उन्हें फाड़कर फेंक भी दिया था ।

उसी बीच अमरेन्द्र को किसी 'आफीशियल वर्क' से दिल्ली जाना था और अपने टाइट शेड्यूल से किसी तरह वक्त निकाल कर वह आगरे गया तथा शशी को अपने साथ ले आया । अमरेन्द्र ने बताया था···अम्मा बहुत रो रही थी, सच कहूँ

तो मनू, इस बार मुझे वे जितनी मजबूर लगीं····साले रास्कल हैं दोनों····

बाद में शशी से पता चला था, भाभी, आया को तो दस बार ठीक से पेट भरकर खा लेने की हिदायत देंगी, खुश होकर उसे पिक्चर देखने को पैसा भी दे देंगी। दोपहर में थोड़ा आराम करने के लिए भी कहती रहेंगी, उसे जरा-सी छींक आयी नहीं कि तुरन्त दवाखाने भेजेंगी। इस भय से कि कहीं वह काम छोड़कर न चली जाये, लेकिन अम्मा का रहना उन्हें फूटी आँख भी नहीं भाता····न उनका बेहिसाब पान खाना, न बेवजह जिस-तिस को खाने पर बैठा लेना। एक दिन तो भाई साहब के सामने ही भाभी ने अम्मा से कह दिया—'पेंशन तो आपको सिर्फ अस्सी रुपये मिलती है····अम्मा भी चिढ़ आयी थीं यह सब सुनते-सुनते और बेलिहाज बोल ही पड़ी थीं—धोतियाँ तक तो तीन साल से मैं मनु की उतारी हुई पहनती चली आ रही हूँ····

आगे जो कुछ शशी ने बताया था, वह मनु को उद्वेलित कर गया····आदमी नौकरानी रख सकता है माँ नहीं ?····

□

उसने तो बस उस छोटी-सी शशी को देखा था जो अक्सर चिट्ठियों में उसे अपनी फरमाइश की लिस्ट भेजा करती थी····दीदी, अब की बार जब आप बम्बई से आयें तो मेरे लिए एक ब्राऊन स्लैक्स ले आना। हाँ, बाटा की हिल्स वाली सेंडिल भी, जैसी पिछली बार आप आगरे पहन कर आयी थीं। यहाँ बाटा की किसी भी दुकान पर आपकी जैसी सेंडिल दिखाई ही नहीं देती····और दीदी एक 'कण्डक्टर' टाइप वाला 'पर्स' भी····चिट्ठी में घर के हाल-चाल पर बस यही सब होता था···· जब वह आगरा स्टेशन पर उतरती तो पाती, भइया के साथ शशी भी उसे लेने आयी है। सलवार कमीज पहने छोटी-सी शशी। वही निश्चल खिलखिलाहट···· ताँगे पर बैठते-बैठते वह पूछती, दीदी,—जीजा जी कैसे हैं ? वे कब तक आयेंगे ? आप कितने दिन रहेंगी ?—हम नहीं जाने देंगे जल्दी····और जल्दी-जल्दी ये तीन चार आवश्यक प्रश्न पूछकर फिर वह अपनी बात पर आ जाती, दीदी, आप मेरी लिखी हुई चीजें लायी हैं या नहीं ? वह जोरों से हँस पड़ती—अरे घर तो पहुँचने दे पगली !

—नहीं दीदी, अभी, प्लीज····प्लीज····

····और यह शशी, जो अमरेन्द्र के साथ आयी थी वह सचमुच और थी। एक दम बड़ी हो गयी शशी—नहीं, एक लम्बा अरसा बीत गया था उसके बड़े होने के बीच। भाभी तथा भाईसाहब के लफड़ों की वजह से वह तीन-चार साल से घर भी नहीं गयी थी। फिर पापा भी अब नहीं रहे····अम्मा के हाल-चाल चिट्ठियों से मिल ही जाया करते थे। कई बार अम्मा लिखवा भेजती थीं,—मैं जानती हूँ वे नहीं

रहे—यह घर भी तेरे लिए नहीं रहा····

कितना सच लिखा था अम्मा ने। वह घर तो तब तक उसे अपना लगा था जब तक पापा थे····

पेंटिंग करने का उसे कितना शौक था बचपन में ! जब वह पापा के लेटर पैड पर आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचती तो अम्मा उसे पकड़ कर बाथरूम में बन्द कर देतीं, हजार रुपये फूंक दिये गये इन पैडों के पीछे। तेरी चित्रकारी के लिए छपवाये हैं ? अम्मा के क्रोध से वह डरती थी किन्तु पापा····

—कितनी पुरानी बातें हैं····

एक दिन जब वह स्कूल से लौटी तो उसने पाया। कल शाम उसने जो हनुमानजी का रेखाचित्र बनाया था वह ड्राइंग रूम में बड़े सलीके से 'कार्ड बोर्ड' पर चिपका कर लगाया गया है, तथा किसी ने उसका नाम भी बड़े सुघड़ अक्षरों में लिख दिया है, 'मनु'।

ऐसे ही एक दिन उसने पाया, बैड रूम के एक कार्नर में पड़ी पापा की 'स्टैडी टेबल' की ऊपरी दीवार उसके अजीबों-गरीब चित्रों से भरी पड़ी है। दीवार के इस दुरुपयोग से अम्मा ने दुखी होकर पापा को जली-कटी सुनाई थी—यह तो रंग और पेपर खराब करती है ऊपर से तुम उसे टांकते फिरते हो। फिर गुस्से से पैर पटकती हुई वे किचन में चली गयी थीं। वह जो इस समय पर्दे की ओट में छुपी खड़ी अम्मा का आपे से बाहर होना देख रही थी, झट से दौड़कर पापा के पास पहुँच गयी। पापा ने उसे बाहों में भर लिया, और बोले—बहुत डाँट पड़वाती है तू !

—तो फिर मार खाने के लिए तैयार हो जाइए। उसने शरारत से भरकर पापा की नाक से नाक रगड़ते हुए कहा।

—कुछ और बनाया है क्या ?

—हाँ, यह देखिए ! उसने हँसते हुए उन्हीं की टेबिल पर रखी हुई एक किताब के नीचे से एक पेपर खींचकर उनके सामने कर दिया। हँसी अब भी नहीं रुक रही थी उसकी।

—अरे वाह ! रेलगाड़ी !

—कैसी बनायी है पापा ?

—भई बहुत बढ़िया, बस लगता है, धुंआ छोड़ती हुई अभी पटरी पर दौड़ने लगेगी····

—पापा····

सब कुछ अच्छी तरह याद आ रहा है। मन एकदम अशांत हो उठा···· आँखों की नमी बूंद बनकर गालों पर बह चली। गले के भीतर कुछ घुमड़ रहा था जिसे वह जज्ब करने की कोशिश कर रही थी ! पर····

—दीदी ! आपकी चाय एकदम पानी हो चुकी है। शशी की आवाज उसे कोसों दूर से आती हुई लगी।

—तुमने पी ली ? उसका स्वर भारी था।

—कब की, पता नहीं आपको रह रहकर क्या हो जाता है, कुछ कहने से भी लगता है वह आप तक नहीं पहुँच पाता। फिर से गर्म कर लाऊँ ?

—हाँ, कर दो तो....

वह कप उठाकर किचिन की ओर बढ़ गयी। दीदी की आँखों की नमी उससे छुपी नहीं थी। सच तो यह था कि कप रखकर वह वहाँ से हट गयी थीं। दीदी का इस तरह ऑफ हो जाना वह फेस नहीं कर पाती, न खुद ही सामान्य रह पाती है—कभी-कभी तो उसे लगता है, दीदी की इस लम्बी बीमारी की वजह से नहीं शायद उसकी वजह से, इन चारदीवारों के भीतर कई दीवारें खड़ी हो गयी हैं, जिन्हें लांघकर न दीदी उस तक आ पाती हैं, न वह दीदी तक पहुँच पाती है जबकि उसकी हर कोशिश, हर प्रयत्न यह होता है कि दीदी की देखभाल में कहीं कोई कसर न रह जाये, इस घर की भी नहीं, जो दीदी का है....अमरेन्द्र की भी नहीं !

□

परसों रात की ही बात है, अमरेन्द्र काफी देर से आये थे। आते ही उन्होंने दीदी के विषय में पूछा था तथा डाक्टर दत्ता की रिपोर्ट के बारे में भी। उसके बाद में वे दीदी के कमरे की ओर मुड़ गये किन्तु शीघ्र ही लौट आये। शायद दीदी सो रही थी। फिर शशी को खाना लगाने के लिए कहकर वह नहाने के लिए चले गये। नहाकर लौटे तो शशी को वे काफी फ्रेश लगे। खाना उन्हें विशेष पसन्द आया था। खुश होकर उन्होंने शशी की काफी तारीफ की। तुमने भरवां करैले बिल्कुल मनु की तरह बनाये हैं शशी ! और यह खीर....मखाने की खीर मेरी कमजोरी है यह मनु जानती है....

अमरेन्द्र जब बैडरूम की ओर मुड़े तो उसने उन्हें आग्रहपूर्वक थोड़ी देर और बैठने के लिए कहा। वह उन्हें एक सरप्राइज देना चाहती थी....ठीक बारह बजे जब उसने अमरेन्द्र को नर्गिस के फूलों का गुच्छा भेंट करते हुए उनके जन्मदिन पर बधाई दी तो वे सहसा स्तम्भित रह गये, आज ?

—यह देखिये डेट चेंज हो गयी है, नौ मई....

—तुम्हें याद कैसे है ?

—मुझे याद है, दीदी इसी तरह आपको....शशी की बात फिर अधूरी रह गयी थी, अमरेन्द्र ने उसे बाहों में भर लिया था....उसे महसूस हुआ, उसकी गर्दन, पलकें, होठ....सब अमरेन्द्र के होठों की तपिश से जलने लगे हैं। और वह उनके लिए शशी नहीं, मनु बन चुकी है। पूरी तरह मनु....

सुबह जब उसने दीदी को बताया कि अमरेन्द्र को, उनके जन्म दिन पर उसने ठीक उनकी तरह सरप्राइज बधाई दी तो सहसा वे उल्लसित हो उठीं—सच,

फिर स्वयं बुदबुदा उठीं—पता नहीं, मैं कैसे भूल गयी····शायद बिस्तर पर पड़े-पड़े अब दिन, तारीखें, बातें मेरे लिए नहीं रहीं····

शशी दवाइयों की टेबिल पर कुछ ढूंढ़ने के लिए झुकी। दीदी के बुझे से स्वर ने उसे चौंका दिया—तेरी गर्दन पर वह नीला दाग कैसा है ?

····प····पता नहीं। वह सकपका उठी। उसका एक हाथ अपनी गर्दन पर चला गया। उसे महसूस हुआ, रात जैसे बीती नहीं, उसकी गर्दन पर चिपक कर रह गयी है।

चाय के फदफदाने की आवाज से उसका ध्यान जब चाय पर गया तब तक आधी चाय जल चुकी थी। हड़बड़ाकर उसने आधा कप दूध डालकर पुनः एक बार चाय को उबाला। फिर उसे लगा, इतनी उबलती हुई चाय दीदी को देना ठीक न होगा। अतः उसने दुबारा ताजी चाय बनायी तथा मग में डालकर दीदी के पास आयी।

दीदी, धीरे-धीरे चाय सिप् करने लगीं। शशी उठकर रेलिंग पर कुहनियाँ टिकाये घुप्प अन्धेरे में ताकने लगी। आमने-सामने पड़ने पर न दीदी सहज हो पाती हैं न वह स्वयं। लेकिन आज लग रहा है दीदी काफी सामान्य हैं—बिलकुल उसकी अपनी दीदी, और वह पहले की तरह उनके कन्धे पर सिर रखकर खूब रोना चाहती है, उन्हें सब कुछ बताना चाहती है। उनका वह दुलार भरा स्पर्श चाहती है···· लेकिन ऐसा नहीं हो पाता। दूरियाँ, लगता है उनकी शिराओं में बहने लगी हैं।

—कॉलबेल की आवाज से वह चौंक उठी, रेलिंग से अलग हो पैसेज की ओर मुड़ी कि दीदी पूछ बैठीं—क्या अमरेन्द्र आ गये ?

—शायद बाई है, वे तो साढ़े दस या ग्यारह के करीब आने के लिए कह गये हैं।

मनु को चाय काफी कड़वी लग रही थी। शायद दुबारा गर्म करने की वजह से या शशी की इस बात से शायद अमरेन्द्र के विषय में अब जो कुछ भी जानना होगा वह शशी के माध्यम से ही !····

□

आज डॉ० दत्ता कुछ जल्दी ही आ गये थे और इत्तिफाक से अमरेन्द्र घर पर ही थे। उसको 'एक्जामिन' करने के बाद वे अमरेन्द्र से बोले थे—भई, कोशिश यह कीजिए कि ये उलूल-जलूल सोचना-विचारना बिल्कुल छोड़ दें, तभी दवाइयाँ असर भी करेंगी। वैसे बायें पैर में थोड़ा मूवमेंट होना शुरू हो गया है। 'लेट अस होप' मालिश वगैरा वैसी ही होती है न ? वे शशी की ओर मुखातिब हुए।

—जी, बाई और मैं दोनों ही नियम से ध्यान रखते हैं।

—गुड ! वैसे छः-सात दिन हॉस्पिटल लाना ही होगा, शाक आदि के लिए।

फिर वे मनु की ओर मुड़े तथा झुककर उन्होंने उसके गाल स्नेह से थपथपाये—बी ब्रेव !····फिर अमरेन्द्र तथा शशी के साथ हाल की ओर मुड़ गये।

—डा० साहब, चौबीस घण्टे तो मैं इनके साथ रहता नहीं हूँ, इन्हें खुद भी अपना ध्यान रखना चाहिए····जाते हुए अमरेन्द्र का स्वर उसके कानों को सुन्न कर गया····यह सब बातें कितनी खोखली हैं। उसका जो कुछ छिन गया है या जो छीना जा रहा है वह अनायास नहीं है, सप्रयास है। उसकी मानसिक यन्त्रणा उसकी अपनी गढ़ी हुई नहीं है बल्कि उनके जीने की शर्त की स्वार्थपूर्ण देन है। एक दिन उसने जब अमरेन्द्र को इस बात की शिकायत की थी तो वे बोले थे—तुम्हें मैं किसी भी रूप में पाता हूँ तो पा लेना चाहता हूँ। मैं उसे उतनी ही सहजता से स्वीकार भी कर लेता हूँ और तुम····तुम इसे अपने खिलाफ षड्यन्त्र समझती हो।····

सच तो यह है, वह जो कुछ भी समझती रही वैसा कुछ भी तो नहीं हुआ···· दोषी वह है या ये घटनाएँ जो नियति बनकर उसे हर तरह से, हर तरफ से तोड़ती रहीं, और शेष है····गिजगिजे केंचुए-सी वह।

बड़े-बड़े डाक्टर कुछ भी नहीं सम्भाल पाये—न बच्चा बचा, न मनु के बचने की उम्मीद थी। उपायहीन अमरेन्द्र ने घबड़ाकर अम्मा को टेलीग्राम कर दिया था तथा आने के लिए पैसे भी भेज दिये, और पाँचवें दिन जब अम्मा अस्पताल पहुँची तो नर्स ने उन्हें दुखित स्वर में बताया—साढ़े आठ पौंड के उस खूबसूरत बच्चे ने तो दुनिया में आकर आँखें ही नहीं खोलीं, मनु····

····और मनु की नाक में आक्सीजन की नलियाँ थीं, ग्लूकोज तथा ब्लड चढ़ाया जा रहा था। वे खामोश उसका हाथ पकड़े बैठी रहीं और उसका निस्तेज नीला पड़ता चेहरा देखती रहीं।

····वे, जो कृत्रिम सांसें उसे दी गयीं थीं, कितनी कम थीं उसके लिए····वे जान दे सकीं तो बस कमर के ऊपरी हिस्से तक ही। इतना जीवित हिस्सा भी उसे अस्पताल में चार महीने तक अनवरत जीवन-संघर्ष के बाद प्राप्त हुआ था। वह जो कार से उतर कर अपने वार्ड तक चलकर गयी थी—लौटी तो अपाहिज होकर।

····अपाहिज ऽ ऽ ऽ ऽ

लगता है वह अपने शरीर से कहीं ज्यादा अपाहिज दिमाग से हो चुकी है जो कभी उसे शायद इस काबिल नहीं छोड़ेगा कि वह सही चीज को सही मायने में सोच सके, जी सके, पा सके····

उसे लग रहा था कि एक भयानक तूफान ने उसके घर को जड़ से उखाड़ फेंका है। वह मांस के एक बेडौल लोथड़े की तरह उसमें उड़ी जा रही है। दो खौफनाक पक्षी उसके करीब सिमट आये हैं और अपनी सुर्ख चोंचें खोलकर उसे निगल जाने के लिए झपट पड़े हैं, वह अचानक चीख पड़ती है—नहीं····नहीं····

—क्या हुआ मनु ?' अमरेन्द्र की आवाज उसके कानों में पड़ती है। वह देखती है कि अमरेन्द्र उसकी बगल में लेटा है और उसे बाहों में भरे हैं। वह पसीने

से भीगी हुई हाँफ रही है।

उसने आँखें बन्द कर लीं। उसे दौड़कर आती हुई शशी के नंगे पैरों की धप-धप आवाज तूफान में उभर कर आये पक्षी के डैनों की आवाज की तरह अपने मस्तिष्क पर छाती हुई महसूस होने लगी....

[सारिका, नवम्बर 1976]

जवाहर सिंह

अपना-अपना महाभारत

बुटाई ने चाय का एक हल्का-सा घूंट लेकर कुछ अजीब ढंग से मुँह सिकोड़ा और गिलास को जोर से पटक दिया—साला, यह चाह है या शरबत····लीकर का कुछ पता ही नहीं चलता····

कांच का गिलास बाँस के खम्भे से टकरा कर चूर-चूर हो गया।

रामराज, धनपत और खोभारी होठों से चाय का गिलास लगाये भौंचक्के-से बुटाई के चेहरे की ओर देखने लगे। बुटाई की नाराजगी का कोई कारण उनकी समझ में नहीं आया····इतनी बढ़िया····मीठी चाय बुटाई ने क्यों फेंक दी····और केवल चाय ही नहीं फेंकी, शीशे का गिलास भी फोड़ दिया—साला, पगला गया है क्या····! दो साल पर कलकत्ते से लौटा है····तो इसके दिमाग का कोई थाह-पता ही नहीं मिलता····

—माय····! यह चाह बनी है या लस्सी !····फिर पानी गरम करने को बोल दो, मैं खुद बनाऊँगा····वह बाहर से ही इतने जोर से चिल्लाकर बोला कि आंगन में उसकी पत्नी भी आवाज सुन ले।

बहू ने अपनी सास की ओर आश्चर्य से देखा—माईजी, अभी तो एक लोटा चाह बनी है····फिर काहे को पानी गरम होगा···· !

बुढ़िया ने हाथ के हुक्के को दीवाल से टिकाया और दोनों घुटनों पर हाथ रखकर 'हाय····राम' कर के उठी। दरवाजे पर आकर बोली—किसुना की माय पूछ रही है कि अब पानी गरम करके का होगा····!

—उसका कपार होगा····! कान में क्या ठूसा है—केला····! सुनती नहीं, फिर चाह बनेगी····! बुटाई ने पेंट की जेब से चार मीनार की डिब्बी निकालते हुए तमक कर कहा।

धनपत गिलास के पेंदे में बची चाय की अन्तिम किस्त को जोर से सुड़कते हुए बोला—क्यों बुटाई माय, चाह तो फसट किलास बनी है····तुम को काहे नहीं अच्छी लगी ?

तब तक बुटाई ने डिब्बी से एक सिगरेट निकाल ली थी। उसका एक सिरा

डिब्बी पर ठोकता हुआ लापरवाही से हँसकर बोला—तुम लोग ठहरे साल-छह महीने पर कहीं मेले-ठेले में चाह पीने वाले मनई····शरबत की तरह मीठी चाह गटर-गटर पी लोगे और होंठ चाटते हुए कहोगे कि 'हाई किलास' की चाह है। लेकिन यहाँ तो सिगरेट और चाह पर ही जिन्दगी चलती है····होटल का काम तो बिना सिगरेट-चाह के होगा ही नहीं। दिन भर चाह और सिगरेट····चाह और सिगरेट, एक घण्टा भी न मिले तो मेरा माथा दुखने लगता है।

उसने होठों के बीच सिगरेट को तिरछे दबाया और लाइटर जलाकर एक गहरा कश लिया। होठों के बिल्कुल दूसरे किनारे से धीरे-धीरे धुँआ निकालते हुए बोला—असल में धनपत भाई, बंगालियों के साथ रहते-रहते मुझे भी बंगला चाह पीने की आदत हो गयी है····खूब कड़ी लीकर वाली चाह।

····इस्स ! साला, सिगरेट भी बंगालियों की ही तरह पीना सीख गया है····! खोभारी ने मन ही मन कहा—बलॉक के डाकदर दासबाबू भी तो ऐसे ही मुँह में एक किनारे सिगरेट दबाये रोगियों का हाल-चाल पूछते रहते हैं—की रे, पेट में दोरद होता हाय····कोल में किया-किया खाया रिहा····खोभारी को हँसी आ गयी।

—यों हँसते हो खोभारी भाय····! बुटाई को लगा कि उसका सिगरेट पीना देखकर ही खोभारी हँसा है।

—किसुना का माय कहती है कि अब दूध कहाँ है कि फिर चाह बनेगी···· बुढ़िया फिर दरवाजे पर आकर खड़ी हो गयी थी।

—माईजी, बोल दीजिये कि बटोरन काका की गाय एक घण्टा के बाद लगेगी, तो वह दूध देने को बोले है। बुटाई की पत्नी सास की ओट में पीछे खड़ी सकुचाते-शरमाते बोली।

—उसी समय क्यों नहीं बोली····? ····मुँह में क्या भरा था—कद्दू ! आँखें तरेरकर पत्नी की ओर घूरते हुए बुटाई चीखा, मेरे सूटकेस में 'बिलैती' दूध का डब्बा है, निकाल लेना। साला बुटाई किसी की गाय-भैंस के दूध के आसरे चाह नहीं पीता है····सारा सामान सूटकेस में बन्द कर कलकत्ते से ही चला है।

उसकी पत्नी दौड़ती हुई आंगन की ओर भागी, जैसे बुटाई की तनी हुई भौंहें उसे धक्का मार कर घर की ओर ठेलती जा रही हों।

बुटाई ने अपने साथियों की ओर हिकारत से देखा। उनके चेहरों पर उसका रोब चिपका हुआ था। उसे प्रसन्नता हुई····एक गहरा संतोष, गाँव में पहली विजय तो उसे मिल गयी····साथियों पर धाक जम गयी थी। लेकिन अब देखें····आगे का प्रोग्राम कैसा होता है, असली लड़ाई तो वही है····गाँव में भी शायद रेडियोवाली खबर लोगों को मालूम हो गयी होगी····बाबू टोले में कई लोगों के पास रेडियो हैं। नन्दलाल सिंह ने जब सुना होगा कि सरकार ने कानून बनाकर हरिजनों और गरीब लोगों के सारे कर्ज माफ कर दिये, और उनकी बन्धक पड़ी जमीन बिना पैसे दिये ही लौटवा रही है, तब तो उस मुच्छर राम ने अन्न-पानी सब छोड़ दिया होगा।

अपने मालिक नन्दलाल सिंह का नाम बुटाई ने मुच्छर राम रख दिया था। गिलहरी की पूंछ की तरह बेतरतीब फैली उनकी मूँछें कुछ अजीब घिनौनी-सी लगती भी थीं। एक क्षण के लिए नन्दलाल सिंह का वह मूँछयुक्त बदसूरत चेहरा उसकी आँखों में कौंध गया। दो साल पहले की वह घटना। पाँच ही दिन पहले वह गौना कराकर गंगोली वाली को घर लाया था। शादी के समय तो वह दुबली-पतली नन्हीं-सी बच्ची थी। देखकर उसका मन न जाने कैसा-कैसा हो गया था। लेकिन पाँच साल के बाद जब गौना करा कर ले आया, तो सुनयनी को देखकर वह पहचान भी न सका था। उसका तो जैसे चोला ही बदल गया था। अंग-अंग से जवानी गामा से धान की बालियों की तरह फूट-फूट कर निकल रही थी। इन्हीं बालियों को सहेजने-संवारने में वह इतना व्यस्त हो गया था कि मालिक के खेत में हल चलाने की बात भी उसे याद न रही थी।

और तभी एक दिन पौ फटने के पहले ही आकर बाबू नन्दलाल सिंह ने उसकी झोंपड़ी के दरवाजे पर इतनी जोर से लात मारी थी कि उसे लगा था, भूकम्प आ गया। बाँस के फट्ठों से बनी झोंपड़ी की दीवारें बड़े जोर से हिल उठी थीं और सारा घर चरमरा उठा था। वह हड़बड़ाकर चारपाई पर से कूद कर दरवाजे की ओर भागा था। पर दरवाजा खोलते समय उसे अपनी पत्नी का ख्याल हो आया था। अस्त-व्यस्त कपड़ों में सुनयनी अब भी बेखबर पड़ी थी। उसका हाथ पकड़ झकझोरते हुए उसने उठाया था—उठ सुनयनी, जल्दी भाग····धरती डोल रही है····भाग····भाग····

लेकिन दरवाजा खोला, तो मालिक नन्दलाल सिंह भूकम्प के रूप में खड़े मिले थे। वह बेतरह सिटपिटा गया था। नन्दलाल सिंह की आँखें उसपर नहीं, कमरे के भीतर अपने कपड़े सम्भालती सुनयनी पर गिद्ध की तरह टिकी हुई थीं। क्यों रे बुटइया, तू यहाँ मेहरी की टांग पर टांग चढ़ा कर मस्ती काट रहा है और उधर मेरा खेत परती पड़ रहा है····! नन्दलाल सिंह ने सुनयनी पर आँखें बिछाये होठों पर जीभ फेरते हुए कहा था—तू तो मेहरी का रूप चाट कर जी लेगा····पर मेरी गृहस्थी नहीं हुई तो मैं क्या तुम्हारी····मार कर जीऊँगा····! ····साला देहचोर, पहले मेरा कर्जा चुका दे····फिर बीवी को गोद में लेकर आराम से सो रह····हाँ। मैं उसी रुपये से दूसरा हलवाहा ठीक कर लूँगा····नमकहराम····बेईमान····!

एक ही सांस में वह सब कुछ बक गये थे। बुटाई को लगा था कि तब नहीं, तो अब भूकम्प जरूर आ गया है····खून खौलकर रह गया था उसका। और उसी खौलते खून का उबाल उसके मुँह से आग की तरह निकल पड़ा था—बाबू साहब, कौन अपनी मेहरी के साथ नहीं सोता····! क्या आप नहीं सोते····गाँव के और लोग नहीं सोते····? हम गरीब हैं····हरिजन हैं····आपके कर्जदार हैं····तो क्या हमारी इज्जत नहीं है····! नयी दुल्हन के सामने आप ऐसी-ऐसी बेपर्द बातें बोल रहे हैं····गालियाँ दे रहे हैं····आखिर गरीब की भी अपनी एक इज्जत होती है····

—अरे वाह रे इज्जतवाले····! नन्दलाल सिंह ने मुँह ऐंठ कर कहा था, देखूँ तो तेरी इज्जत कितनी बड़ी है···· ! अपने दादा का खाया कर्ज तो अभी चुका नहीं पाया····जिस जमीन पर खड़ा होकर अपनी इज्जत दिखा रहा है, वह भी तो बीस वर्षों से मेरे यहाँ बन्धक पड़ी हुई है····और बन रहा है इज्जतदार····! हरामखोर साला, मुझ से जबान लड़ाता है····!

बुटाई को लगा था कि उसे गाँव की पंचायत में नंगा करके चूतड़ पर जूते लगाये जा रहे हैं····काश, यह धरती फट जाती और वह उसमें डूब जाता !

सिर झुकाये ही वह बोला था—केवल अस्सी रुपये ही तो मेरे बाबा ने किसी जमाने में आप से लिये थे····! उसी के एवज में वह आपका हल चलाते-चलाते खुद भी चले गये····मेरा बाप जिन्दगी भर आपके खेतों में बैल की तरह खटता रहा और बीमार होकर बिना दवा-दारू के भरी जवानी में मर गया, सात वर्ष की उम्र से मैं आपकी भैंसों की चरवाही करता रहा और पन्द्रह लगते-लगते आपने हल की मूंठ मुझे पकड़वा दी । दस बरस हो गये मुझे भी आपका हल चलाते····क्या अब भी आपके अस्सी रुपयों की सधान न हो सकी····? मेरे बाप की शादी में पचास रुपये देकर आपने इस घर की जमीन केवाला लिखवा ली थी, तब से सैकड़ों रुपये आपको मेरे बाप ने दिये····मैंने भी पचास रुपये दिये हैं लेकिन आप जमीन का कागज नहीं लौटा रहे हैं, तो हम क्या करें····?

—जरा सुनो तो इसकी बातें····! नन्दलाल सिंह बेशर्मी से हँसे थे, बुटाई की माँ, जरा अपने बेटे का कानून बघारना तो सुनो····! साला, सवेरे-सवेरे ताड़ी-दारू पी आया है क्या····! तुम लोगों ने मेरे खेत में मजदूरी की, तो उसके बदले में दो सेर अनाज और 'जलखई' भी तो देता रहा हूँ····तुम लोगों का मन सुराज होने के बाद बहुत चढ़ गया····तभी तो इतनी लम्बी-लम्बी बातें निकल रही हैं तुम्हारे मुँह से । असल बाप का बेटा है, तो मेरे सारे रुपये अभी लौटा दे····मैं ढूंढ़ लूंगा दूसरा हरवाहा ।

ठेस लगने से चोट तो सबको लगती है····पक्की सिलाई वाले मजबूत से मजबूत जूते का मुँह भी ठोकर लगने से कभी-कभी बेतरह खुल जाता है । बुटाई भी इस करारी चोट को बर्दाश्त नहीं कर सका था । उसका मुँह फटे जूते-सा बेबाक खुल गया था—ठीक है बाबू साब, आपके रुपये मिल जायेंगे····पाई-पाई का हिसाब मिल जायेगा । एक साल के अन्दर-अन्दर अगर सारे रुपये आपके मुँह पर बुटाई ने नहीं फेंक दिये····तो····अपने बाप की बूंद का नहीं···· !

पार्थ-प्रतिज्ञा····! जयद्रथ-वध की पार्थ प्रतिज्ञा····गाँव में एक बार तिरहुतिया नौटंकी पार्टी वालों ने 'पार्थ-प्रतिज्ञा' नाटक किया था····तड़-तड़····तड़····धराम····धराम····नगारे की चोट पर अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी····सूर्यास्त के पूर्व अगर····लेकिन परिणाम की कल्पना कर बुटाई का कलेजा काँप गया था !····कहाँ है कृष्ण जैसा मायावी कोई सहायक उसका जो चक्र सुदर्शन से सूरज को छिपा दे····समय

के रथ को रोक दे····समय के रथ को····

और उसी दिन अपनी पत्नी की हंसुली बीस रुपये में ठाकुर साह के यहाँ बेच कर वह रात की गाड़ी से कलकत्ता के लिए चल पड़ा था। महाभारत युद्ध शुरू हो गया था····निहत्था पार्थ····बन्धु-बांधवहीन पार्थ····अपना रथ भी स्वयं चलाना और दुश्मनों से युद्ध भी करना····! कलकत्ते की बेशुमार भीड़ वाली गलियों में जब वह अकेला ही ठेला खींचता हुआ गुजरता, तो कभी-कभी उसे नौटंकी वाले उस अर्जुन का चेहरा याद हो आता। सूरज को डूबता हुआ देखकर अर्जुन कितना घबड़ा गया था····चेहरा पसीना-पसीना हो गया था। और बुटाई अपने चेहरे का पसीना गमछे से पोंछ कर मुस्करा पड़ता।

लेकिन समय का रथ उसके रोकने से नहीं रुक सका था। देखते-देखते दो वर्ष बीत गये पर कहाँ मार सका वह जयद्रथ को····अपने पिता के हत्यारे जयद्रथ को····! इस बीच कई बार वह घायल हुआ····लहू-लहान हुआ····थक कर फुटपाथ पर बेहोश हो गिरा भी····लेकिन प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका। एक बार ढाई सौ रुपये जमा भी हो चुके थे कि पुलिस वालों ने ओवर लोडिंग के केस में चालान कर दिया—अकेला ठेलावाला पाँच बोरे से अधिक लाद कर नहीं ढो सकता, उसके ठेले पर सात बोरे थे। जान छुड़ाते-छुड़ाते सारी जमा पूँजी समाप्त। फिर होटल की नौकरी में आ गया था।

महीने में सौ रुपल्ली! बेयरे तो दस-बीस रुपये रोज 'टिप' से ही कमा लेते हैं पर यहाँ तो उसी सौ रुपये में अंगा-धोती भी····बीड़ी-तम्बाकू भी····क्या बचा पायेगा आदमी····! हर महीने घर पर कुछ न भेजूँ तो यहाँ का काम ही न चले।

—बेटा, पानी गरम हो गया, किसुना की माय पूछती है कि बिलैती दूध कैसे डाला जायेगा····? बुढ़िया ने फिर दरवाजे पर प्रकट होकर कहा तो युद्ध के मैदान में दौड़ते हुए पार्थ के रथ के दोनों चक्के जैसे अचानक ही गहरे कीचड़ में धँस कर सहसा रुक गये।

—बिल्कुल जाहिलों से पाला पड़ा है····! बुटाई झल्ला उठा, अब चाय में दूध डालना भी बुटाई ही सिखायेगा····एकदम जाहिल-चपाट औरत····देहाती।

□

वह उठकर अन्दर चला गया। कुछ देर बाद लौटा तो उसके हाथ में चाय का गिलास था। थोड़ी देर तक मित्रों से इधर-उधर की बातें होती रहीं····कलकत्ते की रंगीन जिन्दगी की बातें····हँसी-मजाक की कहानियाँ। फिर धनपत और रामराज चले गये। खोभारी बैठा रहा 'कलकतिया बीड़ी' के लालच में।

खोभारी को कलकतिया बीड़ी के बदले चार मीनार सिगरेट जब मिल गया, तब बुटाई भैया के प्रति उनकी कृतज्ञता कण्ठ फोड़कर निकल पड़ी—भैया

नन्दलाल सिंह वाला रुपया तो इस बार दे ही दोगे····किसी तरह जान छुड़ा लो उस कसाई जोंक से। हरामी बुड्ढा उसी रुपये के बहाने साँझ-सबेरे तुम्हारे घर का चक्कर लगाया करता था····कभी-कभी तो आधी रात तक यहाँ बैठा रहता था। भौजी से काई बार बोला कि दुख-तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं है किसुनी की मां, बुटाई नहीं है तो क्या हुआ, मैं तो हूँ। जिस चीज की जरूरत पड़े, मुझ से माँग लिया करना····खदुका-महाजन में तो लेन-देन चलता ही रहता है। लेकिन वाह रे भौजी, कभी उस बुड्ढे से भर मुँह बात भी नहीं की····घूँघट उठाकर कभी उसकी ओर देखा तक नहीं····फिर भी साले टोले-मुहल्लेवाले तरह-तरह की बातें उड़ाने से बाज नहीं आये····! अब तो सब सुनोगे ही। लेकिन भैया, काली माता की कसम खाकर कहता हूँ, गंगोली वाली जैसी सती औरत इस पूरे गाँव में कोई नहीं है····तुम किसी की बात पर विश्वास मत करना····हाँ।

बुटाई को लगा, जैसे आग का कोई जलता हुआ गोला उसके कण्ठ से नाभि की ओर धीरे-धीरे उतरता जा रहा है। तेजाब की तरह सब कुछ जलता हुआ···· फूँकता हुआ।

गौना के पाँच दिनों के बाद ही वह कलकत्ता चला गया था। फिर कई महीनों के बाद उसे चिट्ठी मिली थी कि उसे बेटा हुआ है। मैया ने ही किसी से चिट्ठी लिखवाई थी कि बचवा का नाम सिरीकिसुना जी रखा गया है····किसुन भगवान की तरह सांवला-सलोना है····सुन्दर है।

बुटाई मन ही मन अंगुलियों पर गिनकर कोई हिसाब लगाता रहा····सावन में वह घर से गया था····सावन-एक····भादों-दो····आसिन-तीन····बेटा होने की चिट्ठी पहुँची थी, फागुन में····नहीं····नहीं, होली के बाद ही तो राम प्रसाद घर से कलकत्ता गया था, तो चिट्ठी ले गया था····चैत में किसुना पैदा हुआ था।···· हिसाब तो ठीक ही आता है····लेकिन····लेकिन····

वह चौकी पर से उठा और तेजी से आंगन की ओर चला पर दो-चार कदम चलकर ही उसके कदम रुक गये। थोड़ी देर तक वह बुत की तरह चुपचाप खड़ा रहा फिर धीरे-धीरे लौटकर उसी जगह बैठ गया····गुमसुम····

खोभारी को मन ही मन बात कचोटने लगी····बेकार ही वह बात मैंने कह दी! बेचारा अभी-अभी तो दो साल के बाद घर लौटा है····धीरे-धीरे सारी बातें उसे मालूम हो ही जातीं····अभी ही कह देने की क्या जरूरत थी····क्या! खोभारी ने अन्धकार में ही टटोलकर अपने दोनों कान पकड़ लिये····उन्हें जोर से ऐंठा—नहीं, अब ऐसी गलती वह जिन्दगी में कभी नहीं करेगा····कभी नहीं। उसे एक अपूर्व शान्ति-सी मिली····दिल हलका हो गया।

—कितने दिनों की छुट्टी में आये हो भैया? ····एक-दो महीना तो रहोगे ही····बुटाई का मन दूसरी ओर फेरने के लिए खोभारी ने विषय बदल दिया।

—समझो कि अब सदा के लिए ही छुट्टी लेकर आ गया हूँ····बुटाई ने एक

फीकी हँसी हँसकर कहा, अब गाँव में ही रहने का विचार है····परदेश का मजा बहुत लूट लिया। सब जगह पैसे वालों का ही जमाना है····उन्हीं के लिए सारे सुख-आराम और भोग-विलास हैं। गरीब के लिए गाँव ही ठीक है····अब तो सरकार ने कानून भी बना दिया है कि खेतों में काम करने वाले मजदूरों को भी पाँच रुपये रोजाना से कम मजदूरी नहीं मिलेगी। गाँव में रहकर अगर महीने में सौ-सवा सौ भी मजदूरी मिल जाये तो कलकत्ता के चार सौ रुपये के बराबर समझो। अभी-अभी सरकार ने कानून बनाया है कि जिसको घर बनाने के लिए जमीन नहीं होगी, उसे सरकार मुफ्त जमीन देगी····खेती के लिए भी हरिजनों को जमीन दी जा रही है।

—अच्छा····! यह कानून कब पास हुआ भैया····? खोभारी खुशी से ताली पीटते हुए बोला, तब तो मजा आ जायेगा भैया····एकदम चकाचक हो जायेगा····

—और केवल इतना ही नहीं, असली चीज तो अभी मैंने सुनाई ही नहीं···· बुटाई भी उत्साहित हो गया था। बोला, अब किसी साले सूबेदार-महाजन को एक पैसा भी लौटाने की जरूरत नहीं है····सरकार ने सारा कर्ज माफ कर दिया। बहुत दिनों से बन्धक पड़ी जमीन भी बिना भरना दिये जमीन वालों को लौटा दी जायेगी ····एक अधेला भी नहीं देना होगा।

—ऐसा····! तब तो हद हो गयी····एकदम जुलुम····खोभारी चौकी पर से उठकर नाचने लगा, बुटाई भैया, कहीं झूठ तो नहीं बोल रहे हो !····दिल्ली-कलकत्ता के शहरू लोग बड़ा झूठ भी तो बोलते हैं। चुनाब के समय हर बार तो लोग यही सब कहकर जाते हैं और फिर बाद में····

—अरे नहीं रे, मैं अपने कान से रेडियो की खबर सुन चुका हूँ। रेडियो तो कभी झूठ नहीं बोलेगा।

—लेकिन महाजन लोग क्या ऐसे ही छोड़ देंगे····? खोभारी को अब भी इन सारी बातों पर विश्वास नहीं हो रहा था····

—छोड़ना पड़ेगा ! ····सरकार के कानून से तो महाजन लोग बड़े नहीं हैं, बुटाई दृढ़ता से बोला, डोरीगंज के जमींदार पदारथ साह को कैसे अपनी चार लाख की जमींदारी छोड़ देनी पड़ी, वैसे ही महाजनों को भी छोड़ना पड़ेगा····सालों ने कम तंग नहीं किया है····जोंक की तरह सारा लहू पी गये हैं सब। लेकिन इसके लिए एक ही बात का ख्याल रखना पड़ेगा कि हम गरीबों में आपसी मेल रहे···· फुटमत होगा, तो ये जमीन और पैसे वाले महाजन लोग सरकार की भी एक न चलने देंगे। पाँच रुपये मजदूरी वाली बात भी गाँव के बाबू लोगों को माननी पड़ेगी। अगर हम सभी मजदूर एक साथ मिलकर रहें। सुबह से शाम तक ये लोग खेतों में हल-कुदाल चलवायेंगे और मजदूरी देंगे डेढ़ किलो अनाज····! और अनाज भी वही देंगे जो बाजार में सबसे सस्ता हो····जो जानवरों को खिलाया जाता हो····! बहुत सताया है इन लोगों ने····

—अब हम लोग सतायेंगे उन्हें····! खोभारी चहक कर बोला।

—नहीं, इसमें किसी को सताने की क्या बात है····! यह तो न्याय का मामला है····हम काम करेंगे, तो उचित मजदूरी हमें मिलनी ही चाहिए। बैल हल-गाड़ी खींचता है, तो उसको भी भर पेट खुराक मिलती है, हम तो आदमी हैं····

—बुटाई बेटा, रसोई बन गयी है····आकर खा लो। बुटाई की माँ ने आँगन से ही आवाज लगायी।

—हाँ भैया, अब खा-पीकर आराम करो····भौजी थाली परोसकर कब से बैठी होगी। खोभारी ने चौकी से उठते हुए हँसकर कहा, गरमा-गर्म खाना ही अच्छा होता है।

बुटाई के होठों पर भी मुसकान आयी पर दूसरे ही पल लोप हो गयी। एक अजीब कड़वाहट से उसका मुँह भर गया।

□

बुटाई अभी थाली पर बैठा ही था कि बाहर से आवाज आयी—बुटाई बेटा, कलकत्ते की सारी मिठाई अपने ही दोनों प्राणी मिलकर न खा जाना····दरवाजे पर मैं भी खड़ा हूँ।

आवाज बाबू नन्दलाल सिंह की थी, बुटाई को पहचानते देर न लगी। उसकी इच्छा हुई कि खाना छोड़कर पहले उसी मुच्छर राम से निबट आये। रुपये पाने की उम्मीद में कैसी मधुरी वाणी बोल रहा है बुड्ढा! ····सूदखोर····हरामी आज बेटा का नाता जोड़ रहा है····!

—पहले भरपेट भोजन कर लो, तब बाहर जाना। सुनयनी ने पत्नी के अधिकार भाव से कहा। यह बुढ्ढा तो रुपयों के लिए दरवाजे की मिट्टी खोदकर खा गया।

बुटाई ने पत्नी के चेहरे पर ध्यान से देखा। उसके मन में आया कि पूछे क्या बुढ्ढा केवल रुपयों के लिए ही दरवाजे की मिट्टी खोद रहा है या कुछ और के लिए भी····पर वह कुछ बोला नहीं। क्षण भर के लिए उसका मुंह चलाना बन्द हो गया और वह कहीं और खो-सा गया।

—बुटाई अभी खाने के लिए बैठा है बाबूजी····थोड़ी देर दरवाजे पर ही बैठ जाइये। बुटाई की माँ ने भीतर से ही जवाब दे दिया।

—अच्छा····अच्छा····! खूब आराम से खाये····खूब प्रेम से चभुनाये···· आज किसुना की माँ मन से खिलायेगी भी तो····नन्दलाल सिंह खोखली-सी हँसी हँसते रहे लेकिन मुझे भी कलकत्ते की कालीजी का प्रसाद जरूर मिलना चाहिए। दो साल से आस लगाये बैठा हूँ।

—आप आस लगाये बैठे रहिये····आस पूरी होने वाली नहीं है····बुटाई खाना खाकर गमछे में हाथ पोंछता हुआ बाहर निकलते ही बोला।

नन्दलाल सिंह को जैसे लकवा मार गया····न सलाम····न प्रणाम····न हाथ जोड़ना····यह तो सीधे लाठी की तरह तनकर सामने खड़ा हो गया····और बन्दूक की तरह ठाँय-ठाँय फायर करने लगा ! कुछ क्षणों तक वह हतप्रभ से चुपचाप खड़े रहे, फिर धीरे-धीरे उनके राजपूती खून में कुछ उबाल-सा आने लगा, पर दूसरे ही क्षण उनकी खानदानी साहुकारी प्रवृत्ति ने उस उबाल को फूँक मारकर ठण्डा कर दिया। उन्हें अपने पिता की कही हुई बात याद हो आयी, अपना काम निकालने के लिए गदहे को जीजाजी भी कहना पड़े तो शरमाना नहीं चाहिए बेटा !

—हें····हें····हें····शरीर तो खूब आबाद है बुटाई····! नन्दलाल सिंह ने तुरन्त पैंतरा बदलकर घोड़े की तरह हिनहिनाते हुए कहा, होटल के बैरा की नौकरी अच्छी होती है····तभी तो एकदम बंगाली बाबू की तरह लग रहे हो। उनकी आँखें बुटाई की छाप वाली चारखाने की लाल लुंगी और छोटे-छोटे छेदों वाली सैंडो बनियान पर टिकी हुई थीं।

बुटाई कुछ न बोला। अपने आप में खोया हुआ-सा चुपचाप खड़ा रहा, जैसे आगे आने वाले तूफान का सामना करने के लिए भीतर ही भीतर अपने को तौल रहा हो····

—कितना दर माहा मिलता है बुटाई····?

—चार सौ। बुटाई ने जैसे बम-विस्फोट कर दिया।

—वाह····! बहुत बढ़िया····खूब अच्छी नौकरी है ! खूब फलो-फूलो····सुख-आराम से रहो····उन्नति करो····और····और····नन्दलाल सिंह को आगे बोलने के लिए कोई शब्द नहीं मिल सका। आज उन्हें अपनी ही आवाज अपरिचित-सी लग रही थी····

—तब····बेटा बुटाई, तुम थके-हारे कलकत्ता से आये हो····अभी जाकर आराम करो। कल सबेरे दरवाजे पर आ जाना····कागज-पत्तर देखकर मैं हिसाब कर दूंगा। महाजन का रुपया जितना जल्द दे दिया जाये, वही अच्छा····मुरई-पलानी वाले घर में रुपये रखना भी ठीक नहीं होता है। शादी कमाई का पैसा कोई चोर-चुहार उठा ले जायेगा तो रो-कलप कर रह जाओगे····आ जाना कल खूब सबेरे····हिसाब-किताब साफ कर लेना।

—मेरा हिसाब-किताब तो साफ हो चुका है बाबू सा'ब। आखिर बुटाई के गले में देर से फँसा हुआ बलगम बाहर निकल ही गया, तीन पुश्तों से हम लोग आपके घर बेगारी करते रहे है····बीच-बीच में कई बार दस-बीस रुपये करके देते भी रहे हैं। फिर भी क्या आपके अस्सी रुपयों का हिसाब-किताब बाकी ही रहा····?

—अरे बुटाई बेटा ! हँसी-मजाक करने के लिए अब क्या मैं ही बच गया हूँ····! नन्दलाल सिंह ने गले के थूक को गटक कर सूखी हँसी हँसते हुए कहा, अभी जाओ आराम करो····किसुना की माई से जरा ठण्डा तेल सिर में मलवा लेना, गर्मी उतर जायेगी। कोई जल्दबाजी नहीं है····सबेरे टाइम न मिले तो शाम को ही आ

जाना····या फिर मैं ही आ जाऊँगा····

—मैं कह चुका हूँ कि मेरी ओर से आपका हिसाब बिलकुल साफ हो चुका है····अब मुझे एक भी पैसा नहीं देना है····लाल पैसा भी नहीं। बुटाई ने थोड़ा तैश में आकर कहा और अपने आँगन की ओर लौट पड़ा।

□

नन्दलाल सिंह कई क्षणों तक हक्का-बक्का-सा खड़े के खड़े रह गये। जब बुटाई आँखों से ओझल हो गया तब एक-ब-एक उनकी चेतना लौटी। दो कदम आगे बढ़कर वह आँगन के दरवाजे पर से दहाड़ कर बोले—कान खोलकर सुन ले धनपत का बेटा, नन्दलाल सिंह का रुपया कोई झींगी मछली नहीं है कि बिना चबाये ही निगल जाओगे····एक-एक पाई वसूल करके छोड़ूँगा····हाँ !····तुमको कलकत्ते की हवा लगी है, तो मैं हवा-बयार को फूँक मारकर उड़ा दूँगा····

—यह बंगाल और कलकत्ते की ही हवा नहीं है बाबू साब ! बुटाई फिर आँगन से बाहर निकल आया, यह हवा जमाने की हवा है····सारे देश की हवा है····अपनी सरकार की हवा है····आपके फूँक मारने से नहीं उड़ेगी। समझ गये न····!

—मान लो, आज तुमने मेरे रुपये मार लिये····लेकिन कल तुम्हें किसी काम के लिए कर्ज लेने की जरूरत पड़ गयी, तो गाँव में कौन तुम्हें रुपये देगा ! इस बात पर भी कभी कुछ विचार किया है····? नन्दलाल सिंह का स्वर अपने आप फटे हारमोनियम की तरह धीरे-धीरे मन्द पड़ता गया।

—अब जरूरत पड़ने पर कर्ज सरकार देगी··· सरकारी बैंक से रुपये मिलेंगे····

—अरे, देख लेंगे कि सरकार और बैंक तुम लोगों को कितने रुपये देता है····बैंक से कर्ज लेना क्या हँसी-ठट्ठा है ! ····जिसके पास जमीन-जायदाद है, उसको तो बैंक से कर्ज लेने में साल-छह महीने लग जाते हैं····तुम जैसों मुफलिसों को तो बैंक वाले दरवाजे पर से ही गर्दन में हाथ डालकर भगा देंगे।

—भगा देंगे, तो भाग आयेंगे····लेकिन आपके दरवाजे पर अब कर्ज लेने नहीं जायेंगे। बुटाई ने दृढ़ता से कहा।

नन्दलाल सिंह उसकी ओर देखते रहे····समझौते की अब कोई राह उन्हें दिखाई नहीं दे रही थी। सहसा एक पतली-सी गली दिखाई पड़ गयी। बोले—क्या बैंक और सरकार अपने कर्जों का सूद तुमसे नहीं लेगी····?

—लेगी, लेकिन आप की तरह गर्दन तो नहीं काटेगी····जोंक की तरह सारी जिन्दगी खून तो नहीं पीती रहेगी····

—अच्छा····अच्छा····! यह भी देख लेंगे····सरकार को बहुत बार देखा है····! नन्दलाल सिंह मुड़कर दो कदम चले, फिर रुक कर बोले। याद रखो बुटाई, जो बादल बहुत गरजता है, वह बरसता नहीं। सरकार केवल गरजती है····उसी

से यह मत समझ लेना कि यह बरसेगी भी····और वह कुछ बड़बड़ाते हुए आगे बढ़ गये।

□

बुटाई ने एक लम्बी साँस ली और धीरे-धीरे छोड़ता रहा। यह राहत की साँस थी····क्षणिक अन्धकार समाप्त हो गया था और सूरज का गोला क्षितिज पर फिर सहसा दिखाई पड़ने लगा था····जयद्रथ-वध का सुयोग····अच्छा····! देखें, आगे क्या होता है····जयद्रथ मारा जाता है या नहीं····बुटाई ने जैसे अपने आप से ही कहा और अन्दर चला गया।

सुनयनी गौने वाली लाल साड़ी पहने चारपायी पर बैठी थी। किसुना शायद दूध पीते-पीते उसकी छाती से चिपका सो गया था। कमरे में बुटाई के पहुँचते ही उसने बच्चे को खाट पर सुला दिया और सिर झुकाकर एक तरफ खड़ी हो गयी। बुटाई को गौने के बाद वाली पहली रात याद हो आयी····ठीक ऐसे ही····इसी साड़ी में उस रात भी तो यह खड़ी थी। उस रात घूंघट कुछ अधिक लम्बा था····शरीर कुछ अधिक सिकुड़ा हुआ, बस।

उसकी आँखें बच्चे पर टिक गयीं। वही आग का जलता हुआ गोला फिर कण्ठ से नाभि तक····एक अजीब-सी जलन से वह फड़फड़ा उठा। वह अपने बेटे को पहली बार देख रहा है····फिर यह जलन····उस साले खोभरिया ने कैसी एक आग भीतर लगा दी····; उसकी बेचैन आँखें बड़ी बेसब्री से बच्चे के चेहरे पर कुछ तलाशती-सी रहीं····शायद कोई पहचान····कोई प्रयत्न! ····यह तो ठीक मेरे ही जैसा है····कान····नाक····आँखें····साँवला रंग भी····! बचपन में मैं भी ऐसा ही रहा हूँगा····ठीक ऐसा ही····! बुटाई ने जैसे अपने आपसे ही कहा····अपने को ही समझाया····पर भीतर का जलता हुआ गोला अब भी कहीं कलेजे में ही अटका-सा रहा। उसकी आँखें कमरे में इधर-उधर कुछ तलाशती रहीं—शीशा!····शीशे में वह अपना चेहरा देख लेना चाहता था! ····उसे लगा, वह अपना ही चेहरा जैसे भूल गया है····एक लम्बे अरसे से उसने शीशे में अपने को नहीं देखा है।

—क्या ढूंढ़ रहे हो····? सुनयनी ने कुछ परेशान स्वर में पूछा।

—शीशा····मुँह देखने वाला शीशा····! बुटाई की आवाज जैसे किसी गहरे कुएँ में से निकली। सुनयनी को हँसी आ गयी। मुँह में आँचल ठूँस कर वह हँसी रोकने की चेष्टा करती रही पर अन्त में खिलखिला कर हँस ही पड़ी। हँसते-हँसते ही पति की ओर तिरछी नजरों से देखकर बोली—क्या तुम भी टिकुली-सिंदूर करोगे····? रात में शीशा लेकर क्या करोगे····?

उसने ताखे से उठाकर शीशा पति के हाथ में दे दिया। इच्छा हुई, सिंदूर की डिबिया भी उठाकर सामने रख दे पर स्वयं ही लजा गयी। खड़ी-खड़ी

मुसकराती रही।

बुटाई ने दीपक के पास जाकर शीशे में अपने को देखा····देखता रहा। फिर छिपी नजरों से चारपाई पर सोये बच्चे को देखा। उसके होंठों पर एक चटक मुसकान खिल गयी। चारपाई के पास आकर वह बच्चे के चेहरे पर झुका और अपने होंठ उसके मक्खन जैसे गाल पर रख दिये।

सुनयनी देखकर मुसकराती रही। उसके मन में आया, वह भी होंठ बच्चे के दूसरे गाल पर रखकर आँखें बन्द कर ले····बन्द ही रखे।

—आज सोओगे नहीं क्या····? सुनयनी ने जम्भाई लेते हुए पूछा।

—तुम सुला दो····

—हत्····! तुम भी क्या कोई बच्चा हो····! वह हँसी। वहाँ कौन सुलाती थी····? बुटाई ने तकिये पर सिर रखकर आँखें मूँद लीं। उसे लगा, उसकी बन्द आँखों में भी एक अजीब-सी रोशनी झलमला रही है।

—दीया बुझा दूँ····? सुनयनी उसकी बगल में आकर बोली।

—नहीं, जलने दो। दीया जलता रहता है, तभी अच्छा लगता है···

[सारिका, अक्टूबर 1976]

दिनेश पालीवाल

लीला

लीला इस गाँव की किसी लड़की का नाम नहीं है····;

अगर होगा भी तो मुझे, गाँव में इधर बीस साल के बीच पैदा हुई लड़कियों के नामों की कोई जानकारी नहीं है। न ही मैं किसी को पहचानता हूँ।

बरगद का विशाल वृक्ष गाँव के बाहर ही था। एक ढोलची उसके नीचे खड़ा आँखें मूँदे लगातार ढोल पीटे जा रहा था। नंग-धड़ंग, काले-कलूटे, गन्दे-मैले, छोटी-बड़ी उम्रों के तमाम बच्चे उस ढोलची को घेरे खड़े थे। ढोलची अपनी मुँदी आँखों वाला कलूटा सिर बीच-बीच में गिरगिट की तरह झटक दिया करता तो बच्चे खुश हो जाते····हँसने लगते।

हम वहीं, बरगद के नीचे आ खड़े हुए थे। दोस्त ने पूछा था—'यही है आपका गाँव····?'

मैं ढोलची की तरफ देख रहा था, जिसकी शक्ल कुछ-कुछ पहचानी हुई लग रही थी। उसके गिर्द खड़े बच्चों में से मैं किसी को भी नहीं पहचानता था। मैंने स्वीकारोक्ति में सिर हिला दिया था।····ढोल की आवाज काफी बुलन्द थी। गाँव में आने वाले बाहरी रास्तों पर काफी चहल-पहल हो उठी थी। स्त्रियाँ, बच्चे, नौजवान, प्रौढ़-बूढ़े, लड़कियाँ····गाँव की तरफ आने वाले हर रास्ते से चले आ रहे थे····क्या मामला है····? मैं समझ नहीं पा रहा था। कोई परिचित मिले तो उससे पूछा जाये। तभी दोस्त ने कहा—'आप किस आदमी के बारे में कह रहे थे····! उसे बुला लीजिए। फिर हम लोग अपना काम शुरू कर दें····।'

पास ही खड़े, एक किशोर वय के लड़के को बुलाया। वह मेरी तरफ आता हुआ भी उस ढोलची को ढोल बजाता हुआ मुग्ध भाव से ताके जा रहा था।

'प्रकाश गाँव में ही है····?' पूछा तो भी उसकी मुग्धता भंग नहीं हुई। उसने शायद मेरा सवाल ठीक से सुना भी नहीं। मेरी ओर एक पल को देखा था, फिर वह उस ढोलची की गिरगिट की तरह झटके खाती गर्दन को देखने लगा था।

उसी तरफ ताकता हुआ मुस्कुराया—'घर पर ही है ! बुखार में पड़ा है···· महीना भर हो गया।····प्रकसा भड्डरी ही न····?'

'हाँ, प्रकास भड्डरी ही !' मैंने उसके जवाब में कहा।

दोस्त की तरफ देखा। उसकी नजरों में सवाल था और चिन्ता भी—तब ? मैं कुछ पल सोचता रहा, किसे बुलाया जाये····? लड़का फिर बच्चों के गोल में शामिल होने के लिए आगे बढ़ने लगा था। मैंने उसे फिर बुलाया—'और मंटूरा नाई····?'

'घर पर ही होगा या हो सकता है, कहीं गया हो····उसका पगला भाई मर गया है····!' लड़के ने यों ही कहा, मानो कोई खास बात ही न हो !

'और नत्थू····?' मैंने अपने एक और परिचित का नाम लिया था।

'कौन नत्थू····? नथुवा जाटव····?' उसने मेरी ओर देखा।

'हाँ !' मैंने स्वीकारा।

'वह अपना खेल तैयार कर रहा होगा····।' लड़के ने उत्सुकता से कहा।

'खेल····?' मैं चकराया।

'गाँव में रामलीला होने लगी है····पिछले साल से !' वह बोला—'नथुवा जाटव जोकर का काम करता है उसमें····बड़ा अच्छा खेल खेलता है····तुम देखना ! मजा आ जायेगा !' वह उत्साह से बोला।

'ओह !' मेरे मुख से अचानक ही निकल गया—'और किसना····?'

'कौन किसना····? किसन महाराज····?' उसने पूछा।

'हाँ ! वही····!' मैंने कुछ याद करने की कोशिश की थी। बीस साल हो गये, नाम भी पता नहीं ठीक तरह याद है या नहीं। तब उसे किसना ही कहा जाता था।

'वह लीला में राम का पार्ट करते हैं। वे भी तैयारी कर रहे होंगे····!'

मैं फिर कुछ सोचने लगा था। अपने पुराने परिचितों में सबके नाम ले लिये थे। अब किसे बुलाया जा सकता था ?····चुप देख, लड़का तुरन्त आगे सरक गया था। बरगद के नीचे भीड़ बढ़ती जा रही थी। आस-पास के गाँवों से आने वाले लोग गाँव की मुख्य गली के किनारे बने घरों के चबूतरों पर जमा होते जा रहे थे। अभी काफी धूप थी, स्त्री-बच्चों का धूप के कारण बुरा हाल था। पसीने की बूंदे चेहरों पर झलक रही थीं। लेकिन शायद उन्हें ठीक जगह न मिले और वे तमाशा न देख पायें····इसलिए जिसे जहाँ उपयुक्त जगह मिलती जा रही थी, जमा होते जा रहे थे।

'और कोई अपने काम नहीं आ सकता····?' दोस्त कुछ परेशान-सा हुआ।

'चलो ! राम के ही पास चलते हैं।' मैं मुस्कुराया।

'राम····?' दोस्त भी चकराते हुए मुस्कुराया।

'राम उर्फ किसना····यानी किसन महाराज !'

'लेकिन वह तो अपना पार्ट तैयार कर रहे होंगे····उन्हें फ़ुर्सत होगी इस समय····?'

दोस्त का हाथ पकड़ लिया था। चलने लगा था।—'वह तो वहीं जाकर पता चल सकता है!'

राम अभी अपना मेकअप कर रहे थे। मुझे देखते ही सकते-से में आ गये—'आप····आप यहाँ कहाँ····? कैसे आये····?'

'मैंने सुना कि गाँव में बहुत अच्छी रामलीला होने लगी है! देखने चला आया!' मैं हँसा तो वह झेंप गया—'कहाँ यार! बस यों ही हम लोग थोड़ी-बहुत उछल-कूद कर लेते हैं! और गाँवों में है ही क्या, जिससे अपना जी बहलाया करें····? आप लोगों के शहरों में तो सिनेमा है, नाटक हैं, रेडियो हैं, वह सिनेमादार रेडियो····क्या कहते हैं उसे····टेलीवीजन····या कुछ ऐसा ही····वह भी हैं····हाट-बाजार हैं····सभा-सोसाइटियाँ हैं····होटल वगैरह हैं····यहाँ क्या है····? यहाँ यही खेल-तमाशे हैं। अपना····।'

'हमने अभी गाँव के बाहर वाले बरगद के नीचे सुना कि तुम राम का पार्ट करते हो तो यहाँ चले आये····! बड़ी खुशी हुई कि तुम····!'

'आज तो रुकोगे····?' उसने उत्साह से पूछा।

रुकना चाहता तो नहीं हूँ। मैंने दोस्त की तरफ देखा—'एक खास काम से आया हूँ। वह काम बन जाये तो यहाँ से तुरन्त चला जाऊँगा····।'

'क्या काम है····?' राम अपने चेहरे पर खड़िया का लेप पोत रहे थे।

'चमगादड़ पकड़ने हैं!····असल में हम लोग खोज का काम कर रहे हैं····चमगादड़ हमारा विषय है····खोज का!' मैंने कहना शुरू किया।

उसे अचरज हुआ। थोड़ी देर चकित नजरों से हम लोगों की ओर ताकता रहा—'चमगादड़····उसमें क्या खोजा जायेगा····?'

'उसमें बहुत कुछ खोजा जा सकता है····!' मैंने कहा—'वह उल्टा लटकता है न····तो धरती की आकर्षण शक्ति का उसके शरीर के हर अंग पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता होगा····हम लोग उन्हीं प्रभावों पर खोज करना चाहते हैं!'

राम की समझ में कुछ भी न आया। अपने सहायक से उसने आँगन में एक खाट बिछवा दी और अपनी पत्नी को आवाज देकर बुलाया—'देखो तो कौन लोग आये हैं!'

वह राम की पत्नी सीता नहीं, किसन महाराज की पत्नी अनोखी थी। मैं जब गाँव में रहता था और किसना हमारे साथ पढ़ता था, उसकी शादी तभी हो गयी थी····शायद यह कक्षा चार या पाँच की बात रही होगी! मैं किसना के घर अक्सर आया-जाया करता था। गौने में किसना की बहू आयी तो उसे देखा भी था। नाम था अनोखी!····लेकिन उसमें कुछ भी अनोखापन न था। वह एकदम साधारण किस्म की, सांवली-सी बेपढ़ी-लिखी लड़की थी।

आगन्तुकों को आँगन में खाट पर बैठे देखा तो उसने छोटा-सा घूंघट काढ़ लिया और अपने पति के समीप आ खड़ी हुई। किसन मुस्कुरा रहा था—'पहचाना····?'

वह अनपहचानी नजरों से हम लोगों को बारी-बारी ताकती रही।··· चेहरा एकदम बुढ़ा गया था। वह मैली-सी धोती पहने हुए थी। किनारी फटी होने के कारण सिर के बाल उसमें से झाँक रहे थे। खिचड़ी बाल ! पल्लू से उसने अपना सीना और बदन इस तरह ढक लिया था, मानो पता नहीं वहाँ क्या होने वाला है !

आखिर किसन ही बोला—'यह हमारा बचपन का दोस्त है !····अरे वही, रतन बाबू का लड़का····दीपक····! हम लोग सब इसे दीपू कहा करते थे !····और यह साथ में इनके दोस्त हैं····एक जरूरी काम से गाँव आये हैं। इनके लिए खाना तो बनेगा ही····पहले चाय-वाय कुछ बनाओ !'

'खाने की क्या जरूरत है यार····?' मैंने संकोच से कहा—'रात को हम लोग वापस शहर लौट जाएँगे। अगर हमें एक आदमी मिल जाये तो मुश्किल से घण्टे दो घण्टे का हमारा काम है। हम लोग चमगादड़ पकड़वा कर वापस लौट जाएँगे !'

'यह कैसे हो सकता है····? कितने साल बाद गाँव में आज आये हो ! कैसे जा सकते हो ? आज तो आप लोगों को यहीं रहना पड़ेगा। गाँव वाले जाने ही न देंगे। अभी तो गाँव वालों को पता नहीं चला है कि आप लोग यहाँ आये हैं, जहाँ मैंने लोगों को बताया, कोई नहीं जाने देगा आपको····!' वह चेहरे पर खड़िया पोत चुका था। अब गालों पर कोई गुलाबी रंग का पाउडर-सा मल रहा था। शीशे में अपना चेहरा घुमा-घुमा कर देखता जाता था।—'कैसा आदमी चाहिए····?'

'कोई भी····हमारा घर है न····बरसों से बन्द पड़ा है। तुम तो जानते ही हो। उसमें अन्दर के बन्द अँधेरे कोठों में सैकड़ों चमगादड़ भरे हुए हैं।····लेकिन बरसात अभी खत्म हुई है। पुराना घर है। अँधेरे-बन्द कोठे हैं। लकड़ी कण्डे भरे हुए रहते थे उनमें। हो सकता है, अब उनमें साँप-बिच्छू हों····इसलिए कोई आदमी मिल जाता····वह उसमें घुसकर चमगादड़ पकड़ देता····हम लोगों की तो हिम्मत नहीं कि उन कोठों में घुसकर चमगादड़ पकड़ लें !'

राम ने गालों पर पाउडर मलना बन्द कर दिया। वह हम लोगों की आँखों में देखकर मुस्कुराया तो उसकी मुस्कराहट एकदम चुभ-सी गयी। बोला—'यानी आप लोगों को बिल्कुल फालतू आदमी चाहिए····जिसे साँप-वाँप काट भी खाये और अगर वह मर भी जाये तो····!'

'नहीं यार !' मैं अचकचाया—'यह बात नहीं है। हम लोग पूरी सावधानी बरतेंगे। ऐसा कुछ भी घट नहीं सकेगा····हमारे पास इसका पूरा इन्तजाम है !'

राम अपनी खड़िया से सफेद पड़ गयी भौंहों को काजल से काला करने लगे थे—'आपके पास जब पूरा इन्तजाम है तो आप लोग स्वयं क्यों नहीं पकड़ लेते····?'

राम हल्के-हल्के मुस्कुरा भी रहे थे। मैं समझ नहीं पाया, मुस्कुराहट में व्यंग्य है या नहीं—'आप शहर वाले सचमुच बहुत चालाक लोग होते हैं····दूसरों की जान सस्ती और अपनी बहुत कीमती समझते हैं!'

दोस्त का चेहरा लाल-सा पड़ गया था। जरूर मेरा भी पड़ गया होगा। झेंप-सा गया था। किसी तरह बोला था—'शहर में रहते हुए····हम लोग थोड़े कायर और डरपोक हो जाते हैं····दूसरे हम लोग जानवर पकड़ने के अभ्यस्त भी नहीं हैं। कोई ऐसा आदमी बताओ जो जानवर पकड़ने में माहिर हो····उसे देर नहीं लगेगी····!' कहा जरूर, लेकिन लगा कि किसन हमारी चालाकी को समझ गया है। यह सब ऊपरी लीपा-पोती थी। सच्चाई वह जान गया था।

भौंहों की नुकीली कोरें बनाता हुआ वह कान की तरफ ले जा रहा था···· कमानीदार, तीखी भौंहें! बड़ी-बड़ी काजल लगी आँखें! राम अब काफी सुन्दर दिखाई देने लगे थे!

किसन की पत्नी चाय बना लायी थी। घर में शायद केटली नहीं थी। चाय लोटे में थी। लोटे का किनारा उसने अपनी मैली-गन्दी धोती के पल्लू से पकड़ रखा था। दूसरे हाथ में उंगलियों के दाग लगे हुए मैले से काँच के गिलास थे, जो शायद कभी-कभार ही काम में लाये जाते थे। उनकी तली में कुछ मैला-सा स्थायी तौर पर चिपका हुआ था। मैंने हल्की-सी घबराहट के साथ दोस्त की तरफ देखा तो वह आँखों ही आँखों में मुस्कुराया····। मानों कह रहा हो, बुरे फँसे! लेकिन कर क्या सकते थे? शालीनतावश चुप ही रहे। किसन की पत्नी वहीं जमीन पर बैठ गयी और लोटा-गिलास नीचे रख कर, बारी-बारी तीनों गिलासों में चाय उड़ेलने लगी।

'रावण कौन बनता है····?' मैंने विषय बदलने के लिए राम से पूछा।

'सीताराम खिलाड़ी····! आप तो जानते होंगे उसे····?' राम भी नजदीक आ गये!

'सीताराम खिलाड़ी····?' मुझे आश्चर्य हुआ—'अभी जब हम लोग गाँव की तरफ आ रहे थे, तो वह हमें नहर की पटरी पर जाता हुआ मिला था। लेकिन वह तो बीमार दिखाई देता था!····चलने में भी उसे कुछ दिक्कत हो रही थी!'

'इस बार गाँवों में मलेरिया बहुत जोरों से फैला है····। बरसों पहले फैला करता था····। पता नहीं इस बार क्या हुआ है कि फिर····गाँवों में घर-घर खाटें बिछ गयी हैं!' राम ने एक-एक गिलास हम लोगों को दिया और एक खुद लेकर वहीं आँगन में पलथी मारकर बैठ गये—'सीताराम भी अर्से से बुखार में पड़ा रहा।···· गाँव वालों ने जोर दिया तो बेचारा रावण का पार्ट करने के लिए तैयार हो गया। तुम तो जानते ही हो, वह बहुत अच्छा खिलाड़ी है! जो भी पार्ट करता है, डूब कर करता है। मजा आ जाता है!'

चाय गुड़ की थी। राम को अचानक ख्याल आ गया। झेंप कर बोला—'यार बुरा मत मानना····चाय गुड़ की बनी है! आप तो जानते हैं कि गाँव में

शकर नहीं मिलती····जो थोड़ी-बहुत ग्राम-पंचायतों के नाम आती है, वह सब ऊपर वाले ही खा-पी जाते हैं । हम साधारण लोगों को कौन देता-दबाता है····?'

'तुम तो अब साधारण आदमी नहीं हो !' मैं मुस्कराया—'राम हो !'

वह खिसिया कर हँसने लगा—'सिर्फ रामलीला के लिए !····वैसे लोग अभी भी किसना ही मानते और कहते हैं !'

'बच्चे कहाँ हैं····?' मैंने पूछा तो किसना की हँसी गायब हो गयी। वह थोड़ी देर सुस्त-सा बैठा फूंक-फूंक कर चाय सुड़कता रहा। फिर चोर नजरों से उसने पत्नी की ओर देखा। वह आँगन पार कर चौके के छप्पर में जा बैठी थी। किसी तरह बोला—'दो तो वहीं····बरगद के नीचे कहीं खड़े होंगे। ढोल बज रहा है न····बाजे सुनने का उन्हें बड़ा शौक है !····एक, अभी महीना भर हुआ, मर गया !'

'अरे !' मुझे अफसोस-सा हुआ—कैसे····? बीमार था क्या····?'

'क्या बताऊँ····? बीमार ही समझ लो !' राम उदास हो गये—'गरीबी भी तो एक बीमारी ही है ! महामारी कहा जाये तो ज्यादा अच्छा होगा ! नहीं····?' निमिष भर चुप रहकर चाय सुड़क कर बोले—'मना किया था, बेटे उतने ही पैर पसारो····जितनी अपनी चादर है····लेकिन नहीं माना····शहर में साइंस पढ़ रहा था।····हम कहते थे, कोई सरल विषय ले लो। दसवीं-बारहवीं प्राइवेट पास कर लो और काम से लग जाओ····लेकिन नहीं सा'ब ! बोला, हम तो डाक्टर बनेंगे····साइंस पढ़ेंगे····जैसे-तैसे हाई स्कूल तो पास कर लिया····इण्टर में फेल हो गया····डर के मारे घर नहीं आया। लेकिन मुझे पता चल गया था कि सुसरा फेल हो गया है। खेत गिरवी रखकर पढ़ा रहा था····बहुत गुस्सा आया।····महीने दो महीने बाद जब घर आया तो मैंने उसे खूब जली-कटी सुनायीं····साले हरामी की औलाद ! डाक्टर बनने चला था ! तेरा बाप भी सुसरे डाक्टर या इंजीनियर बना होगा। ····बैल की देखा-देखी मेंढकी भी पैर में नाल ठुकायेगी तो क्या अन्जाम होगा····? मरेगी ही ! तेरे कारण खेत गिरवी रखना पड़ा और तू शहर में मटरगस्ती करता रहा····सिनेमा देखता रहा····। पढ़ा-लिखा नहीं और यहाँ मुँह लटकाकर बैठ गया कि पेपर बहुत कठिन थे ! ऐसी-तैसी !····अब मरो कुत्ते ! हमारे पास पैसा-वैसा नहीं है। पढ़ो या मत पढ़ो ! भाड़ झोंको ! जो मन में आया, उसे खरा-खोटा सुनाया। वह चुपचाप आँसू पोंछता सुनता रहा। किसी तरह बोला—वह लिखित परीक्षा में बहुत अच्छे नम्बरों से पास है····सिर्फ प्रयोगों की परीक्षा में फेल कर दिया गया है। क्योंकि प्रयोग की परीक्षाएँ कालेज के मास्साब कराते हैं। और वह ट्यूशन वालों को ही नम्बर दिलवाते हैं।····इसलिए वे सब लड़के जो लिखित परीक्षा में उससे कहीं ज्यादा बुरे हैं, प्रयोग की परीक्षा में ढेरों नम्बर पाकर पास हो गये हैं और उस जैसे गरीब लड़के जो मास्साब जी को ट्यूशन करके दो-ढाई सौ रुपये नहीं दे सकते····भले ही लिखित परीक्षा में पास हों, प्रयोग की परीक्षा में फेल

हैं।····मैंने लड़के की बात पर भरोसा नहीं किया। उसे डाँट-फटकार कर घर से बाहर भगा दिया।····कुछ दिनों वह मुझसे कतराता रहा। फिर उसने अपनी माँ के हाथ-पाँव जोड़े····किसी तरह मुझसे कहे कि उसे इस बार शहर भेज दिया जाए····वह जी-जान से मेहनत करेगा और अच्छे नम्बरों से पास होगा····। मैंने डण्डा उठा लिया। फटकारा—ऐसी-तैसी तेरी, अब मेरे सामने पढ़ने का नाम लिया तो सुसरे टाँगें तोड़ दूंगा ! यहाँ कुबेर का खजाना गड़ा है क्या कि तेरे पीछे उलीचता रहूँ····? मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है अब तेरे लिए !····लड़के ने ज्यादा जिद की तो मार-पीटकर भगा दिया ! मुझे भी जुनून चढ़ा हुआ था उस वक्त !····दूसरे दिन ही शहर की पुलिस आई और रेल से कटी-फटी लड़के की लाश हमारे घर दे गयी।' कहते-कहते किसन की आँखें डबडबा आईं। मुझे भी कुछ अजीब-सा लगा।

भय लगा कि कहीं राम का मेकअप न खराब हो जाये। अगर आँसू बह आये तो उसके गालों का गुलाबी रंग काजल की कालिमा से रंग जायेगा। फिर राम को घण्टों अपना मेकअप ठीक करने में लगेगा।

अचकचाकर बोला—'हम लोगों को बहुत दुख है यार !' किसी तरह आगे बोला था—'अब तुम अपनी तैयारी करो ! हम लोग खुद ही किसी आदमी को पकड़ लेंगे····।' चाय के खाली गिलास आँगन की जमीन पर रखे और उठ खड़े हुए तो राम भी सहज हो गये—'खैर ! मैं भी औंधी खोपड़ी का आदमी हूँ यार !···· इतने सालों बाद आप लोग घर आये थे और मैं अपना रोना लेकर बैठ गया था ! ····कहो तो किसी आदमी को यहीं बुलायें···· वैसे आप लोगों को चमगादड़ कल पकड़वा दूंगा····कोई न पकड़ेगा तो मैं ही पकड़ दूंगा !····आज आप लोग हमारी लीला देखते ! लीला क्या····बस यों ही उछल-कूद ! हालांकि आप लोगों को हँसी आयेगी हमारे खेल पर····लेकिन आप लोग देखते कि लोगों को हमारा यह बेकार-वाहियात खेल भी कितना अच्छा लगता है और कितनी दूर-दूर से लोग यह तमाशा देखने आते हैं !'

मैं कुछ कह पाऊँ, उससे पहले ही दोस्त बोला—'हम लोग रात को रुक सकते हैं····लेकिन आपको भी तकलीफ होगी····। हम लोग न कपड़े लाये हैं, न सोने के लिए बिस्तरे वगैरा····!'

'हम लोग गरीब जरूर हैं साब'····लेकिन हमारा दिल इतना छोटा नहीं कि आप दो लोगों का इन्तजाम हम न कर सकें····! आप चिन्ता मत करिये। सब हो जायेगा !···· मेरी ओर देखकर बोला—'वह धानुक टोला है न····अगर उधर कोई मिल जाये तो पकड़ लाओ····वह चमगादड़ पकड़ देगा। ···· न कोई मिले तो वापस आ जाना।····कल मैं खुद पकड़ दूंगा। सुबह। दोपहर तक आप लोग शहर पहुँच जायेंगे····खाना बना जाता है। यहीं खाना पड़ेगा आप लोगों को !'

□

दोपहर ढल चुकी थी। शाम नजदीक आती जा रही थी और गाँव में दर्शकों की भीड़ का दबाव बढ़ता जा रहा था। लोगों के उत्साह को देखकर मैं चकित था।

किसन के घर से बाहर आये तो मैंने दोस्त से कहा—'चलो ! अपना घर दिखाऊँ····! उसी घर में पैदा हुआ था और यहीं, इसी गाँव में कक्षा पाँच तक मैंने शिक्षा पायी थी। फिर शहर चला गया था। तब से वहीं रहा। वापस कभी नहीं आया। आज आया हूँ।'

'पुराने घर में हम लोगों का अकेले घुसना ठीक न होगा। साँप हो सकते हैं !····किसन कह रहे थे, धानुक टोला से किसी को लाएँ····वहाँ चला जाये न····?' दोस्त ने कहा था।

'लेकिन धानुकों में शायद मैं किसी को भी नहीं जानता····!' मैंने कुछ याद करने की कोशिश की। गाँव के उसी सिरे की तरफ चल दिये।

'पकड़ने के लिए पैसे का लालच देंगे····कोई भी पकड़ देगा····!' दोस्त ने कहा और मुस्कुराया।

धानुक, भँगी और चमार····सबके मिले-जुले घर गाँव के एक सिरे पर थे। मैं नत्थू चमार को ही उधर जानता था, वह भी हमारे साथ स्कूल में पढ़ता था। उस लड़के की सूचना के अनुसार वह भी लीला की तैयारी में होगा ···· जोकरी करता है ! ···· उन दिनों, गाँव का वह सबसे गन्दा हिस्सा था। गली में हर वक्त सुअर गन्दगी में थूथन मारते घूमते रहते थे। कुछ घरों के सामने मरे हुए पशुओं की खालें सूखती रहती थीं। खालों पर मक्खियाँ भिनभिनाती रहती थीं। बरसात में सारे गाँव का पानी बहकर उसी गली में इकट्ठा हो जाता था और घुटनों तक कीचड़ के कारण गाँव का कोई आदमी उधर आता-जाता न था। सिर्फ वही लोग आया-जाया करते थे, जो वहाँ बसे हुए थे।····मुझे खूब याद है, गाँव में तीन-चार ही कुएँ थे। और उन लोगों को उन कुँओं से पानी नहीं भरने दिया जाता था। अगर अँधेरे-उजाले कोई भरने लगता था तो गाँव के बड़े और उच्च वर्ग के लोग लाठियाँ निकाल लाते थे। पानी का बर्तन ही नहीं फूट जाता था, बल्कि हिम्मत करने वाले की खोपड़ी भी चटक जाया करती थी।····वे लोग गाँव के बाहर, पशुओं के पानी पीने वाला जो तालाब था, उसी में से अपने पीने के लिए पानी भरते थे। गाँव की उस गली में दुर्गन्ध के कारण तब घुस जा पाना असम्भव-सा लगता था। हो सकता है, अब सब ठीक हो गया हो····आजादी को आखिर तो एक अर्सा हो गया है देश में !

पत्थरों की ढलवाँ गली से घूमते हुए जब गाँव के उस सिरे पर पहुँचे, जहाँ से भँगियों, चमारों और धानुकों के घर शुरू होते थे, यह देखकर यकायक ठिठक-से गये कि उस गली में अभी भी कीचड़ भरा हुआ था। देर तक इधर-उधर ताकते रहे कि किसी तरफ से उस गली में घुसने का रास्ता दिखाई दे जाये। किनारे-किनारे कुछ ईंटें रखी दिखाई दे गईं। लेकिन उन तक पहुँचना कठिन था। डर था, जूते

और मौजे खराब हो जायेंगे। .... दोस्त के साथ ही मुझे भी नाक पर रूमाल रख लेना पड़ा। गली से होकर हवा का जो झोंका आया था, उसके साथ ही बदबू का भभका भी उधर आ गया था। बाप रे ! अभी तक वही दुर्गन्ध, गली में उसी तरह व्यापी हुई है !....घरों को देखा....वैसे ही उजाड़ !

□

किसी तरह नत्थू के घर तक पहुँचने में सफल हो गये। वह भी तैयारी में जुटा हुआ था। मुझे देखकर थोड़ी देर हैरान हुआ। फिर अपनी आदत के अनुसार खीसें निपोर दीं—'अरे ! आप यहाँ....'

'जोकरी की तैयारी कर रहे हो....?' मैं हँसा तो वह गद्गदाता हुआ बोला —'और क्या है जीवन में....? हम सब जोकर ही तो रह गये हैं !....बताओ, कैसे आये....?' वह अपने घर में इधर-उधर देखने लगा। किस पर बैठाये ? घर में कुछ भी नहीं था। और घर भी क्या, सिर्फ फूटी दीवारों पर पहले की तरह रखा हुआ टूटा, सड़ा-पुराना छप्पर ! न जाने दुर्गन्ध घर में से निकल रही थी, या गली के कीचड़ और कूड़े से आ रही थी, नाक फटी जा रही थी।

'कुछ नहीं ! बस ऐसे ही।' मैं मुस्कुराया—'अपने इन दोस्त के एक काम से आया हूँ। .... यहाँ आकर सुना, तुम लोग लीला करते हो ! तो आज देखने के लिए रुक गया।'

'अहो भाग हमारे !' वह गद्गद स्वर में बोला था—'आप लोग तो हमें लज्जित कर रहे हैं। हम कोई लीला-वीला नहीं करते ! हम तो गाँव के गँवार आदमी हैं। जानवर ! बस यों ही अपना जी बहला लेते हैं....बिना पैसे का तमाशा हो जाता है .... बच्चों और घरऊ औरतों को भी हँसने-बोलने का मौका मिल जाता है।'

'नहीं यार ! बहुत अच्छा है।' मैं मुस्कुराया—'और तुम तो बचपन से ही जोकरी में उस्ताद हो ! हमें क्या याद नहीं है .... ? स्कूल में जब पढ़ते थे तो हर वक्त हम लड़कों को हँसाते रहते थे !'

'आपने बताया नहीं, कैसे आये थे .... ?' वह अपनी प्रशंसा से प्रभावित हुआ था।

'चमगादड़ पकड़ने !' मैंने उसे अपनी सारी बात बता दी तो वह मुस्कुराया —'आप लोग भी खूब हैं .... चमगादड़ों को खोजते फिरते हैं ....हम आदमियों की जिन्दगी जो नरक बनी हुई है, उस पर कभी कुछ नहीं सोचते....खोजते ! क्या हम लोग चमगादड़ों से भी गये-गुजरे हैं दीपक बाबू ?'

थोड़ी देर तक मैं समझ नहीं पाया कि नत्थू जोकरी कर रहा है, या सचमुच वह व्यंग्य कर रहा है ! लेकिन वह हँस नहीं रहा था। बोला—'आप सोच रहे

होंगे, मैं जोकरी वाले डैलाग बोल रहा हूँ····नहीं भाई ! वह तो मैं सिर्फ रामलीला में ही बोलता हूँ ! यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ····वह सच है····! क्या आप लोग हमारे जीवन के दुखों-दर्दों पर कोई खोज नहीं कर सकते····? उनके लिए कोई रास्ता नहीं निकाल सकते····?'

मुझे खिसियाहट अनुभव होने लगी थी। पर मैं हँसता ही रहा—'क्यों नहीं ! लेकिन वह हमारा विषय नहीं है। वह और लोगों का विषय है और उसमें भी काफी कुछ हो रहा है। ऐसा तो है नहीं कि नहीं हो रहा····।'

'फकीरे को बुलाये देता हूँ ···· उसे साथ लिवा ले जाइये। यहीं इसी मुहल्ले में रहता है। आप जो भी जानवर बतायेंगे, वह पकड़ देगा।' अपने कलूटे बच्चे को, जिसके चेहरे पर नाक की रेंट बह रही थी और मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, आवाज देकर पास बुलाया और फकीरे को बुलाने लिए भेज दिया।

फकीरे····एक ढलती उम्र का बेवक्त बुढ़ा जाने वाला आदमी ! सामने आकर खड़ा हुआ तो पहचान गया। नाम याद नहीं रहा था। शक्ल से याद आ गया। यह आदमी तब गाँव का पहरा दिया करता था और चौकीदार कहलाता था। आकर उसने सलाम किया। अपना मंतव्य बताया तो वह चलने के लिए तैयार हो गया। दोस्त ने बीच में ही कहा—'हम लोग आपको एक-दो रुपये भी दे देंगे···· बेगार नहीं ले रहे आप से····!'

'नहीं सा'ब ! रुपयों की क्या बात है····? हम लोग तो यों ही ···· !' कहते-कहते वह रुक गया। साथ चल पड़ा। नत्थू बोला—'शाम को लीला में तो आओगे न····?' हम लोगों ने 'हाँ' कहा तो खुश हुआ।

□

रास्ते में फकीरे से पूछा—'और क्या हालचाल है ···· ? ···· आप लोगों की गली अभी तक वैसी ही कीचड़ भरी है····पक्की क्यों नहीं करवाते····?'

'काहे से पक्की करायें सा'ब ···· ?' वह पूछ बैठा—'हम लोगों पर सिर्फ अपनी हड्डियाँ हैं····आप लोग कहें तो वही निकाल-निकालकर गली में बिछा दें।'

'आप लोगों के मुहल्ले में साफ पानी का कुआँ तो हो गया होगा ···· सरकार आप लोगों के लिए बहुत कुछ कर रही है ! हमने अखबार में अभी कुछ समय पहले पढ़ा था, आप लोगों की बस्तियों में साफ पानी के कुएँ खोदने के लिए ग्राम-पंचायतों को पैसा····।'

'सरकार तो बहुत कर रही है और करना चाहती है ···· लेकिन सवाल तो लोगों का है ! लोग करें तब न ! ···· पंचों, सरपंचों और प्रधानों ने जेबों की जगह थैले और बोरे लटका रखे हैं ! हर वक्त भरा-भर लगे रहते हैं। पैसा आया जरूर, लेकिन प्रधान जी की बिटिया की शादी में खर्च हो गया !'

'आप लोगों ने शिकायत नहीं की····?'

'जल में रहकर मगर से कौन बैर साधे सा'ब····? मार-मार लाठियों के गाँव से बाहर खदेड़ दिये जायेंगे····।'

'तुम तो पहले चौकीदारी करते थे····अब भी करते हो क्या····?'

'कहाँ····? अब तो चोला ही साथ नहीं देता सा'ब !' वह थके स्वर में बोला था—'वैसे ही बीमार रहता था। उस पर इस साल ऐसा जूड़ी-बुखार चला कि हम लोग मर ही मिटे !'

घर की हालत काफी खस्ता हो गयी थी। चिन्ता हुई, अगर इसकी अब देख-रेख न की गयी, यह इसी तरह बन्द रहा तो कुछ बरसातों बाद भसककर बैठ जायेगा और मिट्टी का एक ढेर रह जायेगा। फकीरे शायद आज पहली बार हमारे घर को भीतर से देख रहा था। बोला—'रतन बाबू ने कैसा महल सरीखा मकान बनवाया था सा'ब ! आज भी वैसा ही खड़ा है ! हम लोगों का घर इतनी बरसात बाद तो बन्द रहने पर पता न चलता, कहाँ गया !'

चमगादड़ों वाले कोठे की तरफ इशारा किया—'इसमें भरे हुए हैं ! सांकल खोलकर अन्दर घुसना पड़ेगा।····हम टार्च से रोशनी करेंगे ···· भीतर साँप-वाँप हो सकते हैं ! दीवारों में काफी छेद हैं !'

'साँप क्या····फकीरे को तो मौत भी नहीं मारती सा'ब !' वह कुछ उदास होकर बोला—'हम लोग बड़े जहरी है सा'ब ! साँप का जहर असर नहीं करता ! उल्टे साँप मर जाते हैं !'

'नहीं भाई !' मैं अचकचाया—'ऐसा नहीं है। साँप बड़े खतरनाक भी होते हैं।'

'आदमी से ज्यादा कोई जानवर खतरनाक नहीं होता सा'ब !' वह उसी तरह बोला—'साँप का काटा तो शायद पानी भी माँगे····आदमी का काटा साब····!,

अचानक मुझे कुछ याद आया। पूछा—'फकीरे····! तुम्हारा तो एक भाई भी था····कहीं नौकरी करता था····अब कहाँ है····?'

उसने ऊपर आसमान की तरफ इशारा कर दिया—'वहाँ पहुँच गया सा'ब !'

'क्यों क्या हुआ····?'

'बिहार की कोयला खदान में काम करता था ···· काफी ऊँचा टँगा हुआ भीतर कोयला खोद रहा था। पाँच-सात साल हुए····अचानक उस दिन कोयले की एक बड़ी-सी चट्टान ऊपर से टूट कर गिरी। टाँगों और नीचे के धड़ पर गिरने के कारण वह उस चट्टान के साथ ही नीचे आ गिरा। टाँगों और कूल्हे की हड्डियाँ चकनाचूर हो गयीं। ···· कम्पनी के सेठ ने थोड़ा-सा हरजाना दिया। उससे उसका इलाज भी न हो सका। वैसे भी क्या इलाज होता····? हड्डियाँ चूरन बन गयी थीं ! नीचे का पूरा धड़ मारा गया ! डाक्टरों ने टाँगें काट दीं।····हम लोग यहाँ

घर ले आये। कुछ दिनों भुगतकर मर गया। .... हम कहाँ से इलाज कराते .... ? हमारे पास कुछ जमीन-जायदाद तो है नहीं !'

कोठे की साँकल खोलकर उसने दरवाजा खोला तो भीतर से दुर्गन्ध का एक भभका निकला। चमगादड़ सचमुच भरे हुए थे। एकदम रोशनी के कारण उनमें भगदड़-सी पड़ गयी। वे उसमें फुड़फुड़ाने लगे। कोठे की कच्ची जमीन कहीं दिखाई न दे रही थी। ऊँचे-ऊँचे कूड़े के ढेर और उन पर चमगादड़ों की बीट पड़ी हुई थी। फकीरे भीतर घुसने लगा तो मैंने उसे रोका—'थोड़ा ठहरकर घुसो ! दरअसल कोई जन्तु हो सकता है ! .... मैं टार्च दिखाता हूँ !' उसके साथ मैं भी कुछ भीतर की ओर चला। दोस्त ने मेरा हाथ पकड़ लिया और अंग्रेजी में भीतर जाने से रोका—'कहाँ जा रहे हो....? उसे जाने दो। तुम मत जाओ।'

मैंने भी अंग्रेजी में ही जवाब दिया—'नहीं यार ! साँप हुआ तो हाथ-पाँव में चेंट जायेगा और यह मर गया तो मुसीबत हो जायेगी।'

पीछे-पीछे थोड़ी दूर ही उस कोठे में घुसा था। नाक पर रूमाल रख लिया था। लेकिन फकीरे बिना किसी हिचक के भीतर धँसता चला गया। दोस्त ने फिर कहा—'यह सुसरा मर जायेगा तो कोई फर्क नहीं पड़ता ! अपन लोगों के तो बीवी-बच्चे हैं। हम लोगों को कुछ हो गया तो उनका क्या होगा....?'

मैं धीरे-धीरे हँसा। फकीरे ने भीतर से पूछा—'कितने पकड़ने हैं साब....?'

'दो-चार तो हों ही !' कहा तो अरहर की झब्बेदार लकड़ी से उसने दो-तीन झपट्टे मारे और कुछ चमगादड़ों को उससे दबाकर उसने कपड़े से पकड़ लिया।

बाहर लाया तो वह पसीने से लथपथ था। काम बन गया था। पकड़े हुए चमगादड़ तुरन्त थैली में बन्द कर बड़े थैले में रख लिये थे।

'कुछ मालूम है फकीरे....इस गाँव में और कहाँ-कहाँ चमगादड़ हैं....? असल में चमगादड़ भी कई नस्लों के होते हैं। हो सकता है, दूसरे किसी घर में किसी और तरह के हों !'

'आप बड़े लोगों के सभी बन्द घरों में अब चमगादड़ ही रह रहे हैं साब !' वह हँसा—'आप लोग रहते थे तो इस घर में महलों जैसी रौनक रहती थी। भला तब चमगादड़ रह सकते थे यहाँ....? पर अब रह रहे हैं !....उसी तरह सेठ बुलाकी प्रसाद की कोठी है साब .... उसी तरह शाह नन्हें बाबू की कोठी है। .... दसियों कोठियाँ हैं यहाँ गाँव में, जो बरसों से खाली पड़ी हैं और बाहर से उनमें ताला लटका है। जब आदमी नहीं रहेंगे तो कोई तो रहेगा ही साब .... महल खाली थोड़े ही पड़े रहेंगे....? चिड़ियाँ और चमगादड़ रहेंगे ! कुत्ते और बिल्लियाँ रहेंगी !'

क्या कह रहा है यह .... ? यह क्या कहना चाहता है कि यह कोठियाँ इन कमबख्तों को दे दी जाएँ तो क्या हर्ज है .... ? लेकिन अपनी सम्पत्ति और जायदाद अपने मन से कौन छोड़ देता है....? सरकार भले जबरन खाली करवा ले और इन

गरीबों को उन पर कब्जा दिलवा दे .... आदमी तो अपने मन से ऐसा कर नहीं सकता। करता होता तो देश की यह हालत ही क्यों होती....? यह असमानता.... यह गरीबी क्या सिर्फ इसीलिए नहीं है कि एक तरफ लोगों के पास बहुत है और दूसरी तरफ कुछ भी नहीं है! एक तरफ लोगों की भूख और हवस सब कुछ हड़प कर हजम कर रही है और दूसरी तरफ लोगों के पेट पीठ से मिले हुए हैं और वे इन बदहजमी के शिकार लोगों को टुकुर-टुकुर ताके जा रहे हैं। .... जिसके पास जितना है, वह उससे ज्यादा पाने के लिए बेचैन है।....रात-दिन जोड़-तोड़ कर रहा है....। ज्यादा से ज्यादा पाने के लिए जायज-नाजायज सब तरीके अपना रहा है। आदमी कोई भी हो, व्यक्ति की यही प्रवृत्ति बन गयी है।....अचानक मुझे लगा कि हम लोग भी उन्हीं हृदयहीन लोगों में से एक हैं! अपने इन मकानों को चमगादड़ों, बिल्लियों, चूहों, साँपों को रहने के लिए तो खाली छोड़े हुए हैं, लेकिन किसी आदमी को रहने के लिए नहीं दे सकते!

अपनी खिसियाहट छिपाने के लिए मैं कुछ उल्टे ढंग से मन ही मन तर्क करने लगा....। शक्ति और धन कौन नहीं पाना चाहता....? उसके लिए जायज-नाजायज, लोग सदियों से हर काम करते आये हैं। अगर हम लोग भी कर रहे हैं तो क्या बुरा है? और हमारे हाथों में क्या शक्ति है? क्या धन है हमारे पास....। बस किसी तरह रोटी खा लेते हैं, दोनों वक्त! यह सच है कि इन छोटी मछलियों को अपेक्षाकृत हम बड़ी मछलियाँ जीने नहीं दे रहीं! इन्हें भोजन बनाकर चट कर रही हैं....। लेकिन दूसरी तरफ यह भी तो सच है कि हमें, हमसे बड़ी मछलियाँ भोजन बना रही हैं....। सभी तो एक-दूसरे को खा-निगल रहे हैं! साँप-सीढ़ी जैसा खेल चल रहा है! हर कोई, दूसरे को निगले-हड़पे जा रहा है। और आपा-धापी, हड़पा-हड़पी में हम ऊपर से नाटक ही तो कर रहे हैं मनुष्यता का! सच क्या है....? राम का लड़का मर गया है, महीने भर पहले....वह अपना दुःख भूलने के लिए लीला कर रहा है....'किसन' से 'राम' बनने का ढोंग।....नत्थू जाटव को आज तक गाँव वाले चार कुँओं से साफ पानी भरने का अधिकार नहीं मिला है....। साफ जगह घर बनाने का अधिकार नहीं मिला है....। साफ गली में रहने का हक नहीं मिला है....। हमारे घर खाली पड़े रह सकते हैं, लेकिन उनमें इन्हें रहने का हक नहीं मिला है....। और वही नत्थू सबको हँसाने के लिए, सबको खुश करने को जोकर बन रहा है! लोग हँसेंगे, खुश होंगे। उसकी जोकरी की प्रशंसा करेंगे! लीला को सराहेंगे लेकिन....? सभी तो अपनी-अपनी लीलाओं में व्यस्त हैं! कोई भी तो सच पर नहीं है। सभी तो नाटक कर रहे हैं! हम भी। यह जोकर नत्थू भी और फकीरे भी और किसन भी और सब लोग भी!

'अब क्या करना है साब....?' उसने हम लोगों की तरफ देखा।

'किसी बगीचे में पेड़ पर बड़े वाले चमगादड़ भी तो हैं....कहाँ हैं....?' मैंने उससे पूछा था।

'राम सनेही की बगिया में हैं साब....!' वह बोला था—'लेकिन अब वह राम सनेही की बगिया नहीं रह गयी ! शाह नरेश बाबू की बगिया हो गयी है ! राम सनेही ने अपनी बिटिया की शादी में शाह जी से थोड़ा कर्ज लिया था....। फिर वह चुका नहीं पाया....ब्याज ही इतना भारी था शाहजी का....बगिया में आम और अमरूद थे। हरी मिर्च और सब्जियाँ भी होती थीं। बेचकर राम सनेही हर साल ब्याज चुकाया करता....लेकिन पता नहीं कैसा ब्याज था।....वह कितने भी फसल बेचे....घटने की बजाए बढ़ता ही जाता था।....आखिर शाह जी ने उसकी बगिया कुर्क करा ली !'

'अब क्या करते हैं राम सनेही जी....?' मैंने पूछा। उनके बच्चे उस समय काफी छोटे थे। मुझे याद आया था।

'वे और उनके लड़के....सब आजकल भिखारियों की तरह जिन्दा हैं इस गाँव में....। हमारी तरह फकीर ! बगिया हाथ से निकली फिर जो थोड़ी-बहुत जमीन थी, वह भी जाती रही। अब दूसरों की खेती करते हैं....बँटाई पर ! जो मिल जाता है, उसी पर जीते हैं किसी तरह !'

'शाह जी उस बगिया से चमगादड़ पकड़ने से मना तो नहीं करेंगे....?' फकीरे से पूछा था।

'शाह जी शायद आपको मना न करें। वैसे वे औरों को घुसने नहीं देते हैं।....उस बगिया में एक बड़ा जालिम आदमी उन्होंने रख रखा है। सुनने में तो यहाँ तक आया है कि यह बड़े लोग उस आदमी से डकैतियाँ भी डलवाते हैं....। वह अपने गाँव का मंटूरा नाई है न....? उसका पगला भाई....कौन नहीं जानता कि वह पगला था....बस किसी तरह बकरियाँ चरा लाता था हार में जाकर।....भाई लोग उसे बदले में खाना दे दिया करते थे। पता नहीं कैसे....उससे भूल हो गयी या और कोई बात हुई। सुनते हैं, बकरियाँ शाह जी की बगिया में चली गयी थीं। फुलवारी में मुँह मारने लगी थीं। बस उनके नौकर ने तीन बकरियों की लाठी से कमर तोड़ डाली ! वे तो वहीं भैं हो गयीं।....फिर उस जालिम ने उस पगले को देखा....। बस उसकी खोपड़ी के जोड़ खोल दिये ! बेचारा घर आकर मर गया।.... गाँव भर ने मंटूरे से कहा कि पुलिस में रपट करो ! पर उसकी हिम्मत नहीं हुई ! शाह जी का पुराना नाई है ! किसकी रपट करे ? और क्या वह उनकी ताकत से वाकिफ नहीं है ?'

□

हम लोग फकीरे को लेकर शाहजी की बगिया की तरफ चले। गाँव में अच्छा-खासा मेला लगा हुआ था। खूब चहल-पहल हो गयी थी। ढोलची अभी भी उसी तरह वहाँ खड़ा ढोल पीट रहा था। भीड़ जमती जा रही थी। मजमा लगता

जा रहा था। थोड़ी देर बाद ही लीला शुरू होने वाली थी।

बगिया की तरफ चलते हुए मैंने फकीरे से पूछा—'लीला में सीता कौन बनती है····?'

'कौन बने साब····?' वह हँसा—'बिना दाढ़ी-मूँछों वाला कच्ची उमर का कोई लड़का ही बन जाता है सीता!'

'किसन अपनी पत्नी को ही सीता क्यों नहीं बना लिया करते हैं····?' मैंने पूछा था।

'कौन अनोखी जी को····? वे तो बेचारी पढ़ी-लिखी नहीं हैं। चौपाई कैसे रटें····? फिर अब बूढ़ी भी हो गयी हैं····। सीता जचेंगी भी तो नहीं! भले ही यह सब लीला हो····पर लोगों को कुछ तो इसमें सच्चाई नजर आये! नहीं साब····?'

मैं चुप रह गया था। यह आदमी कितना समझदार है?····गाँव में अब तक जितने लोगों से बातचीत हुई थी, कोई भी तो अब उतना सीधा, मूर्ख और गँवार नहीं रह गया था····जितना शहर के लोग इन्हें समझते हैं। समझ में कौनसी कमी है किसन की? जोकर तक ने तो व्यंग्य कसा था!

तभी सामने से आता हुआ सीताराम खिलाड़ी दिखाई दिया। वह रावण का मेकअप किये हुआ था। लेकिन बहुत हड़बड़ाया हुआ था। तेज-तेज कदमों से गाँव की ओर भागा जा रहा था।

हम लोगों को विपरीत दिशा में जाते देखा तो ठिठक गया। वह मुझे पहचान गया था। पर ठिठक कर आगे बढ़ने लगा तो फकीरे ने पूछा—'क्या हुआ खिलाड़ी भइया····?'

मेकअप पसीने में बहने लगा था। इधर-उधर ताकता हुआ बोला—'लीला अभी शुरू तो नहीं हुई····?'

'नहीं!' मैंने कहा—'अभी शायद देर है····? आपका रावण वाला पाठ कब है····?'

'यह तो बिल्कुल आखीर में होगा····शूर्पनखा की आज नाक कटेगी न····नाक कटने के बाद वह रावण····अपने भाई के पास आयेगी····और उसे राम से बदला लेने के लिए भड़कायेगी!' वह किसी तरह अपनी साँस सीने में समाने की कोशिश कर रहा था—'लेकिन आप लोग इधर कहाँ जा रहे हैं?'

मैंने शाहजी की बगिया में जाने का अपना उद्देश्य बताया तो वह चौंक गया—'वहाँ मत जाइए आप लोग! गाँव में रामलीला चल रही है····और उस बगिया में रासलीला की तैयारी होने जा रही है!····शहर से कुछ लोग आये हैं····पता नहीं कौन लोग हैं····सुनते हैं, उनका दिल बहलाने के लिए आज कुछ औरतें वहाँ····!'

'क्या यह सब भी यहाँ होता है····?'

'मैं तो सिर्फ लीला में ही रावण बनता हूँ दीपक बाबू! नकली रावण!

असली रावण तो यहाँ न जाने क्या-क्या कहर ढाया करते हैं ! और कोई राम उनका वध नहीं कर पाता ! न जाने कितनी सीताओं को यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं····। और जो भी जटायु उन्हें इन रावणी पंजों से छुड़ाने का प्रयत्न करता है, उसे ही मारकर रास्ते से हटा दिया जाता है !····आपको शायद पता चला हो गाँव में···· मंटूरे का पगला भाई इसी बगिया में बकरियों के कारण मारा गया !····लेकिन सच्चाई आपको किसी ने नहीं बतायी होगी ।····रास्ते से जाती गाँव की किसी लड़की को उस दिन उस बगिया में पकड़ा कर शाह जी ने उस नौकर द्वारा खिचवा लिया था ।····वह पगला, पास ही बकरियाँ चरा रहा था । उसने देखा और उसकी चीख-पुकार सुनी तो अपना डंडा लेकर बगिया में भीतर घुस आया । एकदम चीखा कि यह क्या अनर्थ किया जा रहा है ? यह गाँव की लड़की है !····शाह जी और उनका वह जल्लाद नौकर दोनों नशे में थे । बाधा पड़ती देखी तो नौकर ने लाठियों से उसकी खोपड़ी तोड़ दी और लड़की का मुँह धन से बन्द कर दिया !····मैंने यह सब पुलिस में बयान किया है । लेकिन पुलिस भी तो बड़े आदमियों की ही सुनती है !····रपट लिखने को कहा तो बोले, तुम तो रावण हो ! तुम क्यों एतराज करते हो ?'

□

बगिया में पहुँचे तो वहाँ जैसे किसी जश्न की तैयारी हो रही हो । शाह जी मुझे वहाँ देखकर पहले तो सकपकाये । फिर जब मैंने अपने आने का उद्देश्य उन्हें बताया तो मुस्कुराये—'इस फकीरे को साथ क्यों लिए घूमते हो····? तुम तो भले घर के भले लड़के हो भाई ! इन कमीनों को मुँह लगाओगे तो यह सिर पर चढ़ने लगेंगे !' मैं कुछ कहूँ, उससे पहले ही उन्होंने उसे बगिया से बाहर निकल जाने के लिए कह दिया । यह बेचारा सिटपिटा कर बाहर निकल गया । उन्होंने अपने नौकर को बन्दूक दी और पेड़ पर लटके चमगादड़ मार लाने को कह दिया—'आप लोग यहीं बैठें, चमगादड़ यहाँ आये जाते हैं !'

हम लोग मजबूरन वहीं बैठे रह गये । दोस्त बगिया में जिधर से कुछ आवाजें आ रही थीं, उस तरफ देखता रहा । मेरा ध्यान भी उस ओर चला जाता । आवाजों में स्त्रीकण्ठ और पुरुष स्वर दोनों ही होते ।

शाह जी कुछ झेंप कर बोले—'बेटा ! वह शहर में क्या होता है ? हाँ···· पिकनिक ! वही समझ लो ! कुछ लोग उधर पिकनिक मनाने आये हैं । अपने ही परिचित लोग हैं ! बखत-बेबखत यह लोग अपने काम भी आते रहते हैं । बोले, शाह जी हम लोग आपका बगीचा इस्तेमाल करेंगे ! मैंने कहा, बगीचा आपका ही है !'

बातों ही बातों में मैंने हँसकर शाह जी से पूछा—'वह सीताराम खिलाड़ी

वगैरा तो तमाम बातें कह रहे थे····आपके कानों तक भी तो पहुँची होंगी। क्या वह सच हैं····?'

'सच होती तो पुलिस और कानून उन लोगों की कोई मदद न करता क्या····?' शाह जी हँसे—'उसकी तो आदत है, तिल का ताड़ बनाना! रावण का पार्ट करते-करते स्वयं रावण हुआ जा रहा है। खैर! अब उसका भी कुछ इलाज करना पड़ेगा।····किसी न किसी केस में ऐसा लदवाऊँगा, जो बच्चू का दिमाग सही हो जायेगा! हमारी रपट लिखाने की कई बार वह कोशिश कर चुका है पुलिस में जाकर! हम भी मौके की तलाश में हैं! सारी उमर जेल में चक्की न पिसवा ली तो मेरा नाम बदल देना!'

बन्दूक की आवाज के थोड़ी देर बाद ही नौकर चार बड़े-बड़े चमगादड़ ले आया था। उन्हें भी बाँधकर झोले में डाल लिया था।

□

'यह लोग सरेआम गैरकानूनी काम करते रहते हैं और गरीब जनता को इस तरह सताते रहते हैं····इनसे कोई कुछ नहीं कहता? इनका कोई इलाज नहीं करता····?'

'वक्त सबका इलाज करेगा दोस्त! मैं लम्बी सांस छोड़कर बोला था—'अभी यह लोग सिर्फ लीला या नाटक कर रहे हैं। यह तो आप देख ही रहे हैं कि इन गरीबों में राम ही नहीं, रावण तक का पार्ट करने वाले लोग भी भले और सच्चरित्र आदमी हैं! अभी तो यह सिर्फ लीला दिखा रहे हैं और लीला कर रहे हैं। लेकिन जल्दी ही यह लोग अपनी भुजाओं की शक्ति को पहचानेंगे····। समझेंगे कि वह सिर्फ राम का पार्ट ही करने के लिए नहीं हैं····। जोकर और रावणों का पार्ट ही करने के लिए नहीं हैं····वे सचमुच बलवान हैं। उनकी भुजाओं में शक्ति है। पीछे चलने वालों का बल है! और तब देखना····यह शाह जैसे दुष्ट और सचमुच के राक्षस····रावण····इनसे बचकर नहीं निकल सकते! यह लोग उन्हें उनकी सोने की लंकाओं में दफना देंगे! देख लेना! यह समय की धारा है, और इस धारा को कोई अब रोक नहीं सकता!'

'लेकिन न जाने यह धरती और देश कब इस सच्चाई का लीलाधाम होगी!' दोस्त के स्वर में भी चिन्ता थी। सुबह थी और हम लोग गाँव से शहर वापस जा रहे थे!

[कहानी, मार्च 1976]

निर्मल वर्मा

दूसरी दुनिया

बहुत पहले मैं एक लड़की को जानता था। वह दिन भर पार्क में खेलती थी। उस पार्क में बहुत से पेड़ थे, जिनमें मैं बहुत कम को पहचानता था। मैं सारा दिन लायब्रेरी में रहता था और जब शाम को लौटता था, तो वह उन पेड़ों के बीच बैठी दिखाई देती थी। बहुत दिनों तक हम एक-दूसरे से नहीं बोले। मैं लन्दन के उस इलाके में सिर्फ कुछ दिनों के लिए ठहरा था। उन दिनों मैं एक जगह से दूसरी जगह बदलता रहता था, सस्ती जगह की तलाश में।

वे काफी गरीबी के दिन थे।

वह लड़की भी काफी गरीब रही होगी, यह मैं आज सोचता हूँ। वह एक आधा-उधड़ा स्वेटर पहने रहती, सिर पर कत्थई रंग का टोप, जिसके दोनों तरफ उसके बाल निकले रहते। कान हमेशा लाल रहते और नाक का ऊपरी सिरा भी--क्योंकि वे अक्तूबर के अन्तिम दिन थे—सर्दियाँ शुरू होने से पहले के दिन और ये शुरू के दिन कभी-कभी असली सर्दियों से भी ज्यादा क्रूर होते थे।

सच कहूँ तो ठण्ड से बचने के लिए ही मैं लायब्रेरी आता था। उन दिनों मेरा कमरा बर्फ हो जाता था। रात को सोने से पहले मैं अपने सब स्वेटर और जुराबें पहन लेता था, रजाई पर अपने कोट और ओवरकोट जमा कर लेता था—लेकिन ठण्ड फिर भी नहीं जाती थी। यह नहीं कि कमरे में हीटर नहीं था, किन्तु उसे जलाने के लिए उसके भीतर एक शिलिंग डालना पड़ता था। पहली रात जब मैं उस कमरे में सोया था, तो रात भर उस हीटर को पैसे खिलाता रहा—हर आध घण्टे बाद उसकी जठराग्नि शांत करनी पड़ती थी। दूसरे दिन मेरे पास नाश्ते के पैसे भी नहीं बचे थे। उसके बाद मैंने हीटर को अलग छोड़ दिया। रात भर ठण्ड से काँपता रहता, लेकिन यह तसल्ली रहती कि वह भी भूखा पड़ा है। वह मेज पर ठण्डा पड़ा रहता—मैं बिस्तर पर—और इस तरह हम दोनों के बीच शीत-युद्ध जारी रहता।

सुबह होते ही मैं जल्दी-से-जल्दी लायब्रेरी चला आता। पता नहीं, कितने लोग मेरी तरह वहाँ आते थे—लायब्रेरी खुलने से पहले ही दरवाजे पर लाइन बना

कर खड़े हो जाते थे। उनमें से ज्यादातर बूढ़े लोग होते थे, जिन्हें पेंशन बहुत कम मिलती थी, किन्तु सर्दी सबसे ज्यादा लगती थी। मेजों पर एक-दो किताबें खोल कर वे बैठ जाते। कुछ ही देर बाद मैं देखता, मेरे दायें-बायें सब लोग सो रहे हैं। कोई उन्हें टोकता नहीं था। एक-आध घण्टे बाद लायब्रेरी का कोई कर्मचारी वहाँ चक्कर लगाने आ जाता, खुली किताबों को बन्द कर देता और उन लोगों को धीरे से हिला देता, जिनके खुर्राटे दूसरों की नींद या पढ़ाई में खलल डालने लगे हों।

ऐसी ही एक ऊँघती दोपहर में मैंने उस लड़की को देखा था—लायब्रेरी की लम्बी खिड़की से। उसने अपना बस्ता एक बेंच पर रख दिया था और खुद पेड़ों के पीछे छिप गयी थी। वह कोई धूप का दिन न था, इसलिए मुझे कुछ हैरानी हुई थी कि इतनी ठण्ड में वह लड़की बाहर खेल रही है। वह बिल्कुल अकेली थी। बाकी बेंचें खाली पड़ी थीं। और उस दिन पहली बार मुझे यह जानने की तीव्र उत्सुकता हुई थी कि वे कौन से खेल हैं, जिन्हें कुछ बच्चे अकेले में खेलते हैं।

दोपहर होते ही वह पार्क में आती, बेंच पर अपना बैग रख देती और फिर पेड़ों के पीछे भाग जाती। मैं कभी-कभी किताब से सिर उठाकर उसकी ओर देख लेता। पाँच बजने पर सरकारी अस्पताल का गजर सुनाई देता। घण्टे बजते ही, वह लड़की जहाँ भी होती, दौड़ते हुए अपनी बेंच पर आ बैठती। वह बस्ते को गोद में रखकर चुपचाप बैठी रहती, जब तक दूसरी तरफ से एक महिला न दिखाई दे जाती। मैं कभी उन महिला का चेहरा ठीक से न देख सका। वह हमेशा नर्स की सफेद पोशाक में आती थीं। और इससे पहले कि बेंच तक पहुँच पातीं—वह लड़की अपना धीरज खोकर भागने लगती और उन्हें बीच में ही रोक लेती। वे दोनों गेट की तरफ मुड़ जाते और मैं उन्हें उस समय तक देखता रहता, जब तक वे आँखों से ओझल न हो जाते।

मैं यह सब देखता था, हिचकॉक के हीरो की तरह, खिड़की से बाहर, जहाँ यह पैंटोमिम रोज दुहराया जाता था। यह सिलसिला शायद सर्दियों तक चलता रहता, यदि एक दिन अचानक मौसम ने करवट न ली होती।

एक रात सोते हुए मुझे सहसा अपनी रजाई और उस पर रखे हुए कोट बोझ जान पड़े, मेरी देह पसीने से लथपथ थी, जैसे बहुत दिनों बाद बुखार से उठ रहा हूँ। खिड़की खोलकर बाहर झाँका, तो न धुँध, न कोहरा; लन्दन का आकाश नीली मखमली डिबिया-सा खुला था, जिसमें किसी ने ढेर-से तारे भर दिये। मुझे लगा, जैसे यह गर्मियों की रात है और मैं विदेश में न होकर अपने घर की छत पर लेटा हूँ।

अगले दिन खुलकर धूप निकली थी, मैं अधिक देर तक लायब्रेरी में नहीं बैठ सका। दोपहर होते ही मैं बाहर निकल पड़ा और घूमता हुआ उस रेस्तरां में चला आया, जहाँ मैं रोज खाना खाने जाया करता था। वह एक सस्ता यहूदी रेस्तरां था। वहाँ सिर्फ डेढ़ शिलिंग में कोशर गोश्त, दो रोटियाँ और बियर का एक

छोटा गिलास मिल जाता था। रेस्तरां की यहूदी मालकिन जो युद्ध से पहले लिथूनिया से आयी थीं, एक ऊँचे स्टूल पर बैठी रहतीं। काउण्टर पर एक कैश-बॉक्श रखा रहता और उसके नीचे एक सफेद सियामी बिल्ली ग्राहकों को घूरती रहती। मुझे शायद वह थोड़ा बहुत पहचानने लगी थी, क्योंकि जितनी देर मैं खाता रहता उतनी देर वह अपनी हरी आँखों से मेरी तरफ टुकुर-टुकुर ताकती रहती। गरीबी और ठण्ड और अकेलेपन के दिनों में बिल्ली का सहारा भी बहुत होता है, यह मैं उन दिनों सोचा करता था। मैं यह भी सोचता था कि किसी दिन मैं भी ऐसा ही हिन्दुस्तानी रेस्तरां खोलूँगा और एक साथ तीन बिल्लियाँ पालूँगा।

□

रेस्तरां से बाहर आया, तो दोबारा लायब्रेरी जाने की इच्छा मर गयी। लम्बी मुद्दत बाद उस दिन घर से चिट्ठियाँ और अखबार आये थे। मैं उन्हें पार्क की खुली धूप में पढ़ना चाहता था। मुझे हलका-सा आश्चर्य हुआ, जब मेरी नजर पार्क के फूलों पर गयी। वे बहुत छोटे फूल थे, जो घास के बीच अपना सिर उठाकर खड़े थे। इन्हीं फूलों के बारे में शायद जीसस ने कहा था, लिलीज ऑफ द फील्ड, ऐसे फूल, जो आने वाले दिनों के बारे में नहीं सोचते।

वे गुजरी हुई गर्मियों की याद दिलाते थे।

मैं घास के बीच उन फूलों पर चलने लगा।

बहुत अच्छा लगा। आने वाले दिनों की दुश्चिंताएँ झरने लगीं। मैं हलका-सा हो गया। मैंने अपने जूते उतार दिये और घास पर नंगे पाँव चलने लगा। मैं बेंच के पास पहुँचा ही था कि मुझे अपने पीछे एक चीख सुनाई दी। कोई तेजी से भागता हुआ मेरी तरफ आ रहा था। पीछे मुड़ कर देखा, तो वही लड़की दिखाई दी। वह पेड़ों से निकल कर बाहर आयी और मेरा रास्ता रोककर खड़ी हो गयी।

'यू आर कॉट,' उसने हँसते हुए कहा, 'अब आप जा नहीं सकते।'

मैं समझा नहीं। जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा रहा।

'आप पकड़े गये....' उसने दोबारा कहा, 'आप मेरी जमीन पर खड़े हैं।'

मैंने चारों तरफ देखा, घास पर फूल थे, किनारे पर खाली बेंचें थीं, बीच में तीन एवरग्रीन पेड़ और एक मोटे तनेवाला ओक खड़ा था। उसकी जमीन कहीं दिखाई न दी।

'मुझे मालूम नहीं था।' मैंने कहा और मुड़कर वापस जाने लगा।

'नहीं, नहीं....आप जा नहीं सकते,' बच्ची एकदम मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। उसकी आँखें चमक रही थीं, 'वे आपको जाने नहीं देंगे।'

'कौन नहीं जाने देगा?' मैंने पूछा।

उसने पेड़ों की तरफ इशारा किया, जो अब सचमुच सिपाही-से दिखाई दे

रहे थे, लम्बे हट्टे-कट्टे पहरेदार । मैं बिना जाने उनके अदृश्य फन्दे में चला आया था।

कुछ देर तक हम चुपचाप आमने-सामने खड़े रहे। उसकी आँखें बराबर मुझ पर टिकी थीं—उत्तेजित और सतर्क । जब उसने देखा, मेरा भागने का कोई इरादा नहीं है, तो वह कुछ ढीली पड़ी ।

'आप छूटना चाहते हैं ?' उसने कहा।

'कैसे ?' मैंने उसकी ओर देखा ।

'आपको इन्हें खाना देना होगा । ये बहुत दिन से भूखे हैं ।' उसने दोबारा पेड़ों की ओर संकेत किया । वे हवा में सिर हिला रहे थे ।

'खाना मेरे पास नहीं है ।' मैंने कहा ।

'आप चाहें, तो ला सकते हैं ।' उसने आशा बँधायी, 'ये सिर्फ फूल-पत्ते खाते हैं ।'

मेरे लिए यह मुश्किल नहीं था । वे अक्तूबर के दिन थे और पार्क में फूलों के अलावा ढेरों पत्ते बिखरे रहा करते थे । मैं नीचे झुका ही था कि उसने लपककर मेरा हाथ रोक लिया ।

'नहीं, नहीं—यहाँ से नहीं । यह मेरी जमीन है । आपको वहाँ जाना होगा ।'

उसने पार्क के फेंस की ओर देखा । वहाँ मुरझाये फूलों और पत्तों का ढेर लगा था । मैं वहाँ जाने लगा कि उसकी आवाज सुनाई दी—

'ठहरिए—मैं आपके साथ आती हूँ, लेकिन अगर आप बचकर भागेंगे तो···· यहीं मर जायेंगे ।' वह रुकी, मेरी तरफ देखा, 'आप मरना चाहते हैं ?'

मैंने जल्दी से सिर हिलाया । वह इतना गर्म और उजला दिन था कि मरने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी ।

हम फेंस तक गये । मैंने रूमाल निकाला और फूल-पत्तियों को बटोरने लगा। मुक्ति पाने के लिए आदमी क्या कुछ नहीं करता ।

वापस लौटते हुए वह चुप रही । मैं कनखियों से उसकी ओर देख लेता था । वह काफी बीमार-सी बच्ची जान पड़ती थी । उन बच्चों की तरह गम्भीर, जो हमेशा अकेले में अपने साथ खेलते हैं । जब वह चुप रहती थी, तो होंठ बिचक जाते थे—नीचे का होंठ थोड़ा-सा बाहर निकल आता, जिसके ऊपर दबी हुई नाक बेसहारा-सी दिखाई देती थी । बाल बहुत छोटे थे—और बहुत काले—गोल छल्लों में धुली हुई रूई की तरह बँटे हुए, जिन्हें छूने को अनायास हाथ आगे बढ़ जाता था । लेकिन वह अपनी दूरी में हर तरह की छुअन से परे जान पड़ती थी ।

'अब आप इन्हें खाना दे सकते हैं ।' उसने कहा । वह पेड़ों के पास आकर रुक गयी थी ।

'क्या वे मुझे छोड़ देंगे ?' मैं कोई गारण्टी, कोई आश्वासन पाना चाहता था ।

इस बार वह मुस्करायी—और मैंने पहली बार उसके दाँत देखे—एकदम सफेद और चमकीले—जैसे अक्सर नीग्रो लड़कियों के होते हैं ।

मैंने वे पत्तियाँ रूमाल से बाहर निकालीं, चार हिस्सों में बाँटी और बराबर-बराबर से पेड़ों के नीचे डाल दीं।

मैं स्वतन्त्र हो गया था—कुछ खाली-सा भी।

मैंने जेब से चिट्ठियाँ और अखबार निकाले और उस बेंच पर बैठ गया, जहाँ उसका बैग रखा था। वह काले चमड़े का बैग था, भीतर किताबें ठुँसी थीं, ऊपर की जेब से आधा कुतरा हुआ सेब बाहर झाँक रहा था।

वह ओझल हो गयी थी। मैंने चारों तरफ ध्यान से देखा, तो उसकी फ्राक का एक कोना झाड़ियों से बाहर दिखाई दिया। वह एक खरगोश की तरह दुबक कर बैठी थी—मेरे ही जैसे, किसी भूले-भटके यात्री पर झपटने के लिए। किन्तु बहुत देर तक पार्क से कोई आदमी नहीं गुजरा। हवा चलती तो पेड़ों के नीचे जमा की हुई पत्तियाँ घूमने लगतीं—एक भंवर की तरह—और वह अपने शिकार को भूलकर उनके पीछे भागने लगती।

कुछ देर के बाद वह बेंच के पास आयी, एक क्षण मुझे देखा, फिर बस्ते की जेब से सेब निकाला। मैं अखबार पढ़ता रहा और उसके दाँतों के बीच सेब की कुतरन सुनता रहा।

अचानक उसकी नजर मेरी चिट्ठियों पर पड़ी, जो बेंच पर रखी थीं। उसके हिलते हुए जबड़े रुक गये।

'यह आपकी हैं ?'

'हाँ' मैंने उसकी ओर देखा।

'और यह ?'

उसने लिफाफे पर लगे टिकट की ओर उंगली उठायी। टिकट पर हाथी की तस्वीर थी, जिसकी सूंड ऊपर हवा में उठी थी। वह अपने दाँतों के बीच हँसता-सा दिखाई दे रहा था।

'तुम कभी जू गयी हो ?' मैंने पूछा।

'एक बार पापा के साथ गयी थी। उन्होंने मुझे एक पैनी दी थी और हाथी ने अपनी सूंड में उस पैनी को मेरे हाथ से उठाया था।'

'तुम डरीं नहीं ?'

'नहीं, क्यों ?' उसने सेब कुतरते हुए मेरी ओर देखा।

'पापा तुम्हारे साथ यहाँ नहीं आते ?'

'एक बार आये थे। तीन बार पकड़े गये।'

वह धीमे-से हँसी—जैसे मैं वहाँ न हूँ, जैसे कोई अकेले में हँसता है, जहाँ एक स्मृति पचास तहें खोलती हैं।

अस्पताल की घड़ी का गजर सुनाई दिया, तो हम दोनों चौंक गये। लड़की ने बेंच से बस्ता उठाया और उन पेड़ों के पास-पास गयी, जो चुप खड़े थे। बच्ची हर पेड़ के पास जाती थी, छूती थी, कुछ कहती थी, जिसे सिर्फ पेड़ सुन पाते थे।

आखीर में वह मेरे पास आयी और मुझसे हाथ मिलाया, जैसे मैं भी उन पेड़ों में से एक हूँ।

उसकी निगाहें पीछे मुड़ गयीं। मैंने देखा, कौन है। वह महिला दिखाई दीं। वह नर्सोंवाली सफेद पोशाक हरी घास पर चमक रही थी। बच्ची उन्हें देखते ही भागने लगी। मैंने ध्यान से देखा—यह वही महिला थीं, जिन्हें मैं लायब्रेरी की खिड़की से देखता था। छोटा कद, कन्धे पर थैला और बच्ची जैसे ही काले घुँघराले बाल। वे मुझ से काफी दूर थे, लेकिन उनकी आवाज सुनाई दे जाती थी—अलग-अलग शब्द नहीं, सिर्फ दो स्वरों की एक आहट। वे घास पर बैठ गये थे। बच्ची मुझे भूल गयी थी।

मैंने जूते पहने। अखबार और चिट्ठियाँ जेब में रख दीं। अभी समय काफी है, मैंने सोचा। एक-दो घण्टे लायब्रेरी में बिता सकता हूँ। पार्क के जादू से अलग, अपने अकेले कोने में।

मैं बीच पार्क में चला आया। पेड़ों की फुनगियों पर आग सुलगने लगी थी। समूचा पार्क सोने में गल रहा था। बीच में पत्तों का दरिया था, हवा में हिलता हुआ।

कौन ? कौन है ? कोई मुझे बुला रहा था और मैं चलता गया, रुका नहीं। कभी-कभी आदमी खुद अपने को बुलाने लगता है, बाहर से भीतर—और भीतर कुछ भी नहीं होता। लेकिन यह बुलावा और दिनों की तरह नहीं था। यह रुका नहीं, इसलिए अन्त में मुझे ही रुकना पड़ा। इस बार कोई शक नहीं हुआ। सचमुच कोई चीख रहा था, 'स्टॉप, स्टॉप....!' मैंने पीछे मुड़कर देखा, लड़की खड़ी हो कर दोनों हाथ हवा में हिला रही थी।

सच ! मैं फिर पकड़ा गया था—दोबारा से। बेवकूफों की तरह मैं उसकी जमीन पर चला आया था, चार पेड़ों से घिरा हुआ। इस बार माँ और बेटी दोनों हँस रहे थे।

□

वे झूठी गर्मियों के दिन थे। ये दिन ज्यादा देर नहीं टिकेंगे, इसे सब जानते थे। लायब्रेरी उजाड़ रहने लगी। मेरे पड़ोसी, बूढ़े पेंशनयाफ्ता लोग, अब बाहर धूप में बैठने लगे। आकाश इतना नीला दिखाई देता कि लन्दन की धुँध भी उसे मैला न कर पाती। उसके नीचे पार्क एक हरे टापू-सा लेटा रहता।

ग्रेता (यह उसका नाम था) हमेशा वहाँ दिखाई देती थी। कभी दिखाई न देती, तो भी बेंच पर उसका बस्ता देखकर पता चल जाता कि वह यहीं कहीं है, किसी कोने में दुबकी है, मैं बचता हुआ आता, पेड़ों से, झाड़ियों से, घास के फूलों से। हर रोज वह कहीं-न-कहीं, एक अदृश्य भयानक फंदा छोड़ जाती और जब पूरी

सतर्कता के बावजूद मेरा पाँव उसमें फँस जाता, तो वह बदहवास चीखती हुई मेरे सामने आ खड़ी होती। मैं पकड़ लिया जाता। छोड़ दिया जाता। फिर पकड़ लिया जाता....

यह खेल नहीं था। वह एक पूरी दुनिया थी। उस दुनिया से मेरा कोई वास्ता नहीं था—हालांकि मैं कभी-कभी उसमें बुला लिया जाता था। ड्रामे में एक ऐक्स्ट्रा की तरह। मुझे हमेशा तैयार रहना पड़ता था, क्योंकि वह मुझे किसी भी समय बुला सकती थी। एक दोपहर हम दोनों बेंच पर बैठे थे, अचानक वह उठ खड़ी हुई।

'हलो मिसेज टामस....' उसने मुस्कराते हुए कहा, 'आज आप बहुत दिन बाद दिखाई दीं—यह मेरे इन्डियन दोस्त हैं, इनसे मिलिए।'

मैं अवाक् उसे देखता रहा। वहाँ कोई न था।

'आप बैठे हैं? इनसे हाथ मिलाइए।' उसने मुझे कुछ झिड़कते हुए कहा।

मैं खड़ा हो गया, खाली हवा से हाथ मिलाया। ग्रेता खिसक कर मेरे पास बैठ गयी, ताकि कोने में मिसेज टामस बैठ सकें।

'आप बाजार जा रही थीं?' उसने खाली जगह को देखते हुए कहा। 'मैं आपका थैला देखकर समझ गयी। नहीं, माफ कीजिए, मैं आपके साथ नहीं आ सकती। मुझे बहुत काम करना है, इन्हें देखिए (उसने पेड़ों की तरफ इशारा किया), ये सुबह से भूखे हैं, मैंने अभी तक इनके लिए खाना भी नहीं बनाया—आप चाय पियेंगी या कॉफी? ओह—आप घर से पीकर आयी हैं। क्या कहा—मैं आपके घर क्यों नहीं आती? आजकल वक्त कहाँ मिलता है। सुबह अस्पताल जाना पड़ता है, दोपहर को बच्चों के साथ—आप तो जानती हैं। मैं इतवार को आऊँगी। आप जा रही हैं—'

उसने खड़े होकर दोबारा हाथ मिलाया। मिसेज टामस शायद जल्दी में थीं। विदा लेते समय उन्होंने मुझे देखा नहीं। बदले में मैं बेंच पर ही बैठा रहा।

कुछ देर तक हम चुपचाप बैठे रहे। फिर सहसा वह चौंक पड़ी।

'आप कुछ सुन रहे हैं?' उसने मेरी कुहनी को झिझोड़ा।

'कुछ भी नहीं।' मैंने कहा।

'फोन की घन्टी—कितनी देर से बज रही है। जरा देखिए, कौन है?'

मैं उठकर बेंच के पीछे गया, नीचे घास से एक टूटी टहनी उठायी और जोर से कहा, 'हलो।'

'कौन है?' उसने कुछ अधीरता से पूछा।

'मिसेज टामस।' मैंने कहा।

'ओह—फिर मिसेज टामस।' उसने एक थकी-सी जम्हाई ली, धीमे कदमों से पास आयी, मेरे हाथ से टहनी खींचकर कहा, 'हलो, मिसेज टामस—आप बाजार से लौट आयीं? क्या-क्या लायीं? मीट-बॉल्स और फिशफिंगर्स और आलू के चिप्स?' उसकी आँखें आश्चर्य से फैलती जा रहीं थी। वह शायद चुन-चुनकर उन

सब चीजों का नाम ले रही थी, जो उसे सबसे अधिक अच्छी लगती थीं।

फिर वह चुप हो गयी—जैसे मिसेज टामस ने कोई अप्रत्याशित प्रस्ताव उसके सामने रखा हो। 'ठीक है मिसेज टामस, मैं अभी आती हूँ—नहीं, मुझे देर नहीं लगेगी। मैं अभी बस-स्टेशन की तरफ जा रही हूँ—गुड बाई, मिसेज टामस!'

उसने चमकती आँखों से मेरी ओर देखा।

'मिसेज टामस ने मुझे डिनर पर बुलाया है—आप क्या करेंगे?'

'मैं सोऊँगा।'

'पहले इन्हें कुछ खिला देना''''नहीं तो ये रोयेंगे।' उसने पेड़ों की ओर इशारा किया, जो ठहरी हवा में निस्पंद खड़े थे।

वह तैयार होने लगी। अपने बिखरे बालों को संवारा, पाउडर लगाने का बहाना किया—हथेली का शीशा बनाकर उसमें झाँका—धूप और पेड़ों की छाया के बीच वह सचमुच सुन्दर जान पड़ रही थी।

जाते समय उसने मेरी तरफ हाथ हिलाया। मैं उसे देखता रहा, जब तक वह पेड़ों और झाड़ियों के घने झुरमुट में गायब नहीं हो गयी।

ऐसा हर रोज होने लगा। वह मिसेज टामस से मिलने चली जाती और मैं बेंच पर लेटा रहता। मुझे अकेला नहीं लगता था। पार्क की अजीब, अदृश्य आवाजें मुझे हर दम घेरे रहतीं। मैं एक दुनिया से निकलकर दूसरी दुनिया में चला आता। वह पार्क के सुदूर कोने में भटकती फिरती। मैं लायब्रेरी की किताबों का सिरहाना बनाकर बेंच पर लेट जाता। लन्दन के बादलों को देखता—वे घूमते रहते और जब कभी कोई सफेद टुकड़ा सूरज पर अटक जाता, तब पार्क में अन्धेरा-सा घिर जाता।

ऐसे ही एक दिन जब मैं बेंच पर लेटा था, मुझे अपने नजदीक एक अजीब-सी खड़खड़ाहट सुनाई दी। मुझे लगा, मैं सपने में मिसेज टामस को देख रहा हूँ। वे मेरे पास—बिल्कुल पास—आकर खड़ी हो गयी हैं, मुझे बुला रही हैं।

मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा।

सामने बच्चों की माँ खड़ी थीं। उन्होंने ग्रेता का हाथ पकड़ रखा था और कुछ असमंजस में वे मुझे निहार रही थीं।

'माफ कीजिए''''' उन्होंने सकुचाते हुए कहा, 'आप सो तो नहीं रहे थे?'

मैं कपड़े झाड़ता हुआ उठ खड़ा हुआ।

'आज आप जल्दी आ गयीं?' मैंने कहा। उनकी सफेद पोशाक, काली बेल्ट और बालों पर बँधे स्कार्फ को देखकर मेरी आँखें चुंधिया-सी गयीं। लगता था, वे अस्पताल से सीधी यहाँ चली आ रही थीं।

'हाँ, मैं जल्दी आ गयी,' वे मुस्कराने लगीं, 'शनिवार को काम ज्यादा नहीं रहता—मैं दोपहर को ही आ जाती हूँ।'

वे वेस्टइण्डीज के चौड़े उच्चारण के साथ बोल रही थीं, जिसमें हर शब्द का अन्तिम हिस्सा गुब्बारे-सा उड़ता दिखाई देता था।

'मैं आपसे कहने आयी थी। आज आप हमारे साथ चाय पीने चलिएगा ?···· हम लोग पास में ही रहते हैं।'

उनके स्वर में कोई संकोच या दिखावा नहीं था, जैसे वे मुझे मुद्दत से जानती हों।

मैं तैयार हो गया। मैं अरसे से किसी के घर नहीं गया था। अपने बेड-सिटर से लायब्रेरी और पार्क तक परिक्रमा लगाता था। मैं लगभग भूल गया था कि उसके परे एक और दुनिया है—जहाँ ग्रेता रहती होगी, खाती होगी, सोती होगी।

वे आगे-आगे चल रही थीं। कभी-कभी पीछे मुड़कर देख लेती थीं कि कहीं हम बहुत दूर तो नहीं छूट गये। उसे शायद कुछ अनोखा-सा लग रहा था कि मैं उसके घर आ रहा हूँ। अजीब मुझे भी लग रहा था—उसके घर आना नहीं, बल्कि उसकी माँ के साथ चलना। वे उम्र में काफी छोटी जान पड़ती थीं, शायद अपने कद के कारण। मेरे साथ चलते हुए वे कुछ इतनी छोटी दिखाई दे रही थीं कि भ्रम होता था कि मैं किसी दूसरी ग्रेता के साथ चल रहा हूँ।

रास्ते भर वे चुप रहीं। सिर्फ जब उनका घर सामने आया, तो वे ठिठक गयीं।

'आप भी तो कहीं पास रहते हैं ?' उन्होंने पूछा।

'ब्राइड स्ट्रीट में', मैंने कहा, 'ट्यूब स्टेशन के बिलकुल सामने।'

'आप शायद हाल में ही आये हैं ?' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, 'इस इलाके में बहुत कम इण्डियन रहते हैं।'

वे नीचे उतरने लगीं। उनका घर बेसमेंट में था और हमें सीढ़ियाँ उतर कर नीचे जाना पड़ा था। बच्ची दरवाजा खोल कर खड़ी थी। कमरे में दिन के समय भी अन्धेरा था। बत्ती जलायी, तो तीन-चार कुर्सियाँ दिखाई दीं। बीच में एक मेज थी। जरूरत से ज्यादा लम्बी और नंगी—जैसे उस पर पिंग-पांग खेली जाती है। दीवार से सटा सोफा था, जिसके सिरहाने एक रजाई लिपटी रखी थी। लगता था, वह कमरा बहुत से कामों के काम आता था, जिसमें खाना, सोना—और मौका पड़ने पर—अतिथि-सत्कार भी शामिल था।

'आप बैठिये, मैं अभी चाय बनाकर लाती हूँ।'

वे पर्दा उठा कर भीतर चली गयीं। मैं और ग्रेता कमरे में अकेले बैठे रहे। हम दोनों पार्क के पतझड़ी उजाले में एक-दूसरे को पहचानने लगे थे। पर कमरे के भीतर न कोई मौसम था, न कोई माया। वह अचानक एक बहुत कम उम्र वाली बच्ची बन गयी थी, जिसका जादू और आतंक दोनों झर गये थे।

'तुम यहाँ सोती हो ?' मैंने सोफे की ओर देखा।

'नहीं, यहाँ नहीं', उसने सिर हिलाया, 'मेरा कमरा भीतर है—आप देखेंगे ?'

किचेन से आगे एक कोठरी थी, जो शायद बहुत पहले गोदाम रहा होगा।

वहाँ एक नीली चिक लटक रही थी। उसने चिक उठायी और दबे कदमों से भीतर चली आयी।

'धीरे से आइए—वह सो रहा है।'

'कौन ?'

'हिश !' उसने अपना हाथ-मुँह पर रख दिया।

मैंने सोचा, कोई भीतर है। पर भीतर बिलकुल सूना था। कमरे की हरी दीवारें थीं, जिन पर जानवरों की तस्वीरें चिपकी थीं। कोने में उसकी खाट थी, जो खटोला-सी दिखाई देती थी। तकिये पर थिगलियों में लिपटा एक भालू लेटा था, गुदड़ी के लाल जैसा—

'वह सो रहा है।' उसने फुसफुसाते हुए कहा।

'और तुम ?' मैंने कहा, 'तुम यहाँ नहीं सोतीं ?'

'यहीं सोती हूँ। जब पापा यहाँ थे, तो वे दूसरे पलंग पर सोते थे। माँ ने अब उस पलंग को बाहर रखवा दिया है।'

'कहाँ रहते हैं वे ?' इस बार मेरा स्वर भी धीमा हो गया, भालू के डर से नहीं, अपने उस डर से, जो कई दिनों से भीतर पल रहा था।

'अपने घर रहते हैं—और कहाँ ?'

उसने तनिक विस्मय से मुझे देखा। उसे लगा, मैं पूरी तरह आश्वस्त नहीं हुआ हूँ। वह अपनी मेज के पास गयी, जहाँ उसकी स्कूल की किताबें रखी थीं। दराज खोला और उसके भीतर से चिट्ठियों का पुलिंदा बाहर निकाला। पुलिंदे पर रेशम का लाल फीता बँधा था, मानो वह क्रिसमस का कोई उपहार हो। वह उन्हें उठाकर मेरे पास ले आयी—सबसे ऊपर वाले लिफाफे पर लगा टिकट दिखाया।

'वे यहाँ रहते हैं।' उसने कहा।

मुझे याद आया, वह मेरी नकल कर रही है—बहुत पहले पार्क में मैंने उसे अपने देश की चिट्ठी दिखाई थी।

बैठक से उसकी माँ हमें बुला रही थीं। आवाज सुनते ही वह कमरे से बाहर चली गयी।

मैं एक क्षण वहीं ठिठक रहा। खटोले पर भालू सो रहा था। दीवारों पर जानवरों की आँखें मुझे घूर रही थीं। बिस्तर के पास ही एक छोटी-सी बेसिनी थी, जिस पर उसका टूथ-ब्रश, साबुन और कंघा रखे थे।

बिलकुल मेरे बेड-सिट की तरह—मैंने सोचा। किन्तु मुझसे बहुत अलग। मैं अपना कमरा छोड़कर कहीं भी जा सकता था। उसका कमरा अपनी चीजों में शाश्वत-सा जान पड़ता था।

मेज पर चिट्ठियों का पुलिंदा पड़ा था, रेशमी डोर में बँधा हुआ, जिसे जल्दी में वह अकेला छोड़ गयी थी।

'कमरा देख लिया आपने ?' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

'यहाँ जो भी आता है, सबसे पहले उसे अपना कमरा दिखाती है।' वे कपड़े बदल कर आयी थीं। लाल छींट की स्कर्ट और खुला-खुला भूरे रंग का कार्डिगन। कमरे में सस्ती सेंट की गंधें फैली थीं।

'आप चाय नहीं—दावत दे रही हैं।'

मैंने मेज पर रखे सामान को देखकर कहा। टोस्ट, जैम, मक्खन, चीज—पता नहीं, इतनी सारी चीजें मैंने पहले कब देखी थीं।

'अस्पताल की केन्टीन से ले आती हूँ—वहाँ सस्ते में मिल जाता है।'

वे परेशान लगती थीं। हँसती थीं, लेकिन परेशानी अपनी जगह कायम रहती थी। पता नहीं, बच्ची कहाँ थी ? वे उसे चीखते हुए बुला रही थीं और चाय ठण्डी हो रही थी।

वे सिर पकड़ कर बैठी रहीं। फिर याद आया, मैं भी हूँ। 'आप शुरू कीजिए—वह बाग में बैठी होगी।'

'आपका अपना बाग है ?' मैंने पूछा।

'बहुत छोटा-सा, किचेन के पीछे। जब हम यहाँ आये थे, उजाड़ पड़ा था। मेरे पति ने उसे साफ किया। अब तो थोड़ी-बहुत सब्जी भी निकल आती है।'

'आपके पति यहाँ नहीं रहते ?'

'उन्हें यहाँ काम नहीं मिला—दिन भर पार्क में घूमते रहते थे। वही आदत ग्रेता को पड़ी है....'

उनके स्वर में हल्की-सी थकान थी। खीज से खाली—लेकिन ऐसी थकान, जो पोली धूल-सी हर चीज पर बैठ जाती है।

'पार्क में तो मैं भी घूमता हूँ।' मैंने उन्हें हल्का करना चाहा। वे हो भी गयीं। हँसने लगीं।

'आपकी बात अलग है।' उन्होंने डूबे स्वर में कहा, 'आप अकेले हैं। लेकिन लन्दन में अगर परिवार साथ हो, तो बिना नौकरी के नहीं रहा जा सकता।'

वे मेज की चीजें साफ करने लगीं। बर्तनों को जमा करके मैं किचन में ले गया। सिंक के आगे खिड़की थी, जहाँ से उनका बाग दिखाई देता था। बीच में एक वीपिंग-विलो खड़ा था, जिसकी शाखाएँ एक उल्टी छतरी की सलाखों की तरह झूल रही थीं।

पीछे मुड़ा तो वे दिखाई दीं। दरवाजे पर तौलिया लेकर खड़ी थीं।

'क्या देख रहे हैं ?'

'आपके बाग को....यह तो कोई बहुत छोटा नहीं है।'

'है नहीं—पर इस पेड़ ने सारी जगह घेर रखी है। मैं इसे कटवाना चाहती थी, लेकिन वह अपनी जिद पर अड़ गयी—जिस दिन पेड़ कटना था, वह रात भर रोती रही।'

वे चुप हो गयीं—जैसे उस रात को याद करना अपने में एक रोना हो।

'क्या कहती थी ?'

'कहती क्या थी—अपनी जिद पर अड़ी थी। बहुत पहले कभी इसके पापा ने कहा होगा कि पेड़ के नीचे समर-हाउस बनायेंगे—अब आप बताइए, यहाँ खुद रहने को जगह है नहीं, बाग में गुड़ियों का समर-हाउस बनेगा ?'

'समर-हाउस ?'

'हाँ, समर-हाउस—जहाँ ग्रेता अपने भालू के साथ रहेगी।'

वे हँसने लगीं—एक उदास-सी हँसी जो एक खाली जगह से उठकर दूसरी खाली जगह पर खत्म हो जाती है—और बीच की जगह को भी खाली छोड़ जाती है।

मेरे जाने का समय हो गया था—लेकिन ग्रेता कहीं दिखाई नहीं दी। हम सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चले आये। लन्दन की मैली धूप पड़ोस की चिमनियों पर रेंग रही थी।

जब विदा लेने के लिए मैंने हाथ आगे बढ़ाया, तो उन्होंने कुछ सकुचाते हुए कहा, 'आप कल खाली हैं ?'

'कहिए—मैं तकरीबन हर रोज खाली रहता हूँ।'

'कल इतवार है....' उन्होंने कहा, 'ग्रेता की छुट्टी है, पर मेरी अस्पताल में ड्यूटी है। क्या मैं उसे आपके पास छोड़ सकती हूँ ?'

'कितने बजे आना होगा ?'

'नहीं, आप आने की तकलीफ न करें। अस्पताल जाते हुए इसे लायब्रेरी के सामने छोड़ दूँगी....शाम को लौटते हुए ले लूँगी।'

मैंने हामी भरी और सड़क पर चला आया। कुछ दूर चलकर जेब से पैसे निकाले और उन्हें गिनने लगा। आज खाने के पैसे बच जायेंगे, यह सोच कर खुशी हुई। मैंने बची हुई रेजगारी को मुट्ठी में दबाया और घर की तरफ चलने लगा।

☐

मैं लायब्रेरी के दरवाजे पर खड़ा था।

उन्हें देर हो गयी थी—शायद सर्दी के कारण। धूप कहीं न थी। लन्दन की इमारतों पर अवसन्न-सा आलोक फैला था—पीला और जर्द, जिसमें वे और भी दरिद्र और दुखी दिखाई देती थीं।

मुझे उनकी सफेद पोशाक दिखाई दी। दोनों पार्क से गुजरते हुए आ रहे थे। आगे-आगे वे और पीछे भागती हुई ग्रेता। जब उन्होंने मुझे देख लिया तो हवा में हाथ हिलाया, बच्ची को जल्दी से चूमा और तेज कदमों से अस्पताल की तरफ मुड़ गयीं।

किन्तु बच्ची में कोई जल्दी न थी। वह धीमे क़दमों से मेरे पास आयी।

सर्दी में नाक लाल-सुर्ख हो गयी थी। उसने पूरी बांहों वाला ब्राउन स्वेटर पहन रखा था—सिर पर वह पुरानी कैप थी, जिसे मैं पार्क में देखा करता था।

वह निढाल-सी खड़ी थी।

'चलोगी ?' मैंने उसका हाथ पकड़ा।

उसने चुपचाप सिर हिला दिया। मुझे हल्की-सी निराशा हुई। मैंने सोचा था, वह पूछेगी, कहाँ—और तब मैं उसे आश्चर्य में डाल दूंगा। पर उसने पूछा कुछ भी नहीं और हम सड़क पार करने लगे।

जब हम पार्क को छोड़ कर आगे बढ़े तो एक बार उसने प्रश्नभरी निगाहों से मेरी ओर देखा—जैसे वह अपने किसी सुरक्षित घेरे से बाहर जा रही हो। पर मैं चुप रहा—और उसने कुछ पूछा नहीं, तब मुझे पहली बार लगा कि जब बच्चे माँ-बाप के साथ नहीं होते तो सब प्रश्नों को पुड़िया बना कर किसी अन्धेरे गड्ढे में फेंक देते हैं।

ट्यूब में बैठकर वह कुछ निश्चिन्त नजर आयी। उसने मेरा हाथ छोड़ दिया और खिड़की के बाहर देखने लगी।

'क्या अभी से रात हो गयी ?' उसने पूछा।

'रात कैसी ?'

'देखो—बाहर कितना अन्धेरा है।'

'हम जमीन के नीचे हैं।' मैंने कहा।

वह कुछ सोचने लगी, फिर धीरे से कहा, 'नीचे रात है, ऊपर दिन।'

हम दोनों हँसने लगे। मैंने पहले कभी ऐसा नहीं सोचा था।

धीरे-धीरे रोशनी नजर आने लगी। ऊपर आकाश का एक टुकड़ा दिखाई दिया—और फिर अथाह सफेदी में डूबा दिन सुरंग के बाहर निकल आया।

ट्यूब स्टेशन की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वह रुक गयी। मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

'रुक क्यों गयीं !'

'मुझे बाथरूम जाना है।'

मुझे दहशत हुई। टॉयलेट नीचे था और वह इस तरह अपने को रोके बहुत दूर तक नहीं जा सकती थी। मैंने उसे गोद में उठा लिया और उलटे पांव सीढ़ियों पर भागने लगा। गलियारे के दूसरे सिरे पर टॉयलेट दिखाई दिया—पुरुषों के लिए—मैं जल्दी से उसे भीतर ले गया। दरवाजा बन्द करके बाहर आया, तो लगा जैसे वह नहीं, मैं मुक्त हो रहा हूँ।

वह बाहर आयी तो परेशान-सी नजर आयी। 'अब क्या बात है ?'

'चेन बहुत ऊँची है।' उसने कहा।

'तुम ठहरो, मैं खींच आता हूँ।'

उसने मेरा कोट पकड़ लिया। वह खुद खींचना चाहती थी। उसके साथ

मैं भीतर गया, उसे दुबारा गोद में उठाया और तब तक उठाता गया, जब तक उसका हाथ चेन तक नहीं पहुँच गया। हम दोनों विस्मय से टॉयलेट में पानी को बहता देखते रहे, जैसे यह चमत्कार जिन्दगी में पहली बार देख रहे हों।

हम दोबारा सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। ऊपर आये तो उसने कस कर मेरा हाथ भींच लिया। ट्रिफालगर स्क्वैयर आगे था, चारों तरफ भीड़, उजाला, शोर। मैं उसे आश्चर्य में डालना चाहता था। किन्तु वह डर गयी थी। वह इतना डर गयी थी कि मेरी इच्छा हुई कि मैं उसे दोबारा नीचे ले जाऊँ—ट्यूब-स्टेशन में, जहाँ जमीन का अपना सुरक्षित अन्धेरा था।

लेकिन जल्दी ही डर बह गया—और कुछ देर बाद उसने मेरा हाथ भी छोड़ दिया। वह स्क्वैयर के अनोखे उजाले में खो गयी थी। वह उन शेरों के नीचे चली आयी थी, जो काले पत्थरों पर अपने पंजे खोलकर भीड़ को निहार रहे थे। बहुत से बच्चे कबूतरों को दाना डाल रहे थे।

पंखों की छाया एक बादल-सा दिखाई देती थी, जो हवा में कभी इधर जाती थी, कभी उधर-सिर के ऊपर से निकल जाती थी और कानों में सिर्फ एक गर्म, सनसनाती फड़फड़ाहट बाकी रह जाती थी।

वह सुन रही थी। वह मुझे भूल गयी थी।

मैं उसकी आँख बचाकर स्क्वैयर के बीच चला आया। वहाँ एक लाल लकड़ी का केबिन था, जहाँ दाने बिकते थे। एक कप दाने के दाम—चार पेंस। मैंने एक कप खरीदा और भीड़ में उसे ढूँढ़ने लगा।

बच्चे बहुत थे—कबूतरों से घिरे हुए। किन्तु वह जहाँ थी, वहीं खड़ी थी। अपनी जगह से एक इंच भी न हिली थी। मैं उसके पीछे गया और दानों का कप उसके आगे कर दिया।

वह मुड़ी और हकबका कर मेरी ओर देखा। बच्चे कृतज्ञ नहीं होते, सिर्फ अपना लेते हैं। एक तीसरी आँख खुल जाती है, जो सब चुप्पियों को पाट देती है। उसने कप को लगभग मेरे हाथों से खींचते हुए कहा, 'क्या वे आयेंगे ?'

'जरूर आयेंगे....पहले तुम्हें एक-एक दाना डालना होगा—उन्हें पास बुलाने के लिए, फिर....'

उसने मेरी बात नहीं सुनी। वह उस तरफ भागती गयी, जहाँ इक्के-दुक्के कबूतर भटक रहे थे। शुरू-शुरू में उसने डरते हुए हथेली आगे बढ़ायी। कबूतर उसके पास आते हुए झिझक रहे थे, जैसे उसके डर ने उन्हें भी छू लिया हो। किन्तु ज्यादा देर वे अपना लालच नहीं रोक सके। नखरे छोड़कर पास आये—इधर-उधर देखने का बहाना किया—और फिर खटाखट उसकी हथेली से दाने चुगने लगे। वह अब अपनी फ्राक फैलाकर बैठ गयी थी। एक हाथ में दोना, दूसरे हाथ में दाने। मैं अब उसे देख भी नहीं सकता था। पंखों की सलेटी, फड़फड़ाती छत ने उसे अपने में ढक लिया था।

मैं बेंच पर बैठ गया। फव्वारों को देखने लगा, जिनके छींटे उड़ते हुए घुटनों तक आ जाते थे। बादल इतने नीचे झुक आये थे कि नेल्सन का सिर सिर्फ एक काले धब्बे-सा दिखाई देता था।

दिन बीत रहा था।

कुछ ही देर में मैंने देखा, वह सामने खड़ी है।

'मैं एक कप और लूंगी।' उसने कहा।

'अब नहीं....' मैंने कुछ हिचकिचाते हुए कहा, 'काफी देर हो गयी है। अब चाय पियेंगे—और तुम आइसक्रीम लोगी।'

उसने सिर हिलाया।

'मैं एक कप और लूंगी।'

उस स्वर में जिद नहीं थी। कुछ क्षण पहले जो पहचान आयी थी, वह मानो मुझसे नहीं, उससे आग्रह कर रही हो।

मैंने उसके हाथ से खाली कप लिया और दुकान की तरफ बढ़ गया। पीछे मुड़कर देखा। वह मुझे देख रही थी। मैं दुकान के पीछे मुड़ गया। वहाँ भीड़ थी और उसकी आँखें मुझ तक नहीं पहुँच सकती थीं। कोने में सिमट कर मैंने जेब से पैसे निकाले। चाय और आइसक्रीम के पैसे एक तरफ किये, ट्यूब के किराये के पैसे दूसरी तरफ—बाकी सिर्फ दो पेंस बचे थे। मैंने चाय के कुछ पेंस उसमें मिलाये और दुकान के आगे लगी क्यू में शामिल हो गया।

इस बार जब मैंने उसे कप दिया, तो उसने मुझे देखा भी नहीं। वह तुरन्त भागती हुई उस जगह चली गयी, जहाँ सबसे ज्यादा कबूतर इकट्ठा थे। अब उसका हौसला बढ़ गया था। और कबूतर भी उसे पहचानने लगे थे। वे आस-पास उड़ते हुए कभी उसके हाथों, उसके कंधों, उसके सिर पर बैठ जाते थे। वह हँसती जा रही थी, पीला चेहरा एक ज्वरग्रस्त खिंचाव में विकृत-सा हो गया था—और हाथ—वे हाथ, जो मुझे हमेशा इतने निरीह जान पड़ते थे—अब एक अजीब बेचैनी में कभी खुलते थे, कभी बन्द होते थे जैसे वे किसी भी क्षण कबूतरों की फड़फड़ाती माँसल धड़कनों को दबोच लेंगे। उसे पता भी न चला, कब दोनों की कटोरी खाली हो गयी—वह कुछ देर तक हवा में हथेली खोले बैठी रही, सहसा उसे आभास हुआ, कबूतर उसे छोड़कर दूसरे बच्चों के आस-पास मँडराने लगे हैं। वह खड़ी हो गयी और बिना कहीं देखे चुपचाप मेरे पास चली आयी।

वह एक टक मुझे देख रही थी। मुझे शक हुआ, वह मुझ पर शक कर रही है। मैं बेंच से उठ खड़ा हुआ।

'अब चलेंगे।' मैंने कहा।

'मैं एक कप और लूंगी।'

'अब और नहीं—तुम दो ले चुकी हो।' मैंने गुस्से में कहा, 'तुम्हें मालूम है, हमारे पास कितने पैसे बचे हैं ?'

'सिर्फ एक और—उसके बाद हम लौट जायेंगे ।'

लोग हमें देखने लगे थे । मैं बहस कर रहा था—दानों की एक कटोरी के लिए । मैंने उसे उठाकर बेंच पर बिठा दिया, ग्रेता, तुम बहुत जिद्दी हो । अब तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा ।

उसने ठण्डी आँखों से मुझे देखा ।

'आप बुरे आदमी हैं । मैं आपके साथ कभी नहीं खेलूँगी ।' मुझे लगा जैसे उसने मेरी तुलना किसी अदृश्य व्यक्ति से की हो । मैं खाली-सा बैठा रहा । कभी-कभी ऐसा होता है कि अपने लिए कोई उम्मीद नहीं रहती । सिर्फ घोर हैरानी होने लगती है, अपने होने पर, अपने होने पर ही हैरानी होने लगती है । फिर मुझे वह आवाज सुनाई दी, जो आज भी मुझे अकेले में सुनाई दे जाती है....और मुँह मोड़ लेता हूँ ।

वह रो रही थी । हाथ में दानों का खाली कप था । और उसकी कैप खिसक कर माथे पर चली आयी थी । वह चुप्पी का रोना था । अलग-अलग सांसों के बीच बिंधा हुआ । मुझसे वह नहीं सहा गया । मैंने उसके हाथ से कप लिया और लाइन में जाकर खड़ा हो गया । इस बार पैसों को गिनना भी याद नहीं आया । मैं सिर्फ उसका रोना सुन रहा था, हालांकि वह मुझसे बहुत दूर थी, और बीच में कबूतरों की फड़फड़ाहट और बच्चों की चीखों के कारण कुछ भी सुनाई नहीं देता था । पर इन सबके परे मेरे भीतर का सन्नाटा था, जिसके बीच उसकी रुंधी साँसें थीं—और वे मैं अन्तहीन दूरी से सुन सकता था ।

किन्तु इस बार पहले जैसा नहीं हुआ । बहुत देर तक कोई कबूतर उसके पास नहीं आया । उसकी अपनी घबराहट के कारण या घिरते अन्धेरे के कारण—वे पास तक आते थे, लेकिन उसकी खुली हथेली की अवहेलना करके दूसरे बच्चों के पास चले जाते थे । हताश होकर उसने दानों की कटोरी जमीन पर रख दी और स्वयं मेरे पास बेंच पर आकर बैठ गयी ।

उसके जाते ही कबूतरों का जमघट कटोरी के इर्द-गिर्द जमा होने लगा । कुछ देर बाद हमने देखा, दानों की कटोरी औंधी पड़ी है—और उसमें एक भी दाना नहीं है ।

'अब चलोगी ?' मैंने कहा ।

वह तुरन्त बेंच से उठ खड़ी हुई, जैसे वह इतनी देर से सिर्फ इसकी ही प्रतीक्षा कर रही हो । उसकी आँखें चमक रही थीं—एक भीगी हुई चमक—जो आँसुओं के बाद चली आती है ।

उन दिनों ट्रिफालगर स्कैयर के सामने लायंस का रेस्तरां होता था । गन्दा और सस्ता दोनों ही । सड़क पार करके हम वहीं चले आये ।

इस बीच मैंने जेब में हाथ डालकर पैसों को गिन लिया था—मैंने उसके लिए दो टोस्ट मँगवाये, अपने लिए चाय । आइसक्रीम को भुला देना ही बेहतर था ।

वह पहली बार किसी रेस्तरां में आयी थी। गहरी उत्सुकता से चारों तरफ देख रही थी। मुझे लगा, कुछ देर पहले का सन्ताप घुलने लगा है। हम करीब-करीब दोबारा एक दूसरे के करीब आ गये थे। लेकिन पहले जैसे नहीं—कबूतरों की छाया अब भी हम दोनों के बीच फड़फड़ा रही थी।

'मैं क्या बहुत बुरा आदमी हूँ !' मैंने पूछा।

उसने आँखें उठायीं, एक क्षण मुझे देखती रही, फिर बहुत अधीर स्वर में कहा, 'मैंने आपको नहीं कहा था।'

'मुझे नहीं कहा था ?' मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, 'फिर किसको कहा था ?'

'मिस्टर टामस को—वे बुरे आदमी हैं। एक दिन जब मैं उनके घर गयी, वे डाँट रहे थे और मिसेज टामस बेचारी रो रही थी।'

'ओह !' मैंने कहा।

'आप समझे—मैंने आपको कहा था ?'

वह हँसने लगी, जैसे मैंने सचमुच बड़ी मूर्खता की भूल की है—और उसकी हँसी को देखकर, न जाने क्यों, मेरा दिल बैठने लगा।

'हम यहाँ फिर कभी आयेंगे ?' उसने कहा।

'गर्मियों में', मैंने कहा, 'गर्मियों में टेम्स पर चलेंगे। वह यहाँ से बहुत पास है।'

'क्या वहाँ कबूतर होंगे ?' उसने पूछा।

मुझे बुरा लगा, जैसे कोई लड़की अपने प्रेमी की चर्चा बार-बार छेड़ दे। किन्तु मैं उसे दोबारा निराश नहीं करना चाहता था। गर्मियाँ काफी दूर थीं, बीच में पतझड़ और बर्फ के दिन आयेंगे—तब तक मेरा झूठ भी पिघल जायेगा, मैंने सोचा।

हम बाहर आये, तो पीला-सा अन्धेरा घिर आया था। हालांकि दोपहर अभी बाकी थी। उसने खोयी हुई आँखों से स्कैयर की तरफ देखा, जहाँ कबूतर अब भी उड़ रहे थे। मेरी जेब में अब उतने ही पैसे थे, जिनसे ट्यूब का किराया दिया जा सके। इस बार उसने कोई आग्रह नहीं किया। मुझे लगता है, बच्चे एक सीमा के बाद, बड़ों की गरीबी न सही, मजबूरी सूंघ लेते हैं।

मैंने सोचा था, ट्रेन में बैठेंगे, तो मैं उससे समर-हाउस के बारे में पूछूंगा—उस विलो के बारे में भी, जो अकेला उसके बाग में खड़ा था। मैं उसे दोबारा उसकी अपनी दुनिया में लाना चाहता था—जहाँ पहली बार हम दोनों एक-दूसरे से मिले थे। पर ऐसा हुआ नहीं। सीट पर बैठते ही उसकी आँखें मुंदने लगीं। ट्रिफाल्गर स्कैयर से इसलिंग्टन तक का काफी लम्बा फासला था। कुछ देर बाद उसने मेरे कंधों पर अपना सिर टिका लिया और सोने लगी।

इस बीच मैंने एक-आध बार उसके चेहरे को देखा था—मुझे हैरानी हुई कि

सोते हुए वह हूबहू वैसी ही लग रही है, जैसे पहली बार मैंने उसे देखा था, पार्क में पेड़ों के बीच—तल्लीन और साबुत। कबूतरों के लिए जो भटकाव आया था, वह अब कहीं न था। आँसू कब के सूख चले थे। नींद में वह उतनी ही मुकम्मिल जान पड़ती थी, जितनी झाड़ियों के बीच। और तब मुझे अजीब-सा विचार आया। पार्क में उसने कई बार मुझे पकड़ा था, किन्तु उसके सोते हुए तल्लीन चेहरे को देखकर मुझे लगा कि वह हमेशा से पकड़ी हुई लड़की है, जबकि मेरे जैसे लोग सिर्फ कभी-कभी पकड़ में आते हैं और उसे इसका कोई पता नहीं है और यह एक तरह का वरदान है, क्योंकि दूसरों को हमेशा छूटने का, मुक्त होने का भ्रम रहता है, जबकि बच्ची को इस तरह की कोई आशा नहीं थी। तब पहली बार मैंने उसे छूने का साहस किया। मैं धीरे-धीरे उसके गालों को छूने लगा, जो आंसुओं के बाद गर्म हो आये थे, कुछ वैसे ही, जैसे बारिश के बाद घास की पत्तियाँ हो जाती हैं।

वह जगी नहीं। ट्यूब स्टेशन आने तक आराम से सोती रही।

□

उस रात बारिश शुरू हुई, सो हफ्ते भर चलती रही, झूठी गर्मियों के दिन खत्म हो गये। सारे शहर पर पीली धुन्ध की परतें जमी रहतीं। सड़क पर चलते हुए कुछ भी दिखाई न देता—न पेड़, न लेम्प पोस्ट, न दूसरे आदमी।

मुझे वे दिन याद हैं, क्योंकि उन्हीं दिनों मुझे काम मिला था। लन्दन में वह मेरी पहली नौकरी थी। काम ज्यादा था, लेकिन मुश्किल नहीं। एक पब में काउण्टर के पीछे सात घण्टे खड़े रहना पड़ता था। बियर और लिकर के गिलास धोने पड़ते थे। ग्यारह बजे घण्टी बजानी पड़ती थी और पियक्कड़ लोगों को बाहर खदेड़ना पड़ता था। कुछ दिन तक मैं कहीं बाहर न जा सका। घर लौटता और बिस्तर पकड़ लेता, मानो पिछले महीनों की नींद कोई पुराना बदला निकाल रही हो। नींद खुलती, तो बारिश दिखाई देती, जो घड़ी की टिक-टिक की तरह बराबर चलती रहती। कभी-कभी भ्रम होता कि मैं मर गया हूँ—और अपनी कब्र की दूसरी तरफ से—बारिश की टप-टप सुन रहा हूँ।

लेकिन एक दिन आकाश दिखाई दिया—पूरा नहीं—सिर्फ एक नीली, डूबी-सी फाँक—और उसे देखकर मुझे अकस्मात् पार्क के दिन याद हो आये, यहूदी रेस्तरां की बिल्ली और बाजार जाती हुई मिसेज टामस। वह मेरी छुट्टी का दिन था। उस दिन मैंने अपने सबसे बढ़िया कपड़े पहने और कमरे से बाहर निकल आया।

लायब्रेरी खुली थी। सब पुराने चेहरे वहाँ दिखाई देते थे। पार्क खाली पड़ा था। पेड़ों पर पिछले दिनों की बारिश चमक रही थी। वे सिकुड़े-से दिखाई देते थे। जैसे आने वाली सर्दियों की अफवाह उन्हें छू गयी हो।

मैं दोपहर तक प्रतीक्षा करता रहा। ग्रेता कहीं दिखाई न दी, न बेंच पर, न पेड़ों के पीछे। धीरे-धीरे पार्क का पीला, पतझड़ी आलोक मन्द पड़ने लगा। पाँच बजे अस्पताल का गजर सुनाई दिया और मेरी आँखें अनायास फाटक की ओर उठ गयीं।

कुछ देर तक कोई दिखाई नहीं दिया। फाटक के ऊपर लोहे का हैंडिल शाम की आखिरी धूप में चमक रहा था। उसके पीछे अस्पताल की लाल ईंटों वाली इमारत दिखाई दे रही थी। मुझे मालूम था, उन्हें घर जाने के लिए पार्क के बीच से निकलना होगा, किन्तु फिर भी मैं अनिश्चित निगाहों से कभी फाटक को देखता था, कभी सड़क को। यह ख्याल भी आता था कि शायद आज उनकी ड्यूटी अस्पताल में न हो और वे दोनों घर में ही बैठे हों।

सड़क की बत्तियाँ जलने लगीं। मुझे अजीब-सी घबराहट हुई, जैसे प्रतीक्षा का अन्त आ पहुँचा है और मैं उसे टालता जा रहा हूँ। मैं बेंच से उठ खड़ा हुआ—खड़े हो कर प्रतीक्षा करना ज्यादा आसान जान पड़ा। किन्तु तभी मुझे फाटक के निकट सरसराहट सुनाई दी। उनके चेहरे को बाद में देखा, उनकी सफेद पोशाक पहले दिखाई दी। वे तेज कदमों से पार्क के बीच पगडण्डी पर चल रही थीं। उन्होंने मुझे नहीं देखा था। यदि वे मेरी दिशा में आ रही होतीं, तो शायद धुँधलके में मुझे नहीं पहचान पातीं।

मैं भागता हुआ उनके पीछे चला आया।

'मिसेज पार्कर !' पहली बार मैंने उन्हें उनके नाम से बुलाया था।

वे ठहर गयीं और भौचक-सी मेरी ओर देखने लगीं। 'आप यहाँ कैसे ?' अब भी वे अपने को नहीं सम्भाल पायी थीं।

'मैं यहाँ दोपहर से बैठा हूँ।' मैंने मुस्कराते हुए कहा।

वे हकबकायी-सी मुझे देख रही थीं। उन्होंने मुझे पहचान लिया था, लेकिन जैसे उस पहचान का मतलब नहीं टोह पा रही थीं। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया और सहज स्वर में पूछा, 'आज आप इतनी देर से लौट रही हैं ? पाँच का गजर तो कब का बज चुका ?'

'पाँच का गजर ?' उन्होंने विस्मय से पूछा।

'आप हमेशा पाँच बजे लौटती थीं।' मैंने कहा।

'ओह !' उन्हें याद आया, जैसे मैं किसी प्रागैतिहासिक घटना का उल्लेख कर रहा हूँ।

'आप लन्दन में ही थे।' उन्होंने पूछा।

'मुझे काम मिल गया। इतने दिनों से इसलिए नहीं आ सका। ग्रेता कैसी है ?'

वे हिचकिचायीं—एक छोटे क्षण की हिचकिचाहट, जो कुछ भी मानी नहीं रखती—लेकिन शाम के धुँधलके में मुझे वह अपशकुन-सा जान पड़ी।

'मैं आपको बताना चाहती थी, लेकिन मुझे आपका घर नहीं मालूम था....।'

'वह ठीक है ?'

'हाँ, ठीक है,' उन्होंने जल्दी में कहा, 'लेकिन वह अब यहाँ नहीं है। कुछ दिन पहले उसके पिता आये थे, वे उसे अपने साथ ले गये....।'

मैं उन्हें देखता रहा। मेरे भीतर जो कुछ था, वह ठहर गया—मैं उसके भीतर था, उस ठहराव के, और वहाँ से दुनिया बिलकुल बाहर दिखाई देती थी, मैंने कभी इतनी सफाई से बाहर को नहीं देखा था।

'कब की बात है ?'

'जिस दिन आप उसके साथ ट्रिफाल्गर स्क्वैयर गये थे—उसके दूसरे दिन ही वे आये थे....आप जानते हैं, उन्हें वहाँ काम मिल गया है।'

'और आप ?' मैंने कहा, 'आप यहाँ अकेली रहेंगी ?'

'मैंने अभी कुछ सोचा नहीं है।' उन्होंने धीरे से सिर उठाया, आवाज हल्के से काँपी थी, और एक क्षण के लिए मुझे उनके चेहरे पर बच्ची दिखाई दी, ऊपर उठा हुआ होंठ और भीगी आँखें, हवा में उड़ते हुए कबूतरों को निहारती हुई।

'आप कभी घर जरूर आइएगा....' उन्होंने विदा माँगी और मैंने हाथ आगे बढ़ा दिया। मैं बहुत दूर तक उन्हें देखता रहा। फिर काफी देर तक बेंच पर बैठा रहा। मुझे कहीं नहीं जाना था, न ही प्रतीक्षा करनी थी। धीरे-धीरे पेड़ों के ऊपर तारे निकलने लगे। मैंने पहली बार लन्दन के आकाश में इतने तारे देखे थे, साफ और चमकीले, जैसे बारिश ने उन्हें भी धो डाला हो।

'इट इज टाइम डियर !'

पार्क के चौकीदार ने दूर से ही आवाज लगायी। वह गेट की चाभियाँ खनखनाता हुआ पार्क का चक्कर लगा रहा था। टार्च की रोशनी में वह हर बेंच, झाड़ी और पेड़ के नीचे देख लेता था कि कहीं कोई छूट तो नहीं गया—कोई खोया हुआ बच्चा, कोई शराबी, कोई घरेलू बिल्ली।

वहाँ कोई नहीं था। कोई भी चीज नहीं छूटी थी। मैं उठ खड़ा हुआ और गेट की तरफ चलने लगा। सहसा हवा उठी थी। हल्का-सा झोंका अन्धेरे में चला आया और पेड़ सरसराने लगे। और तब मुझे धीमी-सी आवाज सुनाई दी, एक असीम आग्रह में लिपटी हुई—'स्टॉप....स्टॉप....' मेरे पाँव बीच पार्क में ठिठक गये। चारों ओर देखा। कोई न था। न कोई आवाज, न खटका—सिर्फ पेड़ों की शाखाएँ हवा में डोल रही थीं। उस समय एक पगली-उत्कट, नगी-सी, आकांक्षा मेरे भीतर जागने लगी कि यहीं बैठ जाऊँ। इन पेड़ों के बीच जहाँ मैं पहली बार पकड़ा गया था। मेरी अब और आगे जाने की इच्छा नहीं थी। मैं इस बार अन्तिम और अनिवार्य रूप में पकड़ लिया जाना चाहता था....।

'इट इज क्लोजिंग टाइम !' चौकीदार ने इस बार बहुत पास आकर कहा। मेरी तरफ जिज्ञासा से देखा कि क्या मैं वही आदमी हूँ, जो अभी कुछ देर पहले बेंच

पर बैठा था ।

इस बार मैं नहीं मुड़ा । पार्क से बाहर आकर ही सांस ली । मेरा गला सूख गया था और देह खोखली-सी जान पड़ती थी । पार्क में सामने पब की लालटैन झूलती दिखाई दी । मैंने जेब से पर्स निकाला, पैसे गिनने के लिए । पुरानी गरीबी की यह आदत अब भी बची थी । मैंने हैरानी से देखा कि मेरे पास पूरे दो पौण्ड हैं—और तब मुझे याद आया कि मैं उन्हें कबूतरों के दानों के लिए लाया था ।

[धर्मयुग, 4 जनवरी 1976]

प्रभु जोशी

अलग अलग तीलियां

शीशी का गोलगट्ट ढक्कन अपनी कसी और कड़क मुट्ठी में भर कर जोर से मरोड़ा—तिड़िक् ! एक छोटी-सी ध्वनि हुई। ढक्कन टूट गया। तब भी गुस्सा कुछ इसी तने का ही आया था—एक कूदनी मारकर दुकान के काउन्टर पर जा चढ़े और जोर से पकड़ ले गाबड़ी। फिर मरोड़ डाले इसी तने तिड़िक् ! खेल खतम ! ! चिक-चिक खलास ! ! ! ले साले, अब चढ़ा खाते में झूठी-झूठी तीन-तीन तरपीन के तेल की शीशियाँ····अरे, उधारी करनी पड़ती है। धन्धे में उतरा हर आदमी उधारी करता हैगा, नी तो जाय कहाँ? चाहे किरोड़ीमल हो या छदम्मीलाल। पण, भइया इसका मतलब ये तो नहीं हुआ न कि तू हमारा पटिया ही उलाल कर दे ! ····तो फिर तू भी समझ ले कि कम्मू पेन्टर ये कब्भी सेहन नी कर सकता कि कोई उसको पोतता चला जाये और वो चुपकी साधे बैठा रहे····

'अब्भी तक कोई सैकड़ों के बोर्ड पोत डाले होंगे, तू हमें क्या पोतेगा !' कम्मू पेन्टर ने टूटे ढक्कन को झुंझलाहट की गिरफ्त में फँसे हाथ से झटका दे दूर फेंका और तरपीन के तेल की ताजा शीशी बगल में रख दी। फिर बार्निश का डिब्बा खोला और उसमें से थोड़ा-सा कप में निकाल तरपीन मिलाकर ब्रूश से हिलाने लगा। उसे उस बनिये पर खुर्राट-खीझ छूट रही थी, जिसने उसके साथ बेईमानी कर ली थी।

साली, सब दूर लूट-खसोट ही भरी धरी है। अब इसी को लो न, पहले वह 'थिनर' बना-बनाया बज्जार से खरीदता था। पण जब से ओइलपेंट की करामात कब्जे में आयी है, वह सब समझ गया है कि इंग्रेजी नाम धर के लोग लूटते हैं। ये थिन्नर-विन्नर कुच्छ नी होता। बारनिश लो और उसमें कूढ़ लो थोड़ा-सा तरपीन का तेल—लो ये होगिया इंग्रेजी का 'थिनर'। डिब्बे में पैकबन्द करके इसी से साले पइसा झाड़ते हैं।

उसने जल्दी से घुल-मिल करने के लिए तेजी से ब्रूश घुमाना शुरू किया। कोहनी के पास के जोड़ ने आज फिर चसक मारी। कम्मू कुढ़ा। साली, पूरी ठण्ड में येई तकलीफ भोगना पड़ती है। जोड़-जोड़ जकड़ा जाता है। फिर रात को तो

होली के होरे (पाले) की बूढ़ी ठण्ड थी। कई एक बूढ़े-गढ़ले तो लुढ़क गये होंगे। ऐसे में दर्द क्यों न होगा, इस टूटे हाथ में। हस्पताल में डॉ० सिरीवास्तो को बताया भी था, तो बोले—'गलत जुड़ गयी है, फिर से तोड़ के जोड़ना पड़ेगी।'

डॉक्टर ने यह उल्टी बात बोली थी, तो कम्मू को सीधा पच्चू पेहलवान पर गुस्सा आया था। गलत काहे को जोड़ दी। फिर उसने गुस्से को ठपकार के सही ढंग से समझाया था, खुद को—'इसमें गलती पच्चू पेहलवान की काय की? गलती तो तेरी है। तू काय कू गया वहाँ, कोई सरकारी हस्पताल में ताले पड़े थे? और इस सबसे अलहादी बात तो ये कि तूने वो वाला काम अपने हाथ में ही काय कू लिया, जब तेरे को मालूम था कि अपन एकेले आदमी हैं।'

पचास रुपये का काम था। जिसमें से बीस रुपये का तो अपना ही माल लग जाने का था। मुरारी मिठाई वाले की भीत पर लिखना था—'क्या चाहिए, मिठाई? तो सीधे चले आइए।' बड़े-बड़े हरुप में। दुकान दिन भर खूब चलती है, सो काम रात कू करने का था। कसम भगवान की, वो ऊपर वाला गवाह है, सिरफ दो रात काम किया। तीसरी को तो घर लिया मलेर्या बुखार ने। पण काम लगा दिया था, तो पूरा करना लाजमी होता है। इसलिए कुनैन की गोली गील कर चढ़ गया नसेरनी पर। एक हाथ में बुरुश। दूसरे हाथ में रंग का डिब्बा। कुछ देरी में जो जम के धुजणी धरीं कि पूरा बदन पीपल के पत्ते की मुजब कंपने लगा। चिकनी दीवार से हत्थे टिका कर खड़ी निसेरनी कंपकंपी के कारण जो फिसली, तो भैया कम्मू पेन्टर निच्चे! धड़ाम!! अवाज भी खूब जम के हुई, जैसे गजा गिरी हो। मगर सामने बने आलीसान मकानों की खिड़की खोल के किसी माई के लाल ने पूछा-परखा नहीं कि ये अवाज आखिर काय बात की हुई। साले, सब रजाइयों में दुबके सोये रहे....काले रंग से भरा डिब्बा मुँह पे अलग उलट गया। मुस्किल से उठा, तो पाया कि कोहनी में कटार-सी चल रही है।

तब कम्मू को गुस्सा उन अलीसान मकानों के गर्म कमरे में नर्म रजाइयों में दुबके लोगों के साथ-साथ अपने ही वर्ग के सिलावट लोगों पर आया था कि सालों ने दीवार क्यों कर के इतनी चिकनी बना दी। बहुत व्यंग्यात्मक स्थिति थी। दीवार की चिकनाई, जो हरुप माँडते समय और रंग पोतने में बहुत सहयोगी व अपने पक्ष में लग रही थी, वही चिकनाई उसकी सहूलियत के उलट हो गयी थी।

उठ के चला था, तो काला मुंह देख के कुत्तों ने दौड़ना शुरू कर दिया था। डरने लगा था, कोई काट न ले। वरना चौदह इंजेक्शन का रगड़ा साथ लग जायेगा। आखीर में कैसे तो भी साबूत घर आ लगा था। मगर धन्धा महीने भर बन्द रखना पड़ा था।

□

तब से हाथ काम करने लायक तो हो गया, लेकिन अब उठा-धरी व ठण्ड-बाव में दरद करने लगता है। कम्मू पेन्टर ने ब्रुश घुमाना छोड़कर थोड़ा-सा तरपीन का तेल लिया और कोहनी पर मलने लगा। कुछ देर मलने के बाद बोर्ड पोतने के लिए नम्बर सात का बुरुश ढूँढ़ने लगा। याद आया—कल रात को ठण्ड व थकान जिस्म में ऐसी घुल गयी थी कि कुल्फी वाले की पेटी पर 'बॉबी' बना चुकने के बाद बुरुश धोने के नाम पर ऐसा कंटाल चढ़ने लगा था। इसलिए, जल्दी में बुरुश उसने पीपे में पटक दिये थे। यह भूल गया था कि पीपे में घासलेट नहीं, पानी है। कल वाटर-कलर का काम आ गया था न!

उसने ब्रुश निकाले। रात भर पानी में पड़े रहने के कारण चीठे चठ हो गये थे। बाल चिपक कर ऐसे बन्ध गये थे कि उन्हें खोलने में खासी खीझ होने लगी थी। पेन्टरी का काम औरतों के चूल्हे-चौके सा थोड़ेई है कि खाना शाम को बना लो, तो बर्तन-भाड़े सुबू घीस लो।

सारे बुरुश उठाये और घासलेट के पीपे में डाल दिये।

लकड़ी की रीपें निकाल कर चौखटे पर टीन ठोंकने लगा। भड़! भड़!! भड़ाभड़!!! हथौड़ी की मार से चद्दर भनभना कर कमरे की पूरी हवा को बौखलाने लगी। भड़भड़ाहट के बीच उसे अपने नये पड़ोसियों का ध्यान आया। साले फिर बोमड़ी पाड़ेंगे। कम्मू को ताज्जुब होता है, इनको ये रजी-सी बात भी समझ में क्यों नहीं आती कि ये धन्धा है। टीन-ठोंक-पीट न किये, तो हरुप क्या इनके बाप के चेहरों पर लिखे जायेंगे। हुँह!

सोच-साच कर कम्मू और झुँझलाया और तेजी से टीन ठोंकने लगा। इधर आये को फकत फरवरी बीती है। मगर, दुश्मन दिसम्बर तक की गिनती के बन गये हैं। पन्द्रह दिन पहले कम्मू की गुमटी थी, एम० जी० रोड के गन्दे नाले पर मगर जिज्जाबाई घोर पड़े, वो पाड़ा मैदान से चुनाव लड़ के मुंसीपालटी की प्रिसीडेन्टनी क्या बनी कि बस हो गयी लाट साब। नाले पर की सारी गुमटियाँ हटवा दीं। सब बिच्चारे छिन्न-भिन्न हो गये। 'किर्लोस्कर छँटनी पान भण्डार' वाला रसूलपुरे चला गया और 'फिकर नॉट टी स्टाल' वाला नयी आबादी में। और वो यहाँ आ गया। धन्धे का नाता जिगो से जम के होता है। ठीया-ठिकाना बदला कि गिराक गये। अब उसके सारे गिराक अब्दुल पेन्टर की ओर चले जाते हैं।

गिराकी कम होने की बात की याद से उसे लगा, जैसे किसी ने रंगे-चंगे बोर्ड को बिगाड़ दिया हो। मन की कसक सूखते ओइलपेन्ट-सी गाढ़ी होकर खुरदुरी होने लगती है। अब तो जैसे पपड़ी पड़ जम गयी है। जरा-सा खुरचो तो नीचे का गीलापन फफक कर फटाक से ऊपर उफन आता है। तब कम्मू पेन्टर खुद को दिलासा दिलाता है—कम्मू, इसमें मन गीला करने से क्या होता है रे, गिराक जाते हैं, तो साले जाव। किस्मत में लिखा होगा, तो गिराक टोड़ी कार्नर से खिंच के आ जायेगा। फिर, पेन्टरी तो वो धन्धा है कि गिराक वर्क से खिंच के आता है, नाम-

ठाम से नहीं । और, अब्दुल पेन्टर को आता भी क्या है ? हरुप तो एकदम बेकार । बम्बई डिजान की तो लकीर नहीं खींच सकता और चेहरे भी वोही रटे-रटाये बैजन्ती माला, राजश्री, दलीपकुमार''''अब इनका जमाना गया । कल ही कुल्फी वाला आया था । पेटी पर पेन्ट करवाने, नहीं बोल रहा था क्या—कम्मू मियाँ, बॉबी बनाव । साले बुढ़ऊ अब्दुल की बॉबी के नाम पे अक्कल की चॉबी गुम हो जाती है''''अपन उसको बोला, तो टेक दिये हाथ और कोसिस की भी, तो बना दी वो ही बैजन्ती''''बुड्ढा है न, हाथ कंपते हैं। सुग्गे-सी सुतवां नाक बनाने को बोलो, तो भुजिये-सी भारी नाक बन जाती है ।

अपने धन्धे के प्रतिद्वन्द्वी की कारीगरी में मीनमेख खोजकर कम्मू पेन्टर को थोड़ी-सी राहत मिली । राहत महसूस की, तो दिल दरियायी हो गया । दया बरसने लगी—'अरे बिच्चारा, बूढ़ा है । कम्मू की और उसकी कौन बराबरी । कैसे तो भी पोत-पात के पेट पालता है, तो मुझे उसमें काहे की जलन, चल भइया चार पैसे तू भी कमा ले ।'

पतरा चौखटे के ऊपर ठोंकने के बाद ग्राउण्ड कलर पोत के आर्डर की चिट्ठी खोजने लगा, चार-पांच चिट्ठियाँ थीं । छोटी-छोटी प्लेट बनने आयी थीं । पी० डब्लू० डी० आफिसर की । सोचा, बड़ा काम बाद में करेगा । पहले यह खींच दे, चिट पढ़ी—'कुत्ते से सावधान' कम्मू को लगा जैसे लपक कर किसी अलसेशियन टेगड़े ने भभोड़ लिया हो । मन में आया लिख दे—'हम से सावधान' । अरे, कुत्ता काट खाए तो कोई बात नो । उनके तो चौदह इन्जीक्शन भी निकल आये हैं, मगर इनके काटे का तो जगत-दुनिया में कोई इन्जीक्शन ही नहीं है ।

कम्मू को याद आया । वह भी तो ऐसा ही काटा हुआ है । उसको भी दांत गड़े हुए हैं । मगर पी० डब्लू० डी० नहीं, प्रिसीडेंटनी बाई के । ये तो अच्छा है कि वो दुनिया जहान में एकला है । शादी-शुदा बाल बच्चेदार होता, तो हो गया था कल्याण ।

कम्मू ने दूसरी पर्ची उठायी । लिखा था—'डोंट डिस्टर्ब मी' । मतलब उसने आफिस के किलार्क से ही पूछा था, तो उसने बताया था 'मेरे को मत सताव' । कम्मू खुसफुसाया । सालो, तुम हमको खूब सता लो, मगर हम अपनी तकलीफ बयान करने आयेंगे, तो बोलेंगे—'डूंट डिस्टर्ब मी' । उस दिन ये ही तो हुआ था । गुमटी हटवा दी आफिसर ने । मिलने को गया, तो बोला था—'एक तो तुमने शहर विगाड़ रखा है । ऊपर से खोपड़ी खाने आये हो । गेट आऊट !' ''''लो ये भी बात में बात हुई । उसने तीसरी पर्ची उठायी । लिखा था—'अन्दर आना मना है ।'

कम्मू को लगा, किसी कमरे में घुसते ही भड़ाक से बारसाख से सिर फूट गया हो । उसने बहुत हौले-से बेचैन उगलियाँ कपाल पर घुमाई। जैसे, गुम्मा खोजना चाहता हो''''सिर भिन्नाता सा मालूम होने लगा ।

□

'पेन्टर साब, ओ ऽ ऽ पेन्टर साब !' नीचे से आवाज आयी। कम्मू ने खिड़की में से झांका, सेनुमा का ताँगे वाला था। उसे देखते ही ताँगे वाला कपड़े के बोर्ड लेकर ऊपर चढ़ आया। बोला—'ये दो बोर्ड ले आया हूँ। फटाफट खींच दो, तो मैं ताँगे से रौंड मार दूँ। नहीं तो फिर मेरा स्टेशन की सवारियों वाला टैम आ लगेगा।'

'तो साली फिलिम बदल गयी।' कम्मू बड़बड़ाया।

'नीचू को लोट लगा देना, शनि-रवि को मेटनी शो भी चलेगा—और हाँ, 'एकदम नयी कापी लिखना न भूलियो। पर्ची पर फिलिम की हीरो-हीरोइन के नाम लिखे हैं।' ताँगे वाले ने सारी हिदायतें एक साथ दीं व पर्ची बोर्ड थमा के नीचे उतर गया।

कम्मू को अब पता नहीं लगता कि फिलिम नई है कि पुरानी। बहुत दिनों से देखना जो बन्द कर दी। अब उसकी जगह भगत को भेज देता है। सेनुमावालों की ओर से बोर्ड बनई के चालीस रुपये मईने के मिलते हैं और बाल्कनी में हर फिलिम में एक सीट फ्री। पहले दिन और पहले शो की। पण अब तो जाने का मन ही नहीं करता। एक दिन कोई फिलिम देख लो, तो दस दिन तक 'एकलापन' लगने लगता है।

'साले ये फिलिम वाले ये क्यों नहीं बनाते कि बंसी को कालरदार कुत्ते ने काट खाया कि यकूब को रसूलपुरे भगा दिया कि कम्मू की गुमटी उखाड़ दी।'

कम्मू बोर्ड खींच कर कोने में ले आया। दो ही तो बोर्ड हैं। अभी बनाये देता हूँ। उसने नील व पीली पेवड़ी सरेस के गाढ़े पानी में घोली और उन कपड़े के बोर्डों पर सफेद मिट्टी पोतने बैठ गया।

ऐसे कित्तई बोर्ड फटाफट खींचे थे, कम्मू ने किसी पाल्टी के चुनाव के टैम। ये जिज्जाबाई घोर पड़े के भी कोई पचासों बैनर बोर्ड बनाये थे। उसी पूँजी से चार पटिये जोड़ के गुमटी खड़ी की थी। उसी ने उखड़वा दी। शहर सुन्दर बनवाना है। अब एम० जी० रोड के गन्दे नाले को गंगा बना देंगे''''गंगा तो आनी ही है, पर भाँड भागीरथ नहीं हुआ करते,''''अरे, ये क्या समझेंगे 'ठीये' का चला जाना। धन्धे वाले के 'डीये' फूटना होता है। जड़ उखड़ जाती है। देखें, तुमारा चुनाव लड़ने का वार्ड बदल दें। पाड़ा मैदान की जगह लड़ लो मोहसिन पुरे से—साली जमानत जब्त हो जाये। काला टेगड़ा भी वोट नी देगा''''राजनीति के धन्धे का मुर्गा दो दिन में दड़बे में घुस जायेगा—कहते हैं न, वो अपना नाम ब्याह मांड के और टपरा उखाड़ के देखो, आदमी घड़ी भर में घुटने टेक देता है।

कम्मू ने उदास होकर सोचा। अब 'टपरा उखड़ गया तो अपना ब्याह मंडने का सवाल ही नी उठता। और मांड के करेगा भी क्या? आदी जिन्दगी तो कट गयी। खाने के ठिकाने न हो पाये। छोकरी को ले आया तो कहाँ खाये-सोयेगी—जिज्जाबाई घोरपड़े के तिमंजले बंगले में?

□

नील घुल गयी थी। लिखने के लिए बुरुश डुबोया ही था कि नीचे से आवाज आयी—'पेंटर चचा, ओ, पेन्टर चचा !' वह देखे, तब तलक तो चार-पाँच छोरों का झुंड कमरे में था। एक के हाथ में चन्दे का डिब्बा था और जिसे वह लगातार हिला-हिला कर बजाये जा रहा था। दूसरा बोला—'चचा, धुलेन्डी तो कल है और तुमने रंग अभी से घोल लिया। कुंवारे आदमी को रंग खेलने का खूब शौक होता है न····मजे मारोगे दिखता !'

'नहीं रे, ये सेनुमा के बोर्ड बनाने हैंगे, सो नील और पेवड़ी घोली है,' कम्मू ने मजाक को गम्भीरता में डुबोने के इरादे से कहा और उनकी ओर पूरी तरह मुखातिब हो गया।

'चचा, बता दो कितनी रांगोली और रंग ले आयें।' लड़के ने पूछा, कम्मू ने हिसाब से बता दिया। वे उतर गये। पिछले पूरे हफ्ते से इनका चन्दा बटोरू काम-काज शुरू हो गया था। कम्मू से चन्दा नहीं लेते। सिर्फ होली के मंडप के आगे 'होलिका और प्रहलाद वाला रांगोली चित्र बनवा लेते हैं। ये सिलसिला कोई पाँच साल से चल रहा है।

बोर्ड पर सफेद मिट्टी पुतने से पुरानी फिलिम का नाम दब गया था। उसने उसे धूप में डाल दिया और दूसरा पोतना आरम्भ किया। कम्मू के मन में आया था, बोलता होली खेलने की बखत गयी रे छोरो····अब तुम सब जने भी कोई नया त्योहार ढूंढों। पर छोकरे हैं। मसखरी भी करते हैं तो एकाएक और समझदारी भी। पार साल सालों के मगज में चढ़ गयी एक बात—'इंग्रेजी हटाव।' फिर क्या था, कित्तई स्कूटर, टिरिक, टेंपों उसकी गुमटी के आस-पास डटे खड़े हैं—'भैया नम्बर प्लेट हिन्दी में कर दो। छोरे-छापरी हालत खराब किये हैं।' पण, काम की ऐसी बहार की बखत वो बुखार में था। सारा काम अब्दुल पेन्टर की ओर चला गया था, 'काम जाव, पर अपनी मुलुक की बोली बोलने वाले को काम तो मिला। नहीं तो सारे इंग्रेजी के बोर्ड शहर से बनते थे। और वो रमजान का शजहाद नहीं बोल रहा था, 'चचा, इंग्रेजी के कारण ही उसकी नौकरी नहीं लग रही।'

छोकरे अब और दूर निकल गये थे। उन्हीं की बोम सुनाई दे रही थी—'जो बोम नी दे वो बोम····।'

☐

बोर्ड और प्लेटें सब निबट गयी। दोपहर होने को आयी थी। कम्मू हाथ धो ही रहा था कि खट-खट की आवाज आयी। पोस्टमैन था।

कम्मू को थोड़ा-सा ताज्जुब हुआ। पिछले पाँच बरस में शायद ही किसी की चिट्ठी आयी हो। नीली छतरी के नीचे उसके भाई-बन्ध सिर्फ उसके हाथ व बुरुश भर तो है। वह धुकधुकाती जिज्ञासा से आगे आया।

'आजकल, तुम मेरी बीट में कब से आ गये ?' पोस्टमैन ने बोला, तो कम्मू

को लगा, किसी ने उसके जिस्म में सुई चुभो दी हो। आहत स्वर में बोला—'भैया, रानी को कौन कहे आगा ढक''''बो जिज्जाबाई ने शहर सुन्दर बनाने की सोची है न, इसलिए हम जैसे रंग-रोगन वाले गन्दे लोगों को झाड़ मार के इधर फेंक दिया है।' फिर लगा, इसके सामने रोना-रोने का क्या मतलब। सो तत्काल तत्परता से बात बदली—'आज अपने नाम पे क्या लई आये ?'

'एक रजिस्ट्री है, तुमारे नाम की'—पोस्टमैन ने उत्तर देते हुए खाकी बैग का मुँह फाड़ा और लम्बा-सा सफेद लिफाफा निकालने लगा। व्यग्रता को काबू में करने के लिए कम्मू पोस्टमैन का हुलिया देख बोला—'होली, खूब चढ़ रही है, पोस्टमैन जी।'

'गेले गाँव के लिए ये दिन ऊँट की अवई जैसा है। लौंडों की चन्दे माँगती भीड़ ने स्याही फेंक दी।' पोस्टमैन ने लिफाफा निकाल लिया। फिर साइन करवाने के लिए कम्मू के सामने डायरी फैला दी।

'बोलो, भैया चिड़ी कहाँ माड़ दूँ ?' कम्मू ने साइन करने की जगह पूछी। फिर साइन करके रजिस्ट्री ले ली।

पोस्टमैन नीचे उतर गया।

लिफाफे का पेट फाड़ा, तो चकित रह गया। नोटिस था। हरजाना भरने का। लिखा था, गुमटी हटाये जाने की इत्तिला के बाद भी नगरपालिका के अधिकार क्षेत्र पर अवैध कब्जा करीब अट्ठाइस दिन किये रहे हो।

कब्जा ? और कैसा कब्जा। पहले दिन गुमटी हटाने का कागद दरोगा दे गया। मगर कम्मू को काम था। इन्दौर में दीवाल पर दन्तमंजन का विज्ञापन लिखने का। लौटा, तो गुमटी की जगह खाली भक्क असमान था। कम्मू को लगा था, जैसे किसी ने ब्रश घुसेड़ दिया आँखों में''''जिज्जाबाई के पास गया तो सी० ये मो० ने छुछकार के भगा दिया था।

कम्मू को रजिस्ट्री का लिफाफा किसी गर्म अंगारे-सा लग रहा था। हरजाना हफ्ते भर में न भरा, तो कड़क कानूनी कार्रवाई होगी। हुँह ! कड़क कार्रवाई करके क्या लोगे ? मेरा मांस ? लेके देखो''''

भूख भड़कने लगी थी। फिर भी तै किया, पहले दूसरी गुमटियों वालों से भी तलाश करेगा कि तुम कूँ भी नोटिस मिला क्या ? फिर पाँच-सांती मिलकर जिज्जाबाई से मिलेंगे। कहेंगे—अखीर मर्जी क्या है ? हमकूं रोटी-पे-रोटी रख के खाने भी देना है या नहीं ? दो जने ये बात बोलेगे, तो जोर चाहे न लगे, जरीका तो होगा ही। उसने झटपट हाथ धोये। कपड़े पहने और गली में उतर आया। गली से चौराहे की भीड़ में मिलते ही उसके फेफड़ों में साहस आ गया। जैसे वह अकेला नहीं है''''

याकूब से साइकिल ली और रसूलपुरे की ओर धुनक दी। पहुँचकर दरवाजा खटखटाया। खुला तो 'किर्लोस्कर छंटनी पान भण्डार' वाले का छोकरा था।

बोला—'अब्बा को अभी बुलाता हूँ।' वह आया। कम्मू ने सारी बातें बतायीं कि हम मिलकर माँग करेंगे, तो आवाज ऐसी होगी कि कान में तेल डाले आदमी चिचक कर बैठ जायेंगे। तो वह बोला—'खुदा, सब देखता है, जिसने हमारी जड़ों में तेल दिया उसे, मरेगा तो कब्र के लिए भी जिगो नहीं मिलेगी।' इस पर कम्मू ने और खींचा, तो मिनक गया—'तू भैया, जा यहाँ से, कोई सुन लेगा तो यहाँ से भी जाऊँगा।'

कम्मू वहाँ से 'फिकर नॉट' वाले के पास साइकिल दौड़ा ले गया। वह इसका भी बाप निकला है। वह भागमल लणिया से हर्जाने को भरने के लिए चवन्नी ब्याज पर पैसे ला चुका था। अब की बार कम्मू को गुस्सा आ गया। साले, मरदूद हैं। जरा-सी बात में जान कागज-सी चिरने लगी है। उसे लगा, उस वार्ड के सारे लोग लोग नहीं हैं, हस्पताल के वार्ड लम्बर छै में भरे लूले, लंगड़े, काने-कोचरे, अधमरे मरीज हैं—जिनमें थाली से हाथ मुँह तक ले जाने की ताकत भी गायब हो चुकी है।

कम्मू ने एक गन्दी गाली दी, पूरी ताकत से और पेडिल पर पाँव रख दिया।

□

ठण्ड के दिनों के बावजूद वह पसीने से लथपथ हो चुका था। किराये की साइकिल जमा करके घर की गली में मुड़ने ही लगा था कि कान में शब्द पड़े—'पेन्टर चचा! कहाँ गायब हो गये थे। हम तुमको ढूँढ़े-ढूँढ़े फिर रहे हैं न!'

लौंड़ों-लफाड़ियों की भीड़ थी।

'रांगोली और रंग ले आये हैं। होली भी रंचा गयी है, चलो वो बना दो नी।' एक छोकरे ने बोला, तो कम्मू को गुस्सा आया, जोर-जोर से चिल्लाकर डाँट दे। साले, तुम सब गधे हो। बड़े-बड़े बाल बढ़ाने से तुम्हारी अक्कल को जुएँ खा गयी हैं। इतना भी नहीं समझते कि ये होली-बोली तुमको मूरख बनाने का त्योहार है। तुम एक-दूसरे पर रंग-धूल धक्कड़ फेंकते रहो और भरे हुए लोग तुम पे हंसते रहें। तुम्हें चूस के हड़काया करते रहें।

'चल्लो चचा, क्या सोच रहे हो!' उसी लड़के ने फिर कहा, तो कम्मू को ताव आ गया, तड़ातड़ तमाचे मार कर भगा दे। फिर अचानक जाने क्या मगज में ध्यान आ गया। लगभग ललकारती-सी आवाज में बोला—'चल्लो।'

□

तनाव कम्मू की नस-नस में बस रहा था। बीच चौराहे पर, जहाँ होलिका रची गयी थी, लोगों की खासी भीड़ थी और आता-जाता हर आदमी उस भीड़ में शामिल होता जा रहा था। उसने भीड़ के घेरे को तोड़कर अन्दर प्रवेश किया, जहाँ होलिका व प्रहलाद की रांगोली बनाना था, तो उसे पिछले सालों की तरह नहीं लगा, जैसे वह किसी रंगभवन में एक चित्रकार की तरह घुस रहा है और भीड़ उसके प्रशंसकों की है—उसे लगा, वह कोई चक्रव्यूह तोड़कर रण क्षेत्र में उतर

आया है। इस अहसास ने उसकी अंगुलियों में जोश की सुरसराहट भर दी थी—इतनी कि जेब से चाक निकल कर रेखांकन के लिए पथरीली जमीन से टिकाया कि टूट गया। फिर उसने दूसरा चाक निकाला और देखते-देखते पथरीले डामरीकृत चौराहे की काली पृष्ठभूमि पर एक औरत, जो होलिका थी, प्रह्लाद नामक बच्चे को लिए बैठी थी—बना दी। दर्शक बढ़ते जा रहे थे, जिनमें अपढ़, पढ़े-लिखे, पुलिस और कई तरह के लोग थे। उसने महसूस किया कि रंगोली के रंग बिखेरने में उसके हाथ बहुत मुस्तैद हो उठे हैं। वह पूरी भीड़ से बेखबर बना लगातार रंग भरे जा रहा था। रंगों के भरते-भरते भीड़ में फुसफुसाहट होने लगी थी।

अब पूरा चित्र उभरकर आकार व रंग पकड़ चुका था।

अन्त में उसने अपनी मुट्ठी में सफेद रंगोली ली और भीड़ के घेरे में खड़ी मुर्दार शक्लों के घटिया कौतुहल को हिकारत से देखने के बाद होलिका के चित्र को पल भर क्रूर ढंग से देखा—और लपक कर चित्र के काले बालों में एक मोटी और चौड़ी लकीर खींच दी। जो काले बालों के बीच चाँदी-सी चमकीली मगर तलवार-सी तीखी लट बन गयी थी। लट के उभरते ही लगा, किसी ने भीड़ के भारी पेट में चमचमाता छुरा घोंप दिया है। भीड़ में इससे बौखलाहट भर गयी थी, चूँकि अब होलिका का चित्र पौराणिक होलिका का न रहकर जिज्जाबाई घोरपड़े का हो गया था।

कम्मू पेन्टर ने चाक जेब में भरे और भीड़ के गोले को तोड़कर घर की ओर डग भर दिये।

आज पूरी गली पार करते हुए पहली बार लगा कि वह बहुत लम्बी और गन्दी है। गन्दी ही नहीं, उसमें किसी के बड़े-बड़े जूतों द्वारा उसका पीछा किये जाने की आवाजें कड़वी गन्ध की तरह समायी हैं।

कम्मू ने ताले में तेजी से चाबी डाली और किवाड़ खोला। खोलते हुए हाथों में कंपकंपी थी। किवाड़ खुलते ही उतरते सूरज की धूप का हाशिया तलवार की तरह दरवाजे में घुस गया। धूप ने टार्च की तरह तमाम चीजों को चमचमाता बना दिया जिसमें, रंग के डिब्बे, ब्रश और पट्टियाँ थीं। पट्टी पर नजर जाते ही वह इस कदर चौंक गया, जैसे आँखों से उसने शब्द नहीं पढ़े, बल्कि राजा भोज के सिंहासन पर बैठी कोई पुतली जोर से चीखी है—'अन्दर आना मना है।' उसे लगा, गुमटी किसी ने छीनी ही थी। यह घर भी कोई छीन रहा है। पल भर तक वह वहीं सोचता खड़ा रहा कि वह क्या करे, क्या न करे। गली में भारी जूतों की इस ओर बढ़ते जाने की आवाज लगातार ऊँची होने लगी थी।

उसने चाहा कि वह तेजी से घर में घुस कर अन्दर की सांकल लगा ले, या फिर पीछे मुड़कर जूतों की आवाजों से कहे—'कर लो, क्या करते हो....'

[धर्मयुग, 7 मार्च 1976]

भीष्म साहनी

साग मीट

साग-मीट बनाना क्या मुश्किल है। आज शाम खाना यहीं खाकर जाओ, मैं तुम्हारे सामने बनवाऊँगी, सीख भी लेना और खा भी लेना। रुकोगी ना? इन्हें साग-मीट बहुत पसन्द है। जब कभी दोस्तों का खाना करते हैं, तो साग-मीट जरूर बनवाते हैं। हाय, साग-मीट तो जग्गा बनाता था। वह होता, तो मैं उससे साग-मीट बनवाकर तुम्हें खिलाती। उसके हाथ में बड़ा रस था। वह उसमें दही डालता, लहसुन डालता, जाने क्या-क्या डालता। बड़े शौक से बनाता था। मेरे तो तीन-तीन डिब्बे घी के महीने में निकल जाते हैं। नौकरों के लिए डालडा रखा हुआ है, पर कौन जाने, मुए हमें डालडा खिलाते हों और खुद अच्छा घी हड़प जाते हों। आज के जमाने में किसी का एतबार नहीं किया जा सकता। मैं ताले तो नहीं लगा सकती। मुझसे ताले नहीं लगते। मैं कहती हूँ, खाते हैं तो खायें। कितना खा लेंगे! मुझसे अपनी जान नहीं सम्भाली जाती, अब ताले कौन लगाये? यह मथरा सात रोटियाँ सवेरे और सात रोटियाँ गिनकर शाम को खाता है। बीच में इसे दो बार चाय भी चाहिए, और घर में जो मिठाई हो, वह भी इसे दो। पर मैं कहती हूँ, टिका हुआ तो है, आज किसी नौकर का भरोसा थोड़े ही है। किसी वक्त भी उठकर कह देते हैं—मैं जा रहा हूँ।

ये भी मुझे यही कहते हैं, कुत्ते के मुँह में हड्डी दिये रहो, तो नहीं भूकेगा। सत्तर रुपये पर इसे रखा था, अब सौ लेता है। फिर भी इसके तेवर चढ़े रहते हैं। पर जग्गा बड़ा नेक आदमी था। बड़ा नमक हलाल। वह नौकर थोड़े ही था, वह तो घर का आदमी था। वह इन्हें बहुत मानता था। एक बार ये कुछ कह दें, तो मजाल है, वह पूरा न करे। बड़ा वफादार था। ये भी तो नौकर को नौकर नहीं समझते। घर का आदमी समझते हैं। जब कभी सौ-पचास की उसे जरूरत होती, झट से निकालकर दे देते। कहीं कोई लिखत नहीं, कोई हिसाब नहीं।

जग्गा बीवी ब्याह कर लाया, तो दो जोड़े और एक गर्म कोट सिलवाकर दिया। मैं इनसे कहूँ—जी, क्यों पैसे लुटाते हो। नौकर किसी के अपने नहीं होते। इसी को पाँच रुपये कहीं से ज्यादा मिल गये, तो यह पीठ फेर लेगा। ये कहते, तू

अपना काम देख, पानी निकालने से कुएँ खाली नहीं होते। यह हमें साग-मीट खिलाता रहे, मुझसे जो माँगेगा, दूंगा। इस जैसा बावर्ची तो शहर भर में नहीं होगा।

मुझे वह दिन याद है, जब जग्गे को लेकर आये थे। बाहर से ही आवाज लगायी, ले सुमित्रा, तेरे लिए नौकर ले आया हूँ। तब भी ये मुझसे कहें, इसे चाय के साथ खाने के लिए जरूर कुछ दे दिया कर। एक मठरी ज्यादा दे देने से तेरा नुक्सान नहीं होगा। इसे घर से मोह पड़ गया, तो वर्षों तक तेरे साथ बना रहेगा। तेरा सारा काम कर दिया करेगा।

और जग्गा भी ऐसा, जैसे जंगल से हिरन पकड़ लाये हों। बड़ी-बड़ी उसकी आँखें, हिरन की तरह हैरान-सा देखता रहता। वही बात हुई। जग्गे को मोह हो गया। पर यह छोटी उम्र में होता है। बड़े-बड़े मुस्टण्डे नौकर, जो सड़कों पर घूमते हैं, इन्हें क्या मोह होगा। बच्चे कोमल होते हैं, जैसा सिखाओ, सीख जाते हैं। जानवर सीख जाते हैं, तो ये क्यों न सीखेंगे? इन्हें बस में करने के बड़े ढंग आते हैं।

तुम्हें जैकी याद है ना? हाय, तुम्हें जैकी भूल गया है? जैकी कुत्ता, जिसे ये एक दोस्त के घर से उठा लाये थे। सभी को भूँकता फिरता था। पर इन्होंने उसे ऐसा हाथ में किया, इन्हीं के कदमों में चक्कर काटता फिरता था। उसे भी ऐसा ही मोह पड़ गया था। इनके साथ। मैं तुम्हें क्या बताऊँ। दफ्तर से इनके लौटने का वक्त होता, तो जैकी के कान खड़े हो जाते। बाहर सारा वक्त दसियों मोटरें दौड़ती रहती हैं, पर जिस वक्त इनकी मोटर आती, तो इसे झट से पता चल जाता और भागकर बाहर पहुँच जाता। सीधा गेट पर जा पहुँचता। वहीं पर एक दिन अपनी ही गाड़ी के नीचे कुचला गया। यह मोह बहुत बुरी चीज है।

ये काँटे कहाँ से बनवाये हैं? बड़े खूबसूरत हैं। हीरे कितने के आये? सुच्चे हैं ना? आजकल हर चीज को आग लगी हुई है। मैंने यह नाक की लौंग बनवायी, इतना छोटा-सा हीरा इसमें लगा है, पर पूरे सात सौ खुल गये। अब तो मुझे पहनते भी डर लगता है, जब जग्गा था, तो मेरी जेवरों की पिटारी भी बाहर पड़ी रहती थी। कभी दो पैसे भी इधर-उधर नहीं हुए। मैं ऐसी भुलक्कड़ हूँ, कभी चेन गुसलखाने में रह जाती, कभी तिपाई पर रह जाती, जग्गा उठाकर दे देता। पर अब तो ऐसे नौकर आये हैं, हरे राम, मैंने सारे जेवर उठाकर बैंक में रख दिये हैं।

मथरा से पहले एक नौकर था, मंसा नाम का। ऊपर से बड़ा शरीफ। लगता, उसके मुँह में जबान ही नहीं है। पर एक दिन मैं पिछवाड़े की तरफ से घर आ रही थी, तो क्या देखती हूँ, मंसा छत पर खड़ा है और गली में खड़े आदमी को ऊपर से एक-एक कर के कपड़े फेंक रहा है, मुझे देखते ही दोनों चम्पत हो गये। मंसा गली में कूद गया और वहीं से भाग गया। आजकल नौकर रखने का जमाना नहीं है। मैं तो घर के बाहर भी जाऊँ, तो डर लगा रहता है कि पीछे नौकर कहीं

घर की सफाई ही न कर जायें। जग्गा था, तो मुझे भी कोई चिन्ता नहीं होती थी। वह हाथ का बड़ा साफ था।

तू कुछ खा भी ना। तू तो कुछ भी नहीं खाती। गर्म चाय मँगवाऊँ ? इसे छोड़ दे, यह ठण्डी पड़ गयी होगी, यह केक का टुकड़ा ले। बाजारी है पर बहुत अच्छा है। केक तो बनाती है, कमला की सास, एक-से-एक बढ़िया। कभी उनमें चाकलेट डालती है, कभी कुछ, कभी कुछ। 'वेंगर' से लेने जाओ, तो जो केक मुए अठारह रुपये में बेचते हैं, कमला की सास पाँच रुपये में बना लेती है। बीच में अण्डे भी, दूध-चीनी भी, किशमिश और बादाम भी, जाने क्या-क्या। मुझसे अपनी जान नहीं सम्भाली जाती, मैं क्या करूँगी। केक जग्गा भी बहुत अच्छे बनाता था। पर उसकी किस्मत खोटी थी, नहीं तो आज तुम्हें उसी के हाथ का बना केक खिलाती। हर तीसरे-चौथे दिन केक बनाता था, पर खुद कभी नहीं खाता था। मैं उससे कहूँ—तू भी एक टुकड़ा खाले, पर नहीं। वह कहता, बीवी जी, यहाँ केक खाऊँगा, तो बाहर मुझे केक कौन देगा ?

किसे मालूम था कि यों चला जायेगा। मैं तो अब भी कहती हूँ, बक देता, तो बच जाता। पर अपनी-अपनी किस्मत है, कोई क्या करे ! इनके सामने उसने मुँह ही नहीं खोला। इन्हें बहुत मानता था। बोला इसलिए नहीं कि इनके दिल को ठेस पहुँचेगी। और क्या बात हो सकती थी ? अब अन्दर की बात इन्हें क्या मालूम ? वह बताये, तो पता चले। वह तो मैं जानती थी। उसके मन में क्या था, उसने हवा तक नहीं लगने दी।

धीरे बोल····दोपहर के वक्त किसी को क्या मालूम, सोया आदमी तो मोये बराबर होता है, हमारे घर में तो उस वक्त चिड़ी नहीं फड़कती। किसी को क्या खबर, घर के पिछवाड़े में क्या हो रहा है ? मुझसे अपनी जान नहीं सम्भाली जाती। भगवान झूठ न बुलवाये, एक दिन दोपहर को मैं उठी, गुसलखाने की तरफ जा रही थी, जब मुझे खटका-सा हुआ। मुझे लगा, जैसे कोई जग्गे की कोठरी की तरफ जा रहा है मुझे क्या खबर, कौन है, कौन नहीं है। फिर भी मेरे अन्दर से फुरनी फुरी —इस वक्त यहाँ कौन हो सकता है ? जग्गे को तो इस वक्त ये अपने दफ्तर में बुला लेते हैं। जग्गा तो इस वक्त दफ्तर में काम करता है, इनके लिए चाय-पानी बनाता है, चपरासगिरी करता है। ये कहते थे कि घर के लिए कोई दूसरा नौकर मिल जाये, तो जग्गे को मैं दफ्तर में रख लूंगा, फिर इस वक्त यहाँ कौन हो सकता है ?

मैंने खिड़की में से झाँककर देखा। हाय, यह तो बिक्की है, मेरा देवर। काला सूट पहने, दबे पाँव चला जा रहा था, और सीधा जग्गे की कोठरी के अन्दर चला गया। मेरा दिल धक्क से रह गया। हाय मना, यह जग्गे की कोठरी में क्या करने गया है ? फिर मैंने सोचा, किसी काम से आया होगा। पर जग्गे की कोठरी में उसका क्या काम ? और यह इतना दबे पाँव क्यों जा रहा है ? मन में आया, इसी से जाकर पूछूँ। पर मुझसे मेरी जान नहीं सम्भाली जाती। मैं लौटकर फिर

पलंग पर पड़ रही, पर ध्यान मेरा बार-बार उसी ओर जाये। भलामानस घरों में ऐसे काम नहीं करते। जो ऐसे काम करने हैं, तो शादी क्यों नहीं कर लेता? किसी का घर क्यों खराब करता है?

तुमने जग्गे की घरवाली देखी थी ना? बड़ी भोली-सी लड़की थी, गोरी इतनी, हाथ लगाये मैली होती थी। यह कलमुँहा किसी बहाने दफ्तर से भाग आता था और उसकी कोठरी में जा घुसता था। उस दिन मेरी नजर पड़ गयी। असील-सी गाँव की लड़की, सहमी-सहमी-सी, इस चंट के आगे क्या बोलती?

धीरे बोल····इनके घर में बदचलनी बहुत है। ये ही एक शरीफ हैं, इनके चाचा ने भी दो-दो रखैल रखी हुई थीं, इनकी चाची, बुढ़िया, दोपहर को अपने एक नौकर से पाँव दबवाती थी। मैंने खुद देखा है, खाना खाने के बाद अपने कमरे में घुस जाती और पीछे-पीछे मुस्टण्डा शंकर पहुँच जाता।

अब ऐसी बातें छिपी तो नहीं रह सकती ना। एक दिन जग्गे ने ही देख लिया। इन्होंने थर्मस मंगवाने के लिए जग्गे को घर पर भेजा। मैंने उसे थर्मस दी और वह अपनी कोठरी की तरफ चला गया। अचानक मैंने खिड़की के बाहर झाँककर देखा। बिक्की, वही काला सूट पहने, जग्गे की कोठरी में से बाहर निकल रहा था। 'बिक्की बाबू····!' जग्गे ने कहा। फिर उसका मुँह जैसे बन्द हो गया। फटी-फटी आँखों से उसे देखता रह गया। उधर बिक्की, बिना उसकी ओर देखे, चुपचाप वहाँ से निकल गया। मेरा दिल धक्-धक् करने लगा। मैंने कहा, अब इसकी घरवाली की खैर नहीं। यह उसे धुन देगा। क्या मालूम, जान से ही मार डाले। इन लोगों का कुछ पता थोड़े ही लगता है, पर कोठरी के अन्दर से न हूँ, न हाँ।

मैं नहीं जानती, जग्गा कितनी देर तक अन्दर रहा। उसने अपनी बीवी से कुछ कहा, या नहीं कहा। मैं तो जाकर लेट गयी, पर मैंने मन-ही-मन कहा कि आज रात मैं इनसे बात करूँगी। या तो जग्गे को चलता करें, या उससे कहें कि अपनी घरवाली को गाँव छोड़ आये। यहाँ इसका रहना ठीक नहीं।

लेटे-लेटे भी मेरे कान कोठरी की ओर लगे रहे। अभी वहाँ से रोने-चिल्लाने, पीटने-रोने की आवाज आयेगी। पर वहाँ बिल्कुल चुप! मैंने मन-ही-मन कहा, ऐसा शरीफ आदमी भी किस काम का, जो अपनी घरवाली को काबू में नहीं रख सकता। दो लप्पड़ उसके मुँह पर लगाता, वह अपने आप सीधे रास्ते पर आ जाती। दस तरीके हैं, औरत को सीधे रास्ते पर लाने के। पर यहाँ न हूँ, न हाँ।

पलंग पर लेटे-लेटे ही मुझे ऐसी घबराहट हुई, कि मुझे बाथरूप जाने की हाजत हो आयी। मुझे मुई कब्जी भी तो रहती है ना। रोज रात को ईसबगोल की भूसी दूध में डालकर लेती हूँ, तब जाकर सुबह पेट साफ होता है। कभी-कभी तो जान इतनी घबराती है कि क्या बताऊँ। एक बार पूरे पाँच दिन तक कब्ज रही। ये मजाक करते थे। कहते थे कि अब बाथरूम जाओगी, तो बाथरूम साफ करना मुश्किल हो जायेगा। हाय, अब तो हँसा भी नहीं जाता। हँसती हूँ, तो सांस फूलने

लगती है। मुझे बवासीर की शिकायत भी तो रहती है ना। यहाँ एक मुसीबत थोड़े है। एक नहीं, बीस दवाइयाँ खा चुकी हूँ।

डॉक्टर कहता है, चला-फिरा करो। अब इस शरीर के साथ कौन चल-फिर सकता है ? थोड़ा-सा भी चलूँ, तो सांस फूलने लगती है। डॉक्टर कहता है, मिठाई मत खाया करो, पर मुझसे हाथ रोका ही नहीं जाता। घर में दो-तीन डिब्बे मिठाई के हर वक्त मौजूद रहते हैं, पर बर्फी का टुकड़ा मुँह में डालने की देर है कि पेट में गुड़-गुड़ होने लगती है। डॉक्टर मुआ बार-बार कहता है, मिठाई खाना छोड़ दो। पर एक टुकड़ा भी मुँह में न डालूँ, तो फिर जंगलों में जा बैठूँ, दुनिया से फिर क्या लेना है ? मैं डॉक्टर से कहती हूं, डॉक्टर जी मुझे बैठे-बैठे ही ठीक कर दो। न मेरी मिठाई बन्द करो, न मुझे घूमने को कहो। अगर मुझे सैर कर के ही दुरुस्त होना है, तो मुझे तुम्हारी क्या जरूरत है ? जब आते हो, पच्चास-पच्चास रुपये ले जाते हो। हम तुम्हें इतने पैसे भी दें, फिर भी तुम ठीक नहीं कर सको, तो फिर फीस किस बात की लेते हो ? हम पांडी-मजूर थोड़े हैं कि घूमते फिरें।

मैंने डाँट कर कहा, तो डॉक्टर अपने आप सीधा हो गया। कहने लगा, कोई बात नहीं, खाना खाने के बाद दो बड़े चम्मच इस दवाई के पी लिया करो। मैंने कहा, अब आया ना सीधे रास्ते पर ! अब दो चम्मच रोज पी लेती हूँ। डकार आनी तो बन्द हो गयी है, पर कोई बात इधर-उधर की हो जाये और मन घबराने लगे, तो बाथरूम की हाजत होने लगती है।

उस दिन क्लब में गयी, तो हरचरन की बीवी औरतों पर बड़ा रोआब गाँठ रही थी। कह रही थी, मैं सात गोलियाँ रोज खाती हूँ। मैंने सुना, पर चुप रही, मैंने कहा, यह भी कोई ऐंठने की बात है ? भगवान अहंकार न बुलवाये, पंद्रह-पंद्रह गोलियाँ भी रोज खायी हैं, पर बाहर जाकर ढिंढोरा नहीं पीटा कि दवाई की पंद्रह गोलियाँ रोज खाते हैं। डॉक्टर घर का पक्का रखा हुआ है, तीन सौ रुपया बंधा-बंधाया उसे हर महीने देते हैं, घर में कोई बीमार हो या नहीं हो, अभी भी खाने वाले मेज पर जाकर देखो, कुछ नहीं तो दस दवाइयों की शीशियाँ वहाँ पर रखी होंगी, कुछ ताकत की गोलियाँ, कुछ हाजमे की, और तरह-तरह की। जग्गे को सब मालूम था कि कौन सी गोली मुझे किस वक्त चाहिए। अपने आप लाकर दे दिया करता था। वह गया, तो दवाइयों का सारा सिलसिला ही खराब हो गया। ····तुम कुछ लो ना, तुम तो कुछ भी नहीं खा रही हो।

उस दिन जी शाम को ये घर आये, तो आते ही कहने लगे—कहाँ है जग्गा ? उससे कहो, पाँच आदमी रात को खाना खाने आयेंगे, बढ़िया तरकारियाँ बनाये और साग-मीट बनाये। जग्गा आया, तो गुमसुम इनके सामने आकर खड़ा हो गया। चेहरा ऐसा पीला, जैसा मुर्दे का होता है। इन्होंने बड़े लाड़ से पूछा—क्यों जग्गे क्या बात है, इतना चुप क्यों है ? क्या गाँव से कोई बुरी खबर आयी है ? पर जग्गा चुप, न हूँ न हाँ। इन्हें कहता भी तो क्या ? इनसे कैसे कहता कि आपका

भाई मेरी घरवाली से मुँह काला कर रहा है। कोई गैरत भी तो होती है। इनके आगे तो वह आँख उठाकर भी नहीं देखता था। पर इनकी तबीयत को तो तुम जानती हो, बिगड़ जायें, तो सख्त बिगड़ते हैं, आगा-पीछा नहीं देखते। और तो और मुझे भी नौकरों के सामने बेइज्जत कर देते हैं।

जब जग्गा कुछ नहीं बोला, तो इन्हें गुस्सा आ गया। जग्गा पत्थर की मूरत बना खड़ा था। जाने उसके मन में क्या था। बोल देता, तो अपने दिल का गुबार तो निकाल लेता। मगर वह चुप !

ये उसे डाँटने लगे, तो मैंने रोक दिया। मैंने कहा, जी मेहमान आने वाले हैं, अभी सारा काम पड़ा है, जा जग्गा, तू रसोईघर में चल। वह उसी तरह गुमसुम रसोईघर में चला गया। थोड़ी देर बाद मैं रसोईघर में गयी कि खाने-वाने का देखूँ, तो यह वैसे का वैसा गुमसुम खड़ा था। रसोईघर के बीचो बीच, पत्थर की मूरत बना हुआ। मैंने कहा, इसकी बुद्धि पथरा गयी है, यह कोई काम नहीं कर पायेगा। मैं उन्हीं कदमों लौट आयी। मैंने इनसे कहा, जी, इसे तो कुछ हो गया है। यह बोलता नहीं, मुझे तो डर लगता है। तुम बाहर से खाना मंगवा लो, और इसे आज के दिन छुट्टी दे दो।

मैंने इनसे कहा, तो ये खुद उठकर रसोईघर की तरफ चले गये। और बजाय उसे छुट्टी देने के, उसे फटकारने लगे। मैं थर-थर काँपने लगी। क्या मालूम, जग्गे ने कोई छुरा नेफे में छिपा रखा हो। इन लोगों का क्या भरोसा ? 'बदजात बोलता क्यों नहीं ?' ये ऐसे चिल्लाये, जैसा मैंने इन्हें कभी चिल्लाते नहीं सुना। मेरा तो ऊपर का सांस ऊपर और नीचे का नीचे। मैं करूं तो क्या करूं ? मैं भाग कर इनके पास गयी। मैंने सोचा, इन्हें खींच कर बाहर ले आऊंगी, पर इन्होंने मेरा हाथ झटक दिया। 'कमीने मैं बार-बार पूछ रहा हूँ, बता क्या बात है, और तू बोलता तक नहीं। तेरी जबान घिसती है, मुझे जवाब देने में ? निकल जा यहाँ से, अभी चला जा, मेरी आँखों से दूर हो जा।' और जग्गे को कान से पकड़ कर रसोईघर के बाहर ले आये। मैं इन्हें समझाने लगी, कुछ न कहो जी, घण्टे दो घण्टे में मेहमान आने वाले हैं, और अभी तक कुछ भी नहीं बना। यह चला जायेगा, तो खाना कौन बनायेगा। जा जग्गा, जा, तू रसोईघर में जा। और मैं इन्हें जैसे-तैसे खींच लायी।

रात को जब मेहमान चले गये····हाँ जी, बनाया जग्गे ने, सारा खाना बनाया। बड़ा अच्छा खाना बनाया, पर रहा गुमसुम, मुँह से एक लफ्ज नहीं बोला। खाना खाते-खाते इनका दिल भी पसीज गया। मेहमानों के सामने ही उससे कहने लगे—'जग्गे ! जा तेरी दस रुपये तरक्की ! रायसाहब कहते हैं, साग-मीट बहुत अच्छा बना है, शाबाश ! जा तेरा कसूर माफ किया।' ये देने पर आयें, तो मुँह-माँगी मुराद पूरी करते हैं। इनका दिल तो समन्दर है।

रात को मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा, जी, बिक्की बड़ा हो गया है, अब

इसकी शादी की फिक्र करो। तो कहने लगे—'तुम्हें इसकी शादी की क्या पड़ी है, अभी इसकी उम्र ही क्या है, अभी तो इसके मुँह पर से दूध भी नहीं सूखा।' मैंने कहा, जी, शादी नहीं करोगे तो खूंटा तुड़ाये सांड की तरह जगह-जगह मुँह मारेगा। मैंने गोल-मोल शब्दों में कहा। पर बिक्की से उन्हें बहुत प्यार है, इसे अपने बच्चों की तरह इन्होंने पाला है। उसकी बुराई ये नहीं सुन सकते। मैंने फिर से उसकी शादी की बात चलायी, तो कहने लगे—'मार ले जितना मुँह मारता है, अभी उसकी उम्र ही क्या है, दो दिन हंस-खेल ले, व्याह के बन्धन में तो एक दिन बँध ही जायेगा।'

मैंने कहा, जी, जवान लड़का है, गलत रास्ते पर भी पड़ सकता है। इसका तो जितनी जल्दी हो, व्याह कर दो। इस पर कहने लगे—'अभी तो इसने पढ़ाई भी पूरी नहीं की। कुछ नहीं तो तीस-चालीस हजार इसकी पढ़ाई पर खर्च कर चुका हूँ। इसकी शादी करूँ, तो कम-से-कम यह रकम तो वसूल हो। और अभी इसने बी० ए० पास भी नहीं किया।'

मर्द लोग बड़े समझदार होते हैं, इन्हें तो दस बातों का ध्यान रहता है। अब मैं और आगे क्या कहती, मैंने इतना भर कहा, आप इसके कान खींचते रहा कीजिए, जवानी बड़ी मस्तानी होती है। इस पर ये बिगड़ उठे—तुम्हें कुछ मालूम है क्या? बोलती क्यों नहीं हो?' ये इतनी रुखाई से बोले कि मैं चुप हो गयी। मैंने सोचा, फिर कभी मौका मिलेगा, तो बात करूँगी, इन्हें आराम से समझाऊँगी, पर मुझे क्या मालूम था कि दूसरे ही दिन गुल खिलने वाला है।

दूसरे दिन सुबह, यही आठ साढ़े आठ का वक्त होगा, मैं पिछले बरामदे में बैठी बाल सुखा रही थी। वहाँ धूप अच्छी पड़ती है। मैंने सोचा, बाल सूख जायें, तो उन्हें काला करूँ। जग्गे की घरवाली बड़े सँवार कर मेरे बाल बनाती थी। मैंने सोचा, बाल सूख जायें, तो उसे बुला लूँगी। यही आठ साढ़े आठ का वक्त होगा। उसी वक्त फ्रन्टियर मेल आती है। घर के पिछवाड़े थोड़ी दूर पर ही तो रेलवे लाइन है। अगर गाड़ियों को सिगनल नहीं मिले, तो यहीं पर रुक जाती हैं, फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं। पर फ्रन्टियर मेल यहाँ नहीं रुकती। वही एक गाड़ी है, जो यहाँ खड़ी नहीं होती।

जग्गे ने पहले से ही सब कुछ सोच रखा होगा। उधर से गाड़ी आयी, तो जग्गा अपनी कोठरी में से निकला। मैंने कहा, जग्गे सुरस्तां को मेरे पास भेज दे। पर मुझे लगा, जैसे उसने सुना ही नहीं। वह भाग कर पिछवाड़े की दीवार फांद गया और रेलवे लाइन की ढलान चढ़ने लगा। यह सब पलक मारते हो गया। उसने मुड़कर पीछे देखा ही नहीं, मेरी भी अक्कल मारी गयी, मुझे सूझा ही नहीं कि वह क्यों भागा जा रहा है। मैंने सोचा, किसी काम से जा रहा होगा। गाड़ी का तो मुझे खयाल ही नहीं आया। वरना मैं उसे रोक नहीं देती? ढलान चढ़ने के बाद मैंने नहीं देखा कि वह कहाँ गया है, किस तरह गया है!

झूठ क्यों बोलूँ, शाम का वक्त है। बस, फिर मुझे नजर नहीं आया। मुझे तो खटका तब भी नहीं हुआ, जब गाड़ी धम-धम करती आयी और कुछ ही देर बाद पहिये घसीटती रुक गयी। पहिये घिसटने की आवाज आती है ना, जैसे किसी ने चेन खींची हो। पर मैंने खयाल नहीं किया, यहाँ रोज गाड़ियाँ रुकती हैं। मैंने सोचा, किसी ने चेन खींची होगी। थोड़ी देर में माली भागा-भागा आया। कहने लगा, कोई हादसा हो गया है, और वह भी पिछवाड़े की दीवार फांद कर ढलान चढ़ने लगा। मुझे फिर भी शक नहीं हुआ। थोड़ी देर बाद पड़ोस वाले नौकर ने चिल्लाकर कहा—'जग्गा मारा गया है। जग्गा गाड़ी के नीचे कुचला गया है।'

मेरा दिल बुरी तरह से धक्-धक् करने लगा। उसके साथ उंस थी ना। वह तो जैसे घर का आदमी था, कोई पराया थोड़े ही था। ये तो उसके साथ बेटे जैसा सुलूक करते थे। वह भी इन्हें बाप की तरह मानता था। यही चीज उसे अन्दर-ही-अन्दर खा गयी। मैं तो अब भी कहती हूँ, अगर जग्गा बोल पड़ता, तो बच जाता। ये जरूर कोई-न-कोई रास्ता ढूँढ़ निकालते। ये सब तरकीबें जानते हैं। बड़े समझदार हैं। पर वह बोला ही नहीं।

वह दिन तो ऐसा बुरा बीता, ऐसा बुरा कि तुम्हें क्या बताऊँ। बार-बार टेलिफोनें आयें, तीन बार तो पुलिस का इंस्पेक्टर आया। बार-बार इन्हें बुलाता, बार-बार कोठरी में झांक कर देखता। अन्दर बैठी थी, वह कुलच्छणी! मौका देखने के बहाने इंस्पेक्टर बार-बार अन्दर जाये। मर्द तो भेड़िये की तरह औरत को घूरते हैं ना। और वह अन्दर बेहोश पड़ी थी। उसे बार-बार गश आ रहे थे। अब मैं किस काम की! मुझसे अपनी जान नहीं सम्भाली जाती। दो-एक बार मन में आया भी कि जाऊँ, सुरस्तां को देख आऊँ। पर इन्होंने मना कर दिया। ये कहने लगे, फौजदारी का मामला है, इससे दूर ही रहो। जब तक पुलिस अपनी कार्रवाई न कर ले, कोठरी में कदम नहीं रखना। मर्द समझदार होते हैं ना, उन्होंने दुनिया देखी होती है। पुलिस ने इनसे पूछा, तो इन्होंने कहा, वह पिछले दिन से ही पगलाया-पगलाया-सा लग रहा था। मियाँ-बीवी की आपस में कोई बात हुई हो, तो हम नहीं जानते। नौकरों की अन्दर की बातों से मालिकों का क्या काम? एक बार अन्दर आये, तो मैंने इनसे कहा, जी, तुम बिक्की को कहीं बाहर भेज दो। मैं कहूँ, इन्हें मालूम नहीं, पर आस-पास के किसी आदमी को मालूम हुआ, तो बखेड़ा उठ खड़ा होगा। पर इन्होंने समझदारी की। बिक्की को बाहर नहीं भेजा। मर्द लोग समझदार होते हैं, बिक्की लापता हो जाता, तो पुलिस को शक पड़ सकता था, ना।

एक मठरी और लो! लो ना! तुमने तो कुछ खाया ही नहीं। खाओगी तो सेहत बनी रहेगी, बस मुटियाना नहीं। मेरी तरह मोटी नहीं होना, मोटी देह किस काम की। तुम आ गयीं, तो घण्टा, आध घण्टा, मन बहल गया। कभी-कभी आ जाया करो ना। तुम दूर तो नहीं रहती हो। कहो तो मोटर भेज दिया करूँ?

अकेले में तो घर भांय-भांय करता है। ये तो दफ्तर से आते हैं, तो सीधे ब्रिज खेलने चले जाते हैं। जब तक तीन-चार घण्टे ब्रिज न खेल लें, इन्हें चैन नहीं मिलता। यह ताश तो मेरी ऐसी सौंकन आयी है, इस घर में जब से ब्याही आयी हूँ, यह मेरा पीछा नहीं छोड़ती। रोज शाम को इन्हें उड़ा ले जाती है। हाय, अब तो हँस भी नहीं सकती हूँ। हँसती हूँ, तो सांस फूलने लगता है। छाती में शां-शां होती है। मैं इनसे कहूँ, तुम ताश बहुत न खेला करो जी। अपनी सेहत का भी कुछ खयाल किया करो। जानती हो, क्या कहते हैं? कहने लगे, इसी ताश के तुफैल ही तो मेरे दस काम संवरते हैं। पुलिस का बड़ा अफसर ताश का साथी था, तभी जग्गे वाला मामला रफा-दफा हो गया, वरना घर में से कोई खुदकुशी करे, तो पुलिस वाले क्या घरवालों को परेशान नहीं करेंगे? मैंने कहा, ठीक है, मर्द लोग जानें, हम क्या जानें। बस, वही दिन हमारा बुरा गुजरा। इनको दिन के वक्त सोने की आदत है, थोड़ा सो न लें, तो बदन भारी-भारी महसूस करने लगता है, पर कोई सोने दे तो! उस दिन वह भी नहीं हुआ। सोने के लिए लेटे, तो कभी टेलिफोन की घण्टी बजने लगे, तो कभी कोई सरकारी आदमी आ जाये। पर दूसरे दिन से चैन हो गया। फिर कोई नहीं आया।

जब मामला रफा-दफा हो गया, तो एक दिन मैंने बिक्की की सारी करतूत इन्हें बता दी। ये कहने लगे—मुझे तो पहले दिन से मालूम था। मैं हक्की-बक्की इनके मुँह की ओर देखने लगी। जवानी में सभी बेवकूफियाँ करते हैं, इसने कर ली, तो क्या हुआ। मैंने कहा—जी, बिक्की को समझा तो दिया होता। कहने लगे, कोई बेसवा के पास तो नहीं गया, कोई बीमारी तो नहीं ले आया, हो गयी बात जो होनी थी, आगे के लिए इसे खुद कान हो जायेंगे। मैंने कहा, जी, पर बात तो अच्छी नहीं ना, ऐसा बिक्की को करना तो नहीं चाहिए था ना। बिक्की ने ऐसा नहीं किया होता, तो जग्गा जान पर तो नहीं खेल जाता ना। तो कहने लगे, तुम क्या चाहती हो, भाई को पुलिस में दे देता? पर जी, उसने जुर्म तो बहुत बड़ा किया है, ना। ये और भी बिगड़ उठे। उसका जुर्म देखता, या उसकी जान बचाता? तुम क्या चाहती हो, उसे काल कोठरी में भिजवा देता?

फिर थोड़ी देर बाद धीमे से बोले, मुझे समझाने लगे, औव्वल तो कौन जाने बिक्की अपने आप अन्दर गया था, या जग्गे की घरवाली उसे इशारे करती रही थी। ताली एक हाथ से तो नहीं बजती। औरत बढ़ावा देती हैं, तभी मर्द बहकता है। लड़की इशारा भी कर दे, तो आदमी बौरा जाता है, कोठरी के बाहर पर्दा लगा रहता है। क्या मालूम पर्दे की ओट में उसे इशारे करती रही हो। औरत खुद न चाहती, तो क्या मजाल थी कि बिक्की उसके कमरे में जाता। ऐसे ही कोई किसी के कमरे में घुस जाता है? इतनी ही शरीफजादी थी, तो अन्दर से कमरा बन्द करके क्यों नहीं बैठती थी? अन्दर से साँकल लगा कर बैठती। तेरा मर्द बाहर काम पर गया है, तू कोठरी में अकेली है, तू अन्दर से कोठरी बन्द करके

बैठ। दरवाजा खोलकर बैठने का तेरा क्या मतलब है ? दिन के वक्त तेरे पास आ सकती थी। उसे किसी ने मना किया था ?

मैं सुनती रही, मैं भी सोचूँ, किसी के दिल की कौन जानता है, लड़की के दिल में चोर था, या बिक्की के दिल में, भगवान जाने।

आखिर में जी, इन्होंने सारा मामला सम्भाल लिया, इनसे सब सन्तुष्ट हो गये। इन्हें भगवान ने ऐसी समझदारी दी है, इनकी कोई कसम तक नहीं खाता। सभी इनके सामने हाथ जोड़ते हैं। ये जल्दी घबरा नहीं जाते ना, यही इनकी सबसे बड़ी खूबी है। कोई दूसरा होता, तो घबरा जाता। जग्गे का भाई गाँव से आया, बहुत रोया-धोया, उसे इन्होंने दो सौ रुपये निकाल कर दे दिये। जग्गे की घरवाली का बाप आया। उसे भी इन्होंने पैसे दिये। मैंने इनसे कहा, जी, मामला रफा-दफा हो गया है, अब ये हमारे क्या लगते हैं, तुम पैसे लुटा रहे हो; पर नहीं। ये कहने लगे, जग्गे ने दस साल तक हमारी सेवा की है। इसे हम कैसे भूल सकते हैं। कहने लगे, सौ-पच्चास दे दो, तो गरीब का मुँह बन्द हो जाता है। ये सबका भला सोचते हैं, किसी का बुरा नहीं सोचते। हर किसी की मदद ही करेंगे।

यह जरा घण्टी तो बजाना। मुए जानते भी हैं, रात पड़ गयी है, मगर मजाल है, जो अपने आप आकर बत्ती जलायें। बार-बार घण्टी बजानी पड़ती है। कानों में तेल डाले पड़े रहते हैं। अब आयी हो, तो खाना खाकर जाना। ये जाने कब लौटेगें। कभी दस बजे आते हैं, कभी खाना खाकर आते हैं। मैं दिन भर अकेली बैठी कौव्वे उड़ाती रहती हूँ। अब खाना खाये बिना तो मैं तुम्हें जाने ही नहीं दूँगी। तुम आ गयी, तो घड़ी भर दिल बहल गया। हमने अपनी बातें तो अभी तक की ही नहीं, दोनों बैठी बातें करेंगी। तुमने साग-मीट का पूछा तो बीच में मुए जग्गे की बात चल पड़ी। मैं तुम्हें खाना खाये बिना तो नहीं जाने दूँगी····

[धर्मयुग, 31 अक्तूबर 1976]

मधुकर गंगाधर

अंतराल

वे दोनों आमने-सामने थे । बीच में एक टेबल थी—कांच से ढकी । बासी फूलों का एक गुलदस्ता टेबल पर बेतरतीबी से रखा था । कमरे में मोटे-गहरे हरे पर्दे थे । पूरे कमरे में सूनापन और उदासी भरी थी ।

नौजवान ने, जो उत्तर की ओर बैठा था, बड़े ही दार्शनिक ढंग से कहा—इस कमरे में यद्यपि उदासी और सूनापन भरा है, फिर भी लगता है, आपके मन में गुलाब की कलियाँ चटक रही हैं । जैसे किसी मीठे सपनों की प्रतीक्षा की जा रही हो !

उस प्रौढ़ ने, जो नौजवान के आमने-सामने बैठा था, आँखें उठाकर नौजवान को देखा । अधरों में जरा-सा मुसकराया और व्यंग्य-भरे लहजे में बोला—तुम कब आये ?

—मैं ?

—हाँ ।

—मेरा एक प्रश्न था ?

—बचकाना ।

—उसे आप प्रौढ़ सन्दर्भ दे सकते हैं । प्रश्नों की उम्र नहीं होती ।

—मगर तुमने जो प्रश्न किया है, उसकी उम्र है । ठीक तुम्हारी जितनी । चेहरे पर लाली, आँखों में उमंग····

—महाशय, मैंने जब प्रश्न किया था, तब आपकी आँखों और चेहरे की वही स्थिति थी । आपके ईर्द-गिर्द सपने तैर रहे हैं !

—बहुत खूब ! तुम्हारी आँखें बड़ी पैनी हैं !

—क्या मैंने झूठ कहा ?

—नहीं ।

—क्या आप प्रेमिका की प्रतीक्षा में बैठे हैं ?

प्रौढ़ व्यक्ति हँस पड़ा, भरी-पूरी हँसी । उसने आसन बदला । जरा सावधान होकर बैठा—तुम्हारा प्रश्न नौजवानी का प्रतीक है । सीधा । सपाट । दो टूक । मैं इसका उत्तर भी दूंगा । लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिसे उत्तर दूंगा, वह

कहाँ तक मुझे ग्रहण कर सकेगा ?

—क्या मतलब ?

—आज की दुनिया की सारी क्राइसिस ग्रहणशीलता की है। आपसी सम्वाद की ग्रहणशीलता समाप्त है। मैं चाहता हूँ कि जो कहूँ, उसे तुम ग्रहण करो।

—करूँगा।

—फिर मैं एक सवाल पूछूँगा।

—आप बड़े सधे हुए हैं—सीजंड, ठण्डे राजनीतिज्ञ। उत्तर देने की बजाय प्रश्न करने लगे।

—यह आवश्यक है।

—फिर पूछिए।

—तुमने कभी प्रेम किया है ? जानते हो, प्रेमिका क्या होती है ?

युवक की उद्दीप्त आँखें बुझती-सी लगीं। वह गम्भीर हो उठा। दूसरी ओर, प्रौढ़ व्यक्ति की उदास आँखों में चमक आ गयी। वह जरा तन कर बैठ गया।

—प्रेम मैंने किया है, नौजवान ने कहा।

—तुमने जो किया है, वह प्रेम ही है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? औरत-मर्दों के आपसी सम्बन्धों को प्रेम ही कहा जाय, यह जरूरी नहीं।

—मैं परिभाषा नहीं जानता। शायद प्रेम की कोई परिभाषा नहीं होती। मजनू ने अपनी कुर्बानी दे दी और आथेलो ने डेस्डिमोना की हत्या कर दी। राधा ने प्रेम के लिए मर्यादा का ख्याल नहीं किया और राम ने मर्यादा की रक्षा के लिए प्रेम को ठुकरा दिया। सभी तो प्रेम था। मैं किसी परिभाषा द्वारा प्रेम को साबित नहीं कर पाऊँगा। किन्तु, इतना जरूर कहूँगा कि मैंने जो किया, वह प्रेम ही था।

—क्या किया तुमने ?

—बतलाता हूँ।

नौजवान जरा और उदास हो गया। उसकी आँखों में अतीत तैरने लगा। वह भर्रायी आवाज में बताने लगा :

—मुझसे उसका परिचय कैसे हुआ, नहीं जानता। सच पूछिए तो हम किसी के भी बारे में नहीं कह सकते कि कब और कैसे परिचय हुआ ? हम जीवन में रोज नये लोगों से मिलते हैं, किन्तु कहाँ परिचित हो पाते हैं ? परिचय एक मानसिक संयोजन है। कब, कहाँ, कैसे होगा, कोई नहीं कह सकता !

—वह दुबली-पतली, भोली-भाली लड़की थी। मेरे मन पर उसकी अजीब किस्म की छवि अंकित है—जाड़े की भोर में किसी कस्बे की एक पुरानी खपड़ैल····छत पर ओस धुली काशीफल लता में पहला फूल—नन्हीं-नन्हीं पीली पत्तियों वाला अर्द्ध-विकसित फूल ! मैंने उसे पहली बार पीले स्वेटर में देखा था···· उसके मकान के बगल में किराये के कमरे में रहता था। उसके भाई से कॉलेज की दोस्ती हुई। मैं परदेश में था। उसके घर पर माँ की ममता और पिता का स्नेह

मिला ।

—फिर ऐसा हुआ कि मैं सपना देखने लगा । अजीबोगरीब सपना । कभी गृहस्थ बनने का सपना, कभी जंगल-बियाबान में भटकने का सपना । फिर ऐसा होने लगा कि मैं अपने को कई रूपों में उभारने लगा—उद्दाम साहसी, दुर्दांत लालसामय, निश्छल, फकीर····

—हम व्याह कर गृहस्थी बसायेंगे और समाज से लड़ेंगे । हम विश्व-विद्यालय की अन्तिम पढ़ाई करेंगे—पी-एच० डी० और लोगों के सामने नजीर रखेंगे । हम गाँव चले जायेंगे अपने को अनाम बनाकर मानव-महासमुद्र में विलीन कर देंगे । हम ऐसी कल्पनाएँ करने लगे, जिनका एक दूसरे से कोई मेल नहीं था ।

—हमने कुछ ऐसे भी क्षण गुजारे जो खतरे की सीमान्त रेखा से भी आगे चलकर गुजारे जा सकते हैं । मसलन एक बार, बरसात की आधी रात, मैंने उससे मिलने की इच्छा की । उसका कमरा घर के पिछवाड़े था । सामने के कमरों में परिवार के अन्य लोग सोते थे और मुख्य-द्वार बन्द रहता था । पीछे की ओर गली थी । पानी बरस रहा था । घोर अन्धकार । आहिस्ते-आहिस्ते पैर रखते हुए बढ़ रहा था । सहसा बगल के पानी में तीव्र हलचल हुई । एक सांप जोर से फुंकार उठा । मेरे पास टार्च नहीं थी । चुपचाप खड़ा रह गया । अन्धेरे में हर ओर सांप ही सांप लग रहे थे । मन में आया कि शायद यह इम्तहान है । पीछे लौटने पर भी तो सांप का खतरा था ही । थोड़ी देर रुक कर मैंने आगे पैर बढ़ाया । पता नहीं, सांप कहाँ चला गया ? मैं उसके कमरे तक पहुँचा ।

—प्रेम एक अवांछित सम्मोहन है । हम नहीं चाहते, किन्तु वहीं जाते हैं, हम नहीं चाहते, किन्तु वही करते हैं । यह एक प्रक्रिया बन जाती है····

—फिर हम लोग एक ऐसे मोड़ पर पहुँचे, जहाँ इनसानियत हमारे इम्तहान को बैठी थी । उस लड़की ने अपने पिता से हमारे प्रेम की चर्चा कर दी । शादी की आज्ञा माँगी । ऐसे अवसरों पर माता-पिता अकसर बौखला उठते हैं । उन्होंने वैसा कुछ नहीं किया । हम दोनों को एक साथ अपने पास बुलाया । प्यार से बैठाया । बड़े ही सहज ढंग से कहा—तुम लोग एक दूसरे को प्यार करते हो और सुखमय जीवन की कामना करते हो । मैं विरोध नहीं करता ! इस लड़के को मैंने अपने बेटे जैसा प्यार दिया है । जैसे एक बाप की जिम्मेदारी होती है, वैसी ही एक बेटे की भी होती है । तुम्हारा भी कुछ कर्त्तव्य होता है । तुम लोगों के व्याह से मैं दफ्तर में काम नहीं कर पाऊँगा । हमारा यह छोटा-सा शहर इस अंतर्जातीय व्याह से बौखला जायेगा । फिर मेरी और लड़कियाँ हैं । वे क्वारी रह जायेंगी । उन बच्चियों को भी पूछ लो । वे क्या चाहती हैं । मैं एक बाप हूँ । कई लोगों की कब्र पर एक महल की स्वीकृति देना क्या सम्भव है ?

वह कमरे से बाहर चले गये । मैंने महसूस किया कि मैं एक अजीब किस्म के दबाव के नीचे आ गया हूँ । अपने महल की नींव में किसी कब्र पर क्यों रखूं ?

प्यार, मेरी नजर में, फूलों की खुशबू है—इसका इस्तेमाल हत्या के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

हम दोनों कई दिनों तक अबाध मिलते रहे। बहसें हुईं। झड़पें हुईं। गम्भीर चुप्पियों से गुजरे। रोये। और, अन्त में हम विदा हो गये—एक दूसरे से सदा के लिए।

नौजवान चुप हो गया। जैसे वह बहुत अधिक थक गया। जैसे कोई तूफान उसके लहू से गुजर गया। उसकी आँखों में अपूर्व ज्योति थी। वह शान्त था····

प्रौढ़ मुसकरा रहा था। उसने सहज ढंग से कहा—ऐसा ही होता है। लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, सेम्पसन-डिलेला की फीडिंग-बोतल उनके पापाओं ने इसी प्रकार गुम करायी थी।

—क्या मतलब ?

—नाबालिगों का प्यार खुशबू होता है, उत्सर्ग होता है, सुगन्ध होता है···· जाने क्या-क्या होता है !

—और बालिगों का प्यार ?

—बालिगों का प्यार अभावों की पूर्ति है।

—यानी आपका प्यार ?

—तुम इसे प्यार ही कहोगे—क्योंकि साहित्य ने आज तक औरत-मर्दों के सम्बन्ध के लिए मात्र एक शब्द गढ़ा है—प्यार।

—आप प्यार नहीं करते क्या ?

प्रौढ़ चुप था। कुटिल मुसकान उसके चेहरे पर थी।

—आप यहाँ क्यों बैठे हैं ?

—मैं जानता हूँ कि तुम्हारे मन में एक धारणा घर कर गयी है।

—क्या मेरी धारणा गलत है ?

—धारणा गलत या सही नहीं होती है। वह निर्मल तरल जल है, जिस पात्र में पड़ती है वैसा ही रंग, उसी का आकार ग्रहण करती है। तुम्हें एक आदमी कबूतर लेकर जाते देखता है कि तुम शान्ति के नाम पर इसे उड़ाने जा रहे हो, दूसरा आदमी देखता है और सोचता है कि कबूतर को घर ले जाकर जिबह करोगे।

—आप क्यों नहीं बताते—यहाँ क्यों बैठे हैं ?

—अब जरूरी हो गया कि मैं तुम्हें बतला दूँ कि क्यों बैठा हूँ। भीतर एक महिला है। स्नान कर रही है। स्नान के बाद शृंगार करेगी। फिर बाहर आयेगी और मेरे साथ घूमने चलेगी।

—वह आपकी प्रेमिका है ?

—प्रेमिका ? भाषा भी अजीब चीज है ? शब्दों की सीमाएँ कितनी सकुंचित हैं ? प्रेमिका शब्द को ही लो। तुम्हारी एक प्रेमिका थी। उसकी भावनाओं का एक नक्शा तुम्हारे दिमाग में है। जिसे तुम मेरी प्रेमिका कह रहे हो, उसकी भावनाओं

का एक दूसरा ही नक्शा मेरे दिमाग में हो सकता है, आसमान और जमीन का फर्क, मगर सम्बोधन का एक ही शब्द !

—क्या फर्क है ?

—फिर तो पूरी दास्तान सुनानी होगी !

—कोई एतराज ?

—नहीं ।

□

प्रौढ़ पल भर चुप रहा । अपने भीतर कुछ जुटाता रहा । फिर धीमे स्वर में बोलने लगा :

—अक्तूबर का महीना था । दार्जिलिंग का माल रोड । आदमियों से खचाखच भरा । हम दोनों गप्पें करते नीचे उतर आये । फिर चण्डीप्रसाद के मन में जाने क्या आया कि बोल उठा—यहाँ बड़ी भीड़ है । चलो, रेस-कोर्स चलें ।

—यह बतला देना जरूरी है कि चण्डीप्रसाद से मेरा क्या ताल्लुक था । वह गोरखपुर के आसपास का रहने वाला था । बचपन में भागकर कलकत्ता आया था—अनाथ । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ठेकेदारी में मालामाल हो गया । आयरन कास्टिंग का बड़ा-सा कारखाना खोल बैठा । कई चाय बागान और कोयले की खानें खरीद बैठा । मुझ से एक ट्रेन-यात्रा में भेंट हुई थी । मैं काफी भटकने के बाद जीविका की खोज में कलकत्ता आया और एक छोटे-से अखबार में नौकरी करने लगा । चण्डीप्रसाद से दूसरी बार गवर्नमेंट हाउस की एक पार्टी में भेंट हुई । फिर मुलाकातें होने लगीं । कई बार होटलों में चाय पिलाने के बाद अपने घर पर बुलाया ।

—चण्डीप्रसाद के घर पहुँच कर मैं अवाक् रह गया । उसकी उम्र लगभग अट्ठावन वर्ष की थी, किन्तु घर पर एक तीस-बत्तीस वर्षीया खूबसूरत पत्नी थी । पूरी तरह शहरी । पत्नी को लिखने-पढ़ने से रुचि थी । चण्डीप्रसाद ने अपनी पत्नी को मुझे लिखने-पढ़ने में सहायता लेने को प्रोत्साहित किया । मैं उसके घर अबाध रूप में जाने लगा ।

—एक अजीब किस्म का त्रिभुज बन गया । चण्डीप्रसाद को मेरी तरह पढ़ा-लिखा, चुपचाप सुनते रहने वाला, एक चमचा चाहिए था । उनकी पत्नी, मध्यमा को मुझमें एक दूसरे प्रकार की सम्भावनाएँ दिखलाई पड़ीं । निरंतर भटकाव से थके हुए मेरे जैसे आदमी को विभवशालिनी मध्यमा में अपनी मंजिल का संकेत मिला ।

—यह त्रिभुज क्रमशः मजबूत होता गया । इसी बीच चण्डीप्रसाद ने दार्जिलिंग घूमने का कार्यक्रम रखा । मुझे भी साथ लिया । हम लोग कुँडू होटल में

आस-पास दो कमरे लेकर ठहरे।

—हम रेस-कोर्स में काफी देर तक घूमते रहे। अन्त में चण्डीप्रसाद ने वापस चलने का प्रस्ताव किया। हम लोग टैक्सी छोड़ चुके थे। रेस-कोर्स के किनारे, जहाँ टैक्सियाँ रहती हैं, एक भी टैक्सी नहीं थी, पैदल ही धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे।

—हम काफी देर तक चलते रहे। मुझे गत रात की बातें याद पड़ रही थीं, खाना खाने के बाद हम अपने-अपने कमरे में जा रहे थे। मध्यमा ने मेरी ओर देखा—सिर्फ देखने में इतनी बातें कही जा सकती हैं—यह मैंने पहली बार जाना था।

—हम डायनिंग हाल से बाहर निकलकर अपने कमरों की ओर मुड़ गये।

—गुड नाइट !

—गुड नाइट !

□

—तेनसिंग-राक तक पहुँचते पहुँचते हम थक गये थे। इस राक के बगल में विशाल खड्ड है। खड्ड के किनारे सड़क से गुजरते लोगों की हिफाजत के लिए घुटनों तक की दीवाल उठा दी गयी है। हम दोनों उसी दीवाल पर बैठ गये। थोड़ा सुस्ताने के बाद चण्डीप्रसाद ने सिगरेट-केस निकाला। उनके पास दियासलाई नहीं थी। मैंने झट से जेब से लाइटर निकालकर उनके सिगरेट को सुलगा दिया। सहसा मेरे मन में एक अजीब किस्म की भावना आयी। पलक गिरने जितना समय लगा। मैंने चण्डीप्रसाद को पीछे की ओर ढकेल दिया। चीख भी नहीं निकली। सूखे पत्ते की तरह चण्डीप्रसाद हवा में चक्कर काटते गहराइयों में खो गये !

—मैं वहाँ से जल्दी-जल्दी आगे बढ़ गया। मेरे पाँव काँप रहे थे। शरीर थरथरा रहा था। लगभग दस मिनट चलने पर पैर स्थिर हुए। मन थोड़ा शान्त हुआ। कुछ दूर आगे जाने पर पैसेंजर ढोने वाली एक जीप मिली, जिसके द्वारा मैं मुख्य बाजार आ गया। एक होटल में बैठकर चाय पी। मन स्थिर हुआ। फिर भी काफी देर तक इधर-उधर चक्कर काटता रहा। शहर की चहल-पहल में पूरी तरह भूल गया कि क्या किया है। प्राकृतिक मनःस्थिति में आ गया।

—अपने होटल पहुँचा। मध्यमा कम्बलों में लिपटी पुस्तक पढ़ रही थी। उसे सर्दी लग गयी थी, सो शाम में वह घूमने नहीं निकली थी।

—साहब कहाँ हैं ? मैंने पूछा।

—वे तो आप ही के साथ थे न ?

—नहीं। गेट के बाहर निकलकर वे एक ऊन की दुकान में घुस गये और बोले कि आपकी तबीयत ठीक नहीं है, सो वे घूमने नहीं जायेंगे, मैं अकेले चला जाऊँ। मैं जाना नहीं चाहता था, मगर उन्होंने जबरन भेजा।

—लेकिन वे तो तभी से नहीं आये ?

—फिर एक तनावपूर्ण और दुखद नाटक का प्रारम्भ हुआ। रातभर लोग

उन्हें खोजते रहे। दूसरे दिन मैंने मध्यमा को समझाया कि चण्डीप्रसाद मेरे और उसके बारे में बुरे सम्बन्धों की बातें सोचने लगे थे। एक बार इस आशय का मजाक भी किया था अपने बाहुबल और चालाकियों से। विशाल सम्पत्ति अर्जित करने वाला धनपति ढलती उम्र में खूबसूरत पत्नी करता है, तो वह निःशंक कभी नहीं रह सकता! हो सकता है, वे चिढ़ गये हों और चुपचाप कलकत्ता चले गये हों। मैंने इसी आधार पर मध्यमा को काफी समझाया और दूसरे दिन मध्यमा को लेकर कलकत्ता चला आया।

—लगभग सात महीने हुए। मैं मध्यमा पर छाया हुआ हूँ। मध्यमा—याने एक खूबसूरत जिस्म और अथाह सम्पत्ति! मैं यह भाव मध्यमा में जाग्रत करने पर लगा हूँ कि चण्डीप्रसाद उसके लिए अनिवार्य नहीं थे—अनिवार्य मैं हूँ!

नौजवान उठकर खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर तनाव आ गया। वह लगभग चीख-सा उठा—हत्यारा!

प्रौढ़ व्यक्ति मुसकराने लगा। आहिस्ते-आहिस्ते बोला—मैं अगर हत्यारा हूँ तो तुम आत्म-हन्ता। इण्डियन पेनलकोड में दोनों एक जुर्म हैं। खैर, छोड़ो इन बातों को। तुम्हारे जैसे भावुक दुध-मुँहों की मुलाकात जुगाकर रखने की चीज है।

—और तुम्हारे जैसे घुटे हुए हत्यारे का परिचय पुलिस को दे आना चाहिए। तुम्हारा नाम क्या है?

—सदानन्द!

—सदानन्द तो मेरा भी नाम है। तुम्हारे बाप का नाम?

—चिन्तामणि।

—चिन्तामणी? यह तो मेरे पिता जी का नाम है। तुम्हारा घर कहाँ है?

—फ्लैट नम्बर सात-सात-तीन-दो-जीरो, वेस्ट ब्लाक, आर० के० पुरम्, दिल्ली।

नौजवान तेज आवाज में बोला—मक्कार! तुम वे ही बातें बोल रहे हो, जो मैं हूँ। यह तो मेरा पता है।

इस बार प्रौढ़ थोड़ा ज्यादा गम्भीर होकर बोला—ज्यादा चीखो मत! मध्यमा के कानों तक आवाज नहीं जानी चाहिए। मैंने जो कहा है, वह सत्य है। मुझमें और तुममें सारी समानताओं के बावजूद एक बड़ा फर्क है?

—क्या है यह फर्क?

—पच्चीस वर्षों का अन्तराल।

फिर, जैसे पूरे कमरे में काँपता हुआ ठण्डा ईथर भर जाता है। ड्राइंगरूम का पीछे वाला पर्दा जरा-सा हिलता है। शायद मध्यमा बाहर निकल रही है।

[सारिका, जनवरी 1976]

मोहर सिह यादव

कुछ भी नहीं

1967 में उसने अर्थशास्त्र से एम० ए० किया था ।

1968 में पूरे वर्ष वह बेरोजगार इधर-उधर भटकता रहा ।

1969 में खैरथल मण्डी हाईस्कूल में थर्ड ग्रेड अध्यापक लगा । एक वर्ष पश्चात् उसने स्कूल से इस्तीफा दिया ।

1970 में वह सेलस-टैक्स में दिखाई दिया ।

1973 में उसे यातायात कर विभाग में फेंक दिया गया। अभी मालूम नहीं, वह कहाँ है····या फिर सभी जगह है ।

उसके सहपाठी कहते हैं, 'वह यारबाज था ।'

विद्यार्थी कहते हैं, 'वे एक आदर्श गुरुदेव थे ।'

दुकानदार कहते हैं, 'वह ईमानदार व्यक्ति था ।'

ऑफिसर कहते हैं, 'वह कर्मठ युवक था ।'

दूध वाली उसे लुच्चा, लफंगा और चालू आदमी समझती है ।

रजिया कहती है, 'वह पौरुषहीन इन्सान था ।'

गरीब टेंपो व रिक्शाचालक उसे देवता, नेक दिल और दयावान समझते हैं ।

□

1967 में वह एम० ए० फाइनल में पढ़ता था । पढ़ने में काफी तेज था । पतला था । लम्बा था । गोरा-चिट्टा था ।

आँखों पर चश्मा लगाता था । चश्मे का फ्रेम सुनहरा था । लेंसेज चौकोर थे । लेंसेज के केन्द्रों से वह देखता था । लेंसेज के केन्द्रों से समझता था । लेंसेज के केन्द्रों से सोचता था । लेंसेज के केन्द्रों से सुनता था । लेंसेज के केन्द्रों से बोलता था । लेंसेज के केन्द्रों से हँसता था । लेंसेज के केन्द्रों से शोक प्रकट करता था । लेंसेज के केन्द्रों से तोलता था । लेंसेज के केन्द्रों से परखता था । और वास्तविकता तो यह है कि लेंसेज के केन्द्रों से उसका सारा व्यक्तित्व परिलक्षित होता था ।

□

एक दिन लाइब्रेरी के संदर्भ कक्ष में मिस किरन थोड़ा इधर-उधर देखकर धीमे से बोली—'ऐ····!'

'हाँ····?'

'पिछले केबिन में चल।'

'क्यों····?'

'एक आवश्यक काम है।'

'यहीं बता दे····।'

'कोई सुन लेगा····।'

'सुन लेने दे।'

'तुम तो बुद्धू हो····नासमझ।'

'तुम पागल हो····नासमझ।'

□

युनिवर्सिटी वह बारह बजे जाता था। पाँच बजे वापस हॉस्टल लौट आता था। बीच में दो घण्टे खाली रहते, उनमें लाइब्रेरी चला जाता। कुछेक किताबें इश्यू करवाता। कुछेक किताबें जमा करवाता। थोड़ी देर पत्रिकाओं के पन्ने पलटता। थोड़ी देर अखबार पढ़ता। जब कोई रुचिपूर्ण सामग्री मिल जाती, तो नोट-बुक में लिख लेता। सप्ताह में एक-दो बार कैंटीन चला जाता। साथियों के साथ गप-शप लड़ाता। चाय पीता। पिलाता। खूब हँसता। सबको हँसाता। घण्टा बजते ही सबके साथ कक्षा में आ बैठता।

□

एक दिन शेखर ने उसे प्रशासनिक ब्लॉक के पीछे एकांत में बुलाया।

'ऐ····!'

'हाँ····?'

'आजकल सुमति तुम पर मंडरा रही है।'

'क्या मतलब····?'

'मतलब कि तुम पर फिदा है।'

'सो····?'

'मेरा कमरा एकांत में, हॉस्टल के ग्राउण्ड फ्लोर पर है।'

'सो····?'

'ले जाओ उसे आज।'

'तुम्हारी बहनें भी कहीं पढ़ती हैं!'

□

उसने परीक्षा दी। एक महीने पश्चात् परिणाम आया। प्रथम श्रेणी से वह उत्तीर्ण हुआ। हॉस्टल छूट गया। क्लास-रूम छूट गया। बड़े-बड़े बरामदे छूट गये। प्रोफेसरों के मधुर व्याख्यान छूट गये। केन्टीन छूट गयी। लाइब्रेरी छूट गयी। और सारी युनिवर्सिटी छूट गयी।

'बाजार मूल्य-माँग रेखा' पहले लचीली प्रतीत होती थी, अब स्थिर हो गयी। 'तटस्थ वक्ररेखा' और भी अधिक तटस्थ और सुदृढ़ हो गयी। 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' में मूल्य से अधिक अतिरिक्त शब्द का बोलबाला दिखाई दिया। 'पूर्ति बक्र रेखा' एकाएक सुरेखा में परिवर्तित हो गयी। अर्थशास्त्र का केवल अर्थ ही शेष बचा, शास्त्र न जाने कहाँ घुल गया।

'यारबाज' का एक अर्थ निकला, 'किताबी कीड़ा।'
'यारबाज' का दूसरा अर्थ निकला, 'चाय-काफी पिलाना।'
'यारबाज' का तीसरा अर्थ निकला, 'उच्च चरित्र।'
'यारबाज' का चौथा अर्थ निकला, 'दगाबाज और फरेबी।'
'यारबाज' का पाँचवाँ अर्थ निकला, 'गोपियों से घिरा कृष्ण।'
'यारवाज' का छठा अर्थ निकला, 'कुछ भी नहीं.....' या 'सब कुछ।'

□

1968 में वह बेरोजगार रहा। आर० के० पुरम सेक्टर नम्बर तीन में एक कमरा लिया। रोजगार की खोज में जगह-जगह भटका।

बैंक में एप्लाई किया। डाकतार विभाग में एप्लाई किया। जीवन बीमा में एप्लाई किया। शिक्षा विभाग में एप्लाई किया। समाज कल्याण विभाग में एप्लाई किया। कर विभाग में एप्लाई किया। रोडवेज में एप्लाई किया। रेल विभाग में एप्लाई किया। पंजाबी की फर्म में एप्लाई किया। नयी दिल्ली के प्रेस में एप्लाई किया। इधर एप्लाई किया। उधर एप्लाई किया। जहाँ जगह निकली, वहाँ एप्लाई किया। सब जगह एप्लाई किया। खूब एप्लाई किया।

इन्टरव्यू हुए। जयपुर गया। उदयपुर गया। बयाना गया। लुधियाना गया। मऊ गया। लखनऊ गया। सिकन्दराबाद गया। हैदराबाद गया। मंगलौर गया। बेंगलौर गया। बलिया गया। देवरिया गया। जहाँ से बुलावा आया, वहाँ गया। सब जगह गया। खूब गया।

इन्टरव्यू के परिणाम आने लगे।
'खेद है कि.....'
'अनफिट.....'
'अस्वीकृत.....'
'यू आर नाट सिलेक्टेड।'

'प्रवरण नहीं हो सका।'

'प्रतीक्षक सूची में।'

'आपको खैरथल मण्डी हाईस्कूल में थर्ड ग्रेड वेतन शृंखला में अध्यापक के पद पर नियुक्त किया जाता है। यह नियुक्ति अस्थायी है।'

□

1969 में वह खैरथल मण्डी हाईस्कूल में थर्ड ग्रेड अध्यापक नियुक्त हुआ। बेरोजगारी समाप्त हो गयी। एक कदम में ही द्रोणाचार्य बन गया। सुबह दस बजे स्कूल जाता और शाम चार बजे लौट आता। छठी से लेकर दसवीं तक की सभी कक्षाएँ पढ़ाने को मिलीं, किन्तु अर्थशास्त्र पढ़ाने को एक भी कक्षा नहीं मिली। उसे मिला छठी 'सी' में सामाजिक ज्ञान, सातवीं 'बी' में सामान्य विज्ञान, आठवीं 'ए' में वाणिज्य ज्ञान, नवीं 'सी' में मनोविज्ञान और दसवीं 'बी' में नैतिक ज्ञान।

उसने सभी कक्षाओं के पाठ्यक्रम देखे। पुस्तकें खरीदीं। नोट्स खरीदे। प्रश्न पढ़े····बनाये। जवाब ढूंढ़े····गढ़े। विद्यार्थियों को परिश्रम से पढ़ाया। रुचि से पढ़ाया। प्यार से पढ़ाया। डरा-धमका कर पढ़ाया। खूब पढ़ाया।

उसकी कक्षाओं में अनुशासन अच्छा रहा। उसकी कक्षाओं का परिणाम अच्छा रहा।

किन्तु पूरे वर्ष में प्रधानाध्यापक महोदय के बंगले पर एक बार भी नहीं गया। दीवाली की मुबारकबाद देने नहीं गया। होली की मुबारकबाद देने नहीं गया। मेम साहिबा के दर्शन नहीं किये। कुंवर साहबजादे को बंगले पर जाकर नहीं पढ़ाया। बंगले पर मिठाइयाँ नहीं भेजीं। बंगले पर फल-फूल नहीं भेजे। बंगले में रखे रजिस्टर में उसके नाम के सामने सिर्फ 'ए' की भरमार थी, 'पी' का कहीं नामोनिशान भी न था।

इस मुद्दे को लेकर प्रधानाध्यापक महोदय के बंगले पर चर्चाएँ होने लगीं। धारणाएँ बनीं। चमचों को मस्का लगाने का मौका मिला। झूठी-सच्ची, इधर-उधर की बातें हुईं। परिणाम बहुत जल्दी ही आ गया। प्रधानाध्यापक महोदय ने गोप्य प्रतिवेदन के परिशिष्ट 'क' में लिखा था—अनुशासनहीन, संशयात्मक, अविश्वसनीय, अनिष्टकारी और अवांछनीय।

'प्रेम पत्र' आ गया। शिक्षा निदेशक ने स्पष्टीकरण माँगा। उसका मन कसैला-सा हो गया। तकलीफ पहुँची। दिल रोया। सुनहरे फ्रेमवाले चश्मे के चौकोर लेंसेज भीग गये। वह निदेशक महोदय को स्पष्टीकरण लिखने बैठा और लिख दिया इस्तीफा। नौकरी से इस्तीफा। दिल का सारा बोझ उतर गया। वह अपने आपको हल्का महसूस करने लगा।

त्यागपत्र की दुर्घटना सुनकर विद्यार्थियों को धक्का लगा। कुछेक तो सचमुच

खूब रोये। शायद एक-दो को खुशी भी हुई हो।

पर सभी ने मिलकर विदाई दी। उपहार दिये। मालाएँ पहनायीं। स्मृति-पत्र दिये। स्टेशन पर विदा करने आये। गाड़ी चली। सबके हाथ हिले। होंठ हिले। आँखें हिली। किताबें हिली। नोट बुकें हिलीं। बिजली का खम्भा हिला। पीपल का पेड़ हिला और कुछ पल खैरथल मण्डी का सम्पूर्ण स्टेशन हिला।

खैरथल मण्डी छोड़कर वह चला गया। दिल्ली की सड़कों पर वह पुनः दिखाई दिया। सेल्स टैक्स विभाग में रिक्त स्थान निकले। उसने अर्जी दी और इत्तफाक से बिना रिश्वत, पहुँच और सिफारिश के नौकरी मिल गयी। पढ़ने और पढ़ाने से मुक्ति मिल गयी।

'आदर्श गुरुदेव' का एक अर्थ निकला, 'परिश्रमी।'

'आदर्श गुरुदेव' का दूसरा अर्थ निकला, 'विद्यार्थी-प्रिय।'

'आदर्श गुरुदेव' का तीसरा अर्थ निकला, 'कर्मवीर।'

'आदर्श गुरुदेव' का चौथा अर्थ निकला, 'खुशामद नापसन्द।'

'आदर्श गुरुदेव' का पाँचवा अर्थ निकला, 'अप्रयोज्य।'

'आदर्श गुरुदेव' का छठा अर्थ निकला, 'कुछ भी नहीं' या 'सब कुछ।'

□

1970 में वह सेल्स टैक्स में दिखाई दिया।

सुबह दस बजे दफ्तर जाता। शाम पाँच बजे लौट आता। दिन भर फाइलों में उलझा रहता। कभी खोलता। कभी बन्द करता। कभी उठाकर अलमारी में रखता। कभी उतार कर मेज पर डालता। कभी फाइलों में कुछ लिखता। कभी फाइलों से कुछ पढ़ता। कभी फाइलें ढूंढ़ने लगता। कभी एक ही फाइल बार-बार सामने आती। कभी फाइलों को घूर-घूर कर देखने लगता। कभी फाइलें उसे घूरने लगतीं।

दफ़्तर के सब लिपिक उठकर बाहर चले जाते। वह अपनी सीट से ही चिपका रहता। उसकी मेज के सामने से आवाजें आतीं—

'बाबू जी ! आओ, चाय पी आयें।'

'आप पियो....।'

'आप भी चलो।'

'मैं तो केवल दो बार सुबह-शाम पीता हूँ।'

'बाबू जी ! आओ, थोड़ा बाहर घूम आयें।'

'आप घूम आइए....मुझे एक रिपोर्ट तैयार करनी है।'

'बाबू जी ! आओ, पान खाने चलें।'

'पान तो मैं खाता ही नहीं।'

'बाबू जी ! लंच टाइम हो गया ।'

'हाँ....!'

'बाबू जी ! आओ, थोड़ी गप-शप लड़ायें ।'

'आप चलो । मैं अभी आया ।' (उसका 'अभी' कभी भी नहीं आया ।)

सब चले जाते । ऑफिस खाली हो जाता । वह अकेला बैठा काम करता रहता । टैक्स की रसीदें सम्भालता । उन पर क्रमांक नम्बर लगाता । उन्हें फाइल करता । लम्बे-लम्बे जोड़ लगाता । टैक्स बढ़ाता । टैक्स घटाता । सरचार्ज घटाता । सरचार्ज अलग से निकालता । सबसे आखिर में पेनल्टी जोड़ता ।

व्यापारी टैक्स जमा करवाने आते । उसकी मेज के सामने रखी कुर्सियों पर बैठ जाते । वह फाइलों में उलझा रहता । न ऊपर देखता । न नीचे देखता । न इधर देखता । न उधर देखता । न दायें देखता । न बायें देखता । किधर भी नहीं देखता । सिर्फ फाइल देखता ।

सामने से आवाज आती—'बाबू जी....।'

नजर ऊपर उठती, चौकोर लेंसेज बोल उठते—'हाँ....?'

'मेरा टैक्स जमा कर लो ।'

'आपका लाइसेंस नम्बर ?'

'आर ए जे शून्य सात शून्य चार सौ पचास ।'

'फर्म का नाम ?'

'मदन लाल एण्ड संस ।'

'प्रोप्राइटर....?'

'राम अवतार गुप्त ।'

वह लाल जिल्दवाले रजिस्टर के पन्ने पलटकर टैक्स बतलाता—'सात सौ दस रुपये तीस पैसे ।'

'यह लो जी ।' दुकानदार सात सौ पचास रुपये मेज पर रख देता । वह नोट गिनकर पूछता—'आपने ज्यादा दे दिये ।'

'नहीं....जी ।'

'चालीस रुपये ज्यादा हैं ।'

'आपकी भेंट है ।'

'कैसी भेंट ?'

'मेहनताना....!'

'मुझे तनख्वाह मिलती है ।'

व्यापारी लज्जित होकर फालतू दिये पैसे वापस लेता और चला जाता ।

वह अपने काम में व्यस्त हो जाता । दी हुई रकम को तिजोरी में डालता । लैजर नम्बर पाँच में जमा करता । बकाया कर-सूची में राम अवतार गुप्त नाम, फर्म मदनलाल एण्ड संस पर लाल स्याही से क्रॉस लगाता । रोकड़ का मिलान करता ।

तीन-चार जगह बड़े बाबू के मक्खीनुमा हस्ताक्षर करवाता। चालान फाइल को दुरुस्त करता। ट्रीपल कापी रसीद-बुक में लाल और नीली स्याही की छापें लगाता।

अचानक अफसर की घण्टी बजती। चपरासी उसे इशारा करता। वह बकाया कर-सूची और कैश बुक लेकर अफसर के कमरे में हाजिर होता।

'यस····सर····?'

'कितनी असामियाँ आयीं आज ?'

'पाँच····सर।'

'कितना टैक्स वसूल हुआ ?'

'तीन हजार आठ सौ चालीस रुपये सत्तर पैसे।'

'कितनेक और बचे ?'

'कोई सौ-एक के लगभग।'

'सिक्स-फोर' कितना बना ?'

'मैं····समझा····नहीं····सर····।'

'अच्छा जाओ····अप-टू-डेट स्टेटमेंट तैयार कर लो।'

यह अपनी सीट पर लौट आता। बैठ जाता। दिमाग खपाता। समझने की कोशिश करता। मस्तिष्क में भाँति-भाँति के विचार आते। थोड़े विकसित होते। कुछ आकृतियाँ-सी बनतीं। और स्पष्ट होने से पूर्व ही बिगड़ जातीं। केवल शेष बचता एक प्रश्न चिह्न। प्रश्न चिह्न भी क्या ? दो अंकों का भूत। 'सिक्स-फोर' का भूत ! यानी कि छह और चार। जितने स्पष्ट अंक उतना ही अस्पष्ट उनका अर्थ।

वह 'सिक्स-फोर' के बारे में बहुत अधिक सोचने लगा। आखिरकार इसका मतलब क्या है ? खूब सोचा। कुछ भी समझ में नहीं आया। रहस्य की एक भी गुत्थी नहीं सुलझी। उल्टे, वह और अधिक फँस गया। दिमाग में खलबली-सी मच गयी। और दिमागी खलबली अन्ततः जीवन में उतर आयी। उससे सब-कुछ उथल-पुथल हो गया। पहले रहता था अतिव्यस्त और अब हो गया अस्त-व्यस्त।

एक दिन उसे निराश मुद्रा में देखकर पड़ोसी लिपिक ने पूछा—'ऐ····'

'हाँ····?'

'उदास क्यों है ?'

'नहीं तो····'

'चेहरे से तो लग रहा है ?'

'नहीं····नहीं····यह तो····'

'छुपा रहे हो यार····?'

'हाँ····एक बात है····'

'क्या है····?'

'बताओगे····?'

'अवश्य····'

'सिक्स-फोर' क्या होता है ?'

'अरे ! तुम्हें नहीं मालूम ?'

'नहीं....'

'सच....?'

'सच....'

'इसका मतलब है, रिश्वत ।'

'अच्छा....?'

'हाँ, अपने ऑफिस का कोडवर्ड है ।'

'समझा....'

'सिक्स-फोर का अर्थ समझ में आ गया । रहस्य खुल गया । अफसर का प्रश्न उसके मानस को कौंध गया । उसने पुनः सोचा । नये दृष्टिकोण से सोचा । प्रत्येक अंश से सोचा । प्रारम्भ से सोचा । अन्त से सोचा । बाहर से सोचा । भीतर से सोचा । ऊपर से सोचा । नीचे से सोचा । चारों ओर से सोचा । बहुत सोचा । सब कुछ सोचा ।

पर सब व्यर्थ गया । कुछ भी नहीं सोचा । क्या खाक सोचा ! जैसा पहले था वैसा ही रहा—'सीधम सट्ट ।' तीन साल सेल्स टैक्स में रहा, न कभी 'सिक्स-फोर' लिया और न कभी दिया । परिणाम सामने आया । अफसर ने उसके परिश्रम की तारीफ की । ठीक होने के लिए लम्बा समय दिया । बहुत प्रतीक्षा की । आखिर में मजबूर होना पड़ा । उसका स्थानान्तरण करवाना पड़ा । सेल्स टैक्स विभाग छुड़वाना पड़ा । चार्ज लगा—'परिश्रमी किन्तु सेल्स विभाग के लिए अयोग्य ।' उसे सेल्स टैक्स विभाग छोड़कर यातायात-कर विभाग में जाना पड़ा ।

'ईमानदार व्यक्ति' का एक अर्थ निकला,' 'व्यावहारिक ।'

'ईमानदार व्यक्ति' का दूसरा अर्थ निकला, 'समझते हुए भी नासमझ ।'

'ईमानदार व्यक्ति' का तीसरा अर्थ निकला, 'डरपोक और कायर ।'

'ईमानदार व्यक्ति' का चौथा अर्थ निकला, 'मिसफिट ।'

'ईमानदार व्यक्ति' का पाँचवा अर्थ निकला, 'ईमानदार' ।

'ईमानदार व्यक्ति' का छठा अर्थ निकला, 'कुछ भी नहीं' या 'सब-कुछ ।'

□

1973 में उसे यातायात-कर विभाग में फेंक दिया गया । विभाग बदला । ऑफिस बदला । असामियाँ बदलीं । व्यापारियों और दुकानदारों के स्थान पर आने लगे ट्रक ड्राइवर, बस ड्राइवर, टेंपों ड्राइवर और ऑटो-रिक्शा ड्राइवर । कभी कन्डक्टर, कभी मालिक और कभी कोई तीसरा ही पुरुष ।

वह पुनः फाइलों से घिर गया ।

यातायात-कर वसूल करता। ड्राइविंग लाइसेंस बनाता। पुराने लाइसेंसों का नवीनीकरण करता। वाहनों के टोकन बनाता। फिटनेस सर्टिफिकेट देता। रोड टैक्स वसूल करता और वाहनों का असेसमेंट करता। काम का बोझ पहले से अधिक बढ़ गया।

परन्तु 'सिक्स-फोर' के चक्रव्यूह से साफ निकल गया। बड़ी-बड़ी पार्टियाँ, टैक्स की चोरी करने वाले मालिक, नाजायज परमिट लेने वाले व्यापारी अफसर से सीधा सम्पर्क रखते। वे अपना काम ऊपर से करवा लेते। उसे तो मालूम तब होता, जब अफसर उसे बुलाकर कागज बनवाता। वे बड़े लोग दफ्तर में एक दिन भी नहीं आते। बाहर से ही उनके सारे काम आसानी से हो जाते।

उसके पास आते टेंपो-चालक और ऑटो-चालक जैसे फक्कड़, मजदूर, जिनकी जेबों में टैक्स की रकम हमेशा टूटती हुई होती। दो-चार रुपये उसे ही अपनी जेब से मिलाने पड़ते। ये पैसे उसे बाद में मिल जाते। एक-दो नहीं भी लौटाते। पता नहीं, जानबूझ कर या मजबूरन।

ऑफिस के साथ-साथ निवास भी बदला। एक मुहल्ले से उठ कर दूसरे में पहुँच गया। पुरानी गलियाँ छूट गयीं। नयी गलियाँ मिलीं। नये दरवाजे मिले। नयी खिड़कियाँ मिलीं। नयी नौकरानी मिली और नयी दूध वाली मिली।

दूध वाली सुबह अन्धेरे-अन्धेरे आती। दरवाजे पर दस्तक मारती—'खट्-खट्—दूध ले लो।' उसकी नींद नहीं टूटती। वह बिस्तर से बाहर निकलता और चड्ढी-बनियान पहने ही दरवाजा खोलने चला जाता। दूध वाली की पलकें झुक जातीं। वह बिना कुछ बोले तेजी से वापस आता और बिस्तर में चादर ओढ़ कर लेट जाता और धीरे से कहता, 'दूध ढक देना और दरवाजा मूँद जाना।'

दूध वाली दरवाजा बन्द करके चली जाती। वह बिस्तर में ही लेटा रहता।

'चालू आदमी' का एक अर्थ निकला, 'लुच्चा और लफंगा।'

'चालू आदमी' का दूसरा अर्थ निकला, 'बेगैरत।'

'चालू आदमी' का तीसरा अर्थ निकला, 'अश्लील।'

'चालू आदमी' का चौथा अर्थ निकला, 'लापरवाह।'

'चालू आदमी' का पाँचवाँ अर्थ निकला, 'गफलत।'

'चालू आदमी' का छठा अर्थ निकला, कुछ भी नहीं' या 'सब-कुछ।'

□

ऑफिस से वह सायं पाँच बजे लौटता। जूते खोलता। कपड़े बदलता। एक कप चाय पीता। अपने कमरे में बैठ कर अखबार पढ़ता।

पाँच-सात मिनट पश्चात् सामने वाले मकान की खिड़की खुलती। ट्यूब लाइट जलती। किसी फिल्मी गाने की मधुर लय सुनायी पड़ती। उसकी गर्दन स्वतः

घूम जाती। वह चौकोर लेंस के केन्द्रों से देखता। खिड़की के पास खड़ी एक प्रतिमा-सी दिखाई देती। वह चश्मे को ठीक करता। चौकोर लेंस को आँखों के करीब सटाता। लेंस के केन्द्रों से पुन: देखता।

प्रतिमा हिलती। उसकी आँखें दिखाई देतीं। नासिका दिखाई देती। केश दिखाई देते। होंठ दिखाई देते। सम्पूर्ण चेहरा दिखाई देता। आधे से अधिक भाग गर्दन का दिखाई देता।

संशय मिट गया। रहस्य जल्दी ही खुल गया। वह तो लड़की थी। डॉक्टर असलम की बेटी—रजिया। उसने खिड़की की ओर देखना ही बन्द कर दिया। रजिया ने भी खिड़की खोलना बन्द कर दिया। अब वह उसके मकान पर पहुँचने से पूर्व बालकानी में खड़ी रहती। उसका इन्तजार करती रहती। वह आता। एक नजर बालकनी पर फेंकता और अपने मकान में प्रविष्ट हो जाता। रजिया खड़ी-खड़ी मुस्कराती रहती। दिन बीते। सप्ताह बीते। महीना बीता।

एक दिन डॉक्टर असलम अपनी पत्नी और दो छोटे बच्चों के साथ कहीं डिनर खाने चले गये। रजिया उसकी खिड़की के पास आयी और बोली—'ऐ····'

'हाँ···?'

'क्या नाम है तुम्हारा ?'

'कुछ भी हो।'

'फिर भी ?'

'रंजन····'

'रंजन बाबू ! हमारे घर चाय नहीं पिओगे ?'

'ऐसी कोई बात नहीं है।'

'तो फिर चाय तैयार है।'

'मैं····खाना····'

'आ जाओ न।'

वह चला गया।

'डाक्टर साहब कहाँ हैं ?'

'यही हैं।'

'बुलाओ !'

'इस कमरे में बैठिए।'

'अच्छा····'

वह कमरे में बैठ गया। रजिया ने फुर्ती से बाहर वाला दरवाजा बन्द किया और कमरे में जाकर उसके गले में बांहें डाल दीं।

'ऐ····'

'नहीं····नहीं।'

'क्यों सताते हो ?'

'छोड़ दो मुझे ?'
'तुम बड़े वो हो ।'
'नहीं····नहीं ।'

वह रजिया को धकेलकर बाहर आ गया । अपने मकान का दरवाजा बन्द किया और सोच में पड़ गया । डॉक्टर असलम के बारे में । उसके परिवार के बारे में । उसकी लड़की के बारे में । अपने स्वयं के बारे में । और निर्णय भी ले लिया ।

उसे रजिया से घृणा हो गयी । दूसरे दिन से उसने डॉक्टर असलम के मकान की ओर देखना ही छोड़ दिया ।

'पौरुषहीन' का एक अर्थ निकला, 'बुजदिल ।'
'पौरुषहीन' का दूसरा अर्थ निकला, 'नपुंसक ।'
'पौरुषहीन' का तीसरा अर्थ निकला, 'प्रतिवासी ।'
'पौरुषहीन' का चौथा अर्थ निकला, 'सजग व्यक्ति ।'
'पौरुषहीन' का पांचवाँ अर्थ निकला, 'कमबख्त ।'
'पौरुषहीन' का छठा अर्थ निकला, 'कुछ भी नहीं' या 'सब-कुछ ।'

□

एक दिन सभी स्थानीय समाचार-पत्रों के मुख पृष्ठ पर छपा था—श्री रंजन कुलश्रेष्ठ, जो यातायात-कर विभाग में वरिष्ठ लिपिक थे, दस दिन से लापता हैं । वे पतले थे । लम्बे थे । गोरे-चिट्टे थे । आँखों पर चश्मा लगाते थे । चश्मे का फ्रेम सुनहरा था । चश्मे के लेंस चौकोर थे ।

उनके बारे में सूचना देने वाले सज्जन को उचित इनाम मिलेगा । कृपया निम्न हस्ताक्षरी को शीघ्रातिशीघ्र सूचित करें :

रामचन्दर, सचिव,
ऑटो-रिक्शा यूनियन

[धर्मयुग, 11 अप्रैल 1976]

रमेश उपाध्याय

देवीसिंह कौन ?

आपको लगेगा कि यह एक जासूसी कहानी है, जो कि वास्तव में यह है भी, लेकिन यह आम जासूसी कहानियों से जरा भिन्न है। एक तो इसलिए कि यह किसी विदेशी रचना का भारतीय रूपान्तर नहीं है, जैसा कि अपने यहाँ आमतौर पर होता है; दूसरे, यह एक असफल जासूस की कहानी है, क्योंकि इसमें अपराधी पकड़ा या मारा नहीं जा सका। तीसरी बात गोपनीय है, लेकिन चूँकि आखिरकार आप समझ ही जायेंगे, इसलिए पहले ही बता दूँ कि वह असफल जासूस मैं ही हूँ।

पिछले महीने मुझे ऊपर से आदेश मिला कि····फैक्टरी में देवीसिंह नामक एक जबर्दस्त अपराधी है। उसे सब जानते हैं किन्तु उसके खिलाफ न तो अभी तक कोई गवाह या सबूत मिला है, न अभी तक कोई कार्यवाही ही की जा सकी है। मेरा काम होगा उसे गिरफ्तार करना और यदि वह हाथ न आये तो उसे खत्म कर देना।

इस आदेश की पहली प्रतिक्रिया मुझ पर यह हुई कि अपनी पुलिस काफी ढीली पड़ गयी है, वरना पुलिस के लिए गवाह और सबूत जुटाना क्या मुश्किल है? दूसरी प्रतिक्रिया मुझ पर यह हुई कि जरूर कोई बहुत ही संगीन मामला होगा, तभी मुझे सौंपा गया है। अपने मुँह अपनी बड़ाई मैं नहीं करना चाहता लेकिन यह एक तथ्य है कि मेरी गिनती देश के दस-बीस गिने-चुने जासूसों में होती है, जो सारी दुनिया की असलियत जानते हैं मगर जिनकी अपनी असलियत उनके ऊपर वाले कुछ अधिकारी ही जानते हैं।

तो हुआ यह कि मैं देवीसिंह के बारे में मूलभूत जानकारी हासिल करने के लिए सबसे पहले फैक्टरी के मैनेजर मिस्टर चैटर्जी से मिला। दरअसल यह कहानी अधिकांशतः मैनेजर चैटर्जी से हुई मेरी भेंट का विवरण ही है। क्योंकि देवीसिंह के बारे में जानने लायक प्रायः सभी बातें इसमें आ जाती हैं। इस विवरण के बाद मैं संक्षेप में अपनी असफलता का वर्णन करूँगा।

मैनेजर चैटर्जी से मिलने पर मुझे लगा कि देवीसिंह उसके लिए मूर्तिमान समस्या है। देवीसिंह की बात शुरू करते हुए उसने कहा, 'एई शाला भीषण

आश्चर्य। जीते-जी मिथ बन गया है यह आदमी !'

सुनकर मुझे उत्सुकता हुई। कौन है ऐसा जो कानून और व्यवस्था को चुनौती देता हुआ इस तरह तनकर खड़ा हो गया है ? अपराधी है तो बन्द क्यों नहीं हुआ ? खतरनाक है तो खत्म क्यों नहीं किया जा सका ? नेता है तो खरीदा क्यों नहीं जा सका ? मैंने पूछा, 'मिथ ? मिथ से आपका क्या मतलब है मिस्टर चैटर्जी।'

चैटर्जी ने अपनी गंजी खोपड़ी पर दोनों हाथ मारते हुए कहा, 'अब मैं क्या बताऊँ आपको, कोई आदमी ऐसा हो ही नहीं सकता। पचास बरस, मिस्टर चौधरी, पचास बरस की उम्र में एक भी ऐसा आदमी नहीं देखा। हजारों मजदूरों से काम लिया, कभी अपनी फैक्टरी में लेबर-ट्रबल नहीं होने दिया। आदमी को पहचानता हूँ मैं। एक अच्छा मैनेजर क्या होता है ? एक अच्छा मनोवैज्ञानिक। मजदूर के दिल की गहरी से गहरी बात मुझको मालूम हो जाती है। आदमी को दूर से दिखा दो, उसकी दो बातें सुना दो, बस। मैं बता दूंगा कि उसमें कितना दम है। कितनी दूर जा सकता है वह। आप बताइये, लेबर-ट्रबल क्यों होता है ? इसलिए कि मजदूर जिन्दा रहना चाहता है। बस, उसे जिन्दा रखो। दो पैसे ज्यादा माँगता है, दे दो। यह है तरीका। दो पैसे ज्यादा दोगे, खुश होकर दस पैसे का काम ज्यादा करेगा।'

'आप तो मुझे देवीसिंह के बारे में बताइये।' मैंने कहा।

'उसी की बात कर रहा हूँ। तो, मजदूर क्या चाहता है ? मजदूर जिन्दा रहना चाहता है। जब उससे जिन्दा नहीं रहा जाता, हल्ला करता है। उसको गुस्सा आता है। गुस्से में स्ट्राइक करता है। इसलिए मजदूर को जिन्दा रहने दो, उसको गुस्सा मत आने दो। लेकिन मजदूर के मनोविज्ञान को भी समझो। मजदूर मुफ्त में कुछ नहीं लेना चाहता। मुफ्त में उसे कुछ दिया जाये तो सन्देह करता है। इसलिए कुछ देर उसे बौखलाने दो। कुछ देर के लिए सख्त पड़ जाओ। उसे महसूस करने दो कि वह संघर्ष कर रहा है। मतलब क्या ? उसे महसूस करने दो कि जो कुछ उसे मिला, उसकी मेहनत का मिला। संघर्ष को भी वह मेहनत मानता है। यह है मजदूर का मनोविज्ञान, मिस्टर चौधरी।'

बेवकूफ ! मुझे मनोविज्ञान सिखा रहा है। मैंने मन ही मन कहा। लेकिन यह बात मैं उस पर जाहिर नहीं करना चाहता था, इसलिए मैं उसके थुलथुल चेहरे और चमकती हुई गंजी खोपड़ी को देखता हुआ उसकी बातें सुनता रहा।

'इसलिए मेरा तरीका तो यह है कि मैं उन्हें संगठित होने देता हूँ, संघर्ष करने देता हूँ। अपनी फैक्टरी में एक नहीं, चार-चार यूनियनें मैंने बन जाने दी हैं।' चैटर्जी ने एक आंख दबाकर मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा। मैं उसका इशारा समझ गया।

यहाँ मुझे चैटर्जी की तारीफ करनी पड़ेगी। मजदूरों को कमजोर करने के नये से नये तरीके उसे आते हैं। और इसीलिए तो वह इतनी विशाल फैक्टरी का जनरल मैनेजर है।

तो, चैटर्जी का इशारा समझकर मैं मुस्कराया। वह बोलता रहा—'मैं उनको गेट-मीटिंग करने के कभी नहीं रोकता। फैक्टरी के अन्दर भी पर्चे बाँटने और बातचीत करने से नहीं रोकता। हाँ, जानकारी मुझे हर चीज की रहती है। मैं उन बेवकूफों को भी जानता हूँ जो मजदूर बनकर भरती हो गये हैं। कौन किस पार्टी का है, कहाँ रहता है, कहाँ जाता है, किससे मिलता है, मुझे सब पता रहता है। वे समझते हैं, मुझे कुछ नहीं मालूम। मैं भी यही जताता हूँ कि मुझे कुछ नहीं मालूम। खैर, तो मेरा तरीका यह है कि मैं उन्हें यूनियन बनाने देता हूँ, नारे लगाने देता हूँ, भाषण देने देता हूँ, प्रदर्शन और धरना और भूख-हड़ताल जैसे तमाशों को भी कुछ दिन चलने देता हूँ····मगर स्ट्राइक नहीं। स्ट्राइक मैंने अपनी फैक्टरी में आज तक नहीं होने दी। आन्दोलन और बात है, स्ट्राइक एकदम दूसरी चीज है। तो, मैं आन्दोलन कुछ दिन चलने देता हूँ और फिर एक दिन उनकी माँगें मान लेता हूँ। कुछ माँगें, समझे आप, सब नहीं। सारी माँगें मान लेने का मतलब है, उनके मन में अपने लिए सन्देह पैदा करना। इसलिए कुछ माँगें। और एक बात का मैं खास ख्याल रखता हूँ, हर बार अलग यूनियन को सफल होने का मौका देता हूँ! एक ही यूनियन हर बार सफल होती रही तब तो बाकी सब बेकार हो जायेंगी। लेकिन मैं ऐसा नहीं चाहता। डेमोक्रेसी है साहब, सबको जिन्दा रहने का हक है।'

मैंने नाटकीय ढंग से घड़ी देखकर चैटर्जी को अहसास कराने की कोशिश की कि वह काफी बकवास कर चुका है, अब देवीसिंह के बारे में बताये। लेकिन वह अपनी रौ में बोलता ही गया, 'जिन्दा रहना सबसे बड़ी चीज है मिस्टर चौधरी। इसलिए जियो और जीने दो। मजदूरों को भी जीने दो, उनकी यूनियनों को भी जीने दो। और जिन्दा कोई कब रहता है? जब उसे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़े। इसलिए यूनियनों को जिन्दा रखने के लिए यह जरूरी है कि उनमें अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष हो। अब तक बड़े मजे में होता भी आया था। उन्हें इसका काफी अभ्यास हो गया है। इसलिए मैं निश्चिन्त था कि मेरी फैक्टरी में मजदूरों की यूनियनें चार से पाँच, छह या दस तो हो सकती हैं, मगर चार से तीन नहीं हो सकतीं। लेकिन····'

अजीब बात थी कि यह बात कहते-कहते चैटर्जी के चौड़े माथे पर पसीना दिखाई देने लगा, हालाँकि एयर कण्डीशनर बराबर चालू था और उस कमरे में गर्मी हो जाने का कोई सवाल नहीं था। मुझे भी अपने अन्दर कुछ बेचैनी-सी महसूस हुई। बात यह है कि मेरे सामने जब कोई आदमी पूरे आत्मविश्वास से बोलता-बोलता कच्चा पड़ने लगता है, तो मैं अस्थिर हो उठता हूँ।

चैटर्जी कह रहा था, 'लेकिन जीवन में पहली बार यह तमाशा देख रहा हूँ कि दो यूनियनें बेकार होती जा रही हैं।'

'मतलब ?' मैं चौंक गया।

'मतलब, देखिए, पिछले महीने हमारे यहाँ बोनस के सवाल पर आन्दोलन

शुरू हुआ। आप शायद जानते होंगे कि मैं इस मामले में कितना उदार हूँ। मैंने सेठ साहब से बात करके पहले ही तय कर रखा था कि बोनस इस बार एक परसेन्ट बढ़ा दिया जायेगा। शायद आपको यह भी मालूम होगा कि हमारी फैक्टरी सबसे ज्यादा बोनस देती है। मँहगाई-भत्ता भी हमने ही सबसे ज्यादा बढ़ाया है। और इसीलिए तो हमारे मजदूर हमसे खुश रहते हैं। लेकिन जैसी मेरी पॉलिसी है, मैं अपने आप मजदूरों को कुछ नहीं देता। लड़ें और ले लें। इसलिए मैंने फैक्टरी में हवा फैलवा दी कि इस बार बोनस नहीं मिलेगा। मजदूरों का भड़कना स्वाभाविक था। 'मुझे यह भी मालूम था कि इस मसले पर चारों यूनियनें इकट्ठी होकर आयेंगी, और मैंने यह भी सोच रखा था कि कैसे उनको अलग करके लड़ाया जायेगा और किसको मैं सफल बनाऊँगा। लेकिन हुआ यह कि चारों आखिर तक साथ रहीं। देखिए, कमाल ही हो गया न! मेरी सारी कोशिशें बेकार गयीं। और यह भी तब हुआ जबकि दो यूनियनें पूरी तरह मेरी मुट्ठी में थीं। मैंने उनके नेताओं को अलग बुलाकर कहा कि यह तुम लोगों का क्या तरीका देख रहा हूँ इस बार? इस पर वे कहने लगे कि इस बार उनकी यूनियनों के मजदूर उनका कहना ही नहीं मान रहे हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा कैसे हो गया? नेताओं ने कहा—हम ही नहीं, सारे लीडर बौखलाये हुए हैं। आपका वह श्रमवीर सबका बाप बन बैठा है।'

कहकर चैटर्जी रुक गया। मुझे लगा, उसकी सांस फूल गयी है। वह सचमुच जल्दी-जल्दी साँसें ले रहा था। तभी उसने जेब से रूमाल निकालकर माथे का पसीना पोंछा। मेरी आदत है कि मैं लोगों को उनकी कमजोरी के क्षणों में यह अहसास नहीं कराता कि मैं उन्हें देख रहा हूँ। लेकिन मुझे देखना तो पड़ता ही है। मेरा पेशा ही ऐसा है। खैर, उसके तरीके मैंने निकाल रखे हैं। सिगरेट जलाने के बहाने मैंने अपना ध्यान चैटर्जी के पसीना पोछते और काँपते हुए हाथ से हटा लिया। समझकर भी अनजान बनते हुए मैंने पूछा, 'श्रमवीर कौन?'

'अरे, वही देवीसिंह!' चैटर्जी का चेहरा लाल हो गया, 'सेठ साहब को कभी-कभी पता नहीं क्या सूझता है। पिछले साल बोले—फैक्टरी में हर साल एक मजदूर को श्रमवीर का मेंडल और एक सौ एक रुपये का इनाम दिया जाना चाहिए। सच पूछिए तो मुझे यह आइडिया शुरू में ही पसन्द नहीं आया था। मगर सेठ साहब की जिद! उनका तर्क था कि इससे मजदूरों में ज्यादा से ज्यादा और अच्छे से अच्छा काम करने की होड़ पैदा होगी। माननी पड़ी उनकी बात। पॉलिसी यह बनायी गयी कि श्रमवीर चुनते समय काम तो देखा ही जाये, मजदूर का व्यवहार भी देखा जाये। यानी श्रमवीर उसी को घोषित किया जाये जो सबसे ज्यादा शरीफ और अनुशासित मजदूर हो और जिसका पार्टी-पॉलिटिक्स से कोई वास्ता न हो। बड़ा सिर खपाना पड़ा, मिस्टर चौधरी। आजकल ऐसे मजदूर मिलते कहाँ हैं? उनकी सारी कौम बदमाश हो गयी है। खैर, जैसे-तैसे एक मजदूर छाँटा गया। सेठ साहब खुद फैक्टरी में आये। जलसा हुआ। श्रमवीर की घोषणा हुई। सब मजदूरों

में मिठाई बाँटी गयी। लगा कि सब ठीक-ठाक हो गया लेकिन....'

चैटर्जी ने अपनी हँफनी को मुझसे छिपाने की कोशिश नहीं की। साँस को सन्तुलित करके बोला, 'लेकिन दूसरे दिन मैंने सुना कि फैक्टरी के अहाते में हल्ला हो रहा है। गड़बड़ी इतनी ज्यादा थी कि खुद मुझे उठकर वहाँ तक जाना पड़ा। और वहाँ जाकर क्या देखता हूँ कि हमारे श्रमवीर का मुँह काला किया हुआ है, कमीज उतारी हुई है और बहुत-से मजदूर घेरा बनाकर उसे नचा रहे हैं। मैंने देखा, वे उसे पकड़कर गुदगुदी करते, वह बेचारा उनके हाथों में छटपटाता और छूटकर भागता और भागकर घेरे में दूसरी तरफ पहुँच जाता। दूसरी तरफ वाले भी उसे पकड़ लेते और गुदगुदाते। और वह फिर छटपटाता, फिर छूटकर भागता और फिर दूसरों के हाथों पकड़ा जाता। हालत खराब थी बेचारे की। और बाकी लोग हँस रहे थे, तालियाँ बजा-बजाकर नाचते हुए गा रहे थे—सरमबीर कुछ सरम करो, भई, सरमबीर कुछ सरम करो....

'मुझे बड़ा गुस्सा आया, मिस्टर चौधरी। मैंने उन्हें डाँटकर कहा—तुम लोगों को शर्म नहीं आती ? अपने एक भाई को इस तरह परेशान कर रहे हो ? अरे, इससे प्रेरणा लो; इसके जैसा बनने की कोशिश करो। लेकिन जानते हैं, उन्होंने क्या कहा ? बोले—इस चमचे को हम श्रमवीर नहीं मानते। श्रमवीर बनाना है तो किसी और को बनाओ। मैंने फौरन कहा—दूसरा कौन है इतनी मेहनत और ईमानदारी से काम करने वाला ? मेरा ख्याल था, इसका उनके पास कोई जवाब नहीं होगा क्योंकि सभी श्रमवीर का मैडल और इनाम खुद पाना चाहेंगे और आपस में एक-दूसरे की बात काटेंगे, और आखिर में बात श्रमवीर के इलैक्शन पर आ जायेगी। और इलैक्शन में तो वही होगा जो हम चाहेंगे। लेकिन उन्होंने तो कमाल कर दिया। आँखों ही आँखों में इशारा हुआ और कुछ लोग वहाँ से चले गये। कहते गये—ठहरिये आप, अभी लाते हैं हम। और थोड़ी देर बाद वे देवीसिंह को पकड़ लाये....

'आप यह समझ लीजिये मिस्टर चौधरी, कि देवीसिंह कोई पहाड़ जैसा राक्षस नहीं, मामूली कद का आदमी है। उजले रंग का। चेहरे पर डरावनी मूँछें और गन्दे दाँत न हों तो उसे सुन्दर भी कहा जा सकता है। बनियान और निक्कर पहने हुए था वह उस समय। मैंने पहली ही नजर में उसके शरीर को देखकर समझ लिया कि वह कसरत जरूर करता होगा और हनुमान की पूजा करता होगा। उसके गले में ताँबे का एक ताबीज काले डोरे में बँधा हुआ था। हाथ काले हो रहे थे और उसके दायें हाथ में बड़ी वाली रैंच थी। वे लोग उसे पकड़कर ठेलते हुए ला रहे थे और वह झेंपा हुआ-सा कहता आ रहा था—क्या करते हो यार, छोड़ो मुझे। वहाँ खड़े मजदूरों ने उसे देखते ही नारा लगाया—देवीसिंह, जिन्दाबाद ! किसी ने फौरन संशोधन कर दिया—श्रमवीर देवीसिंह, जिन्दाबाद !

'मुझे बुरा तो लगा, मगर चारा क्या था ? मैंने कहा—ठीक है, अगर तुम

लोग देवीसिंह को श्रमवीर बनाना चाहते हो तो मुझे कोई ऐतराज नहीं है। इतना कहना था कि चारों तरफ से तालियाँ बज उठीं। मैंने पहले से घोषित श्रमवीर की तरफ देखा। दो आदमी अब भी उसे पकड़े हुए थे और वह दोनों हाथों से अपने चेहरे को पोंछ रहा था। पता नहीं, वह चेहरे पर लगी कालिख पोंछ रहा था या आँसू। मुझे बेचारे पर बड़ा तरस आया। फिर भी मैंने उससे मुखातिब होकर कहा कि इनाम के रुपये वह अपने ही पास रखे, क्योंकि मैं जानता था कि रुपयों को वह उड़ा चुका होगा, लेकिन मैंडल लौटा दे। मेरा इतना कहना था कि देवीसिंह बोल पड़ा। बोला—मैनेजर साब, मैं कुछ बोलना चाहता हूँ। और इतना कहकर उसने हाथ की रेंच नीचे पटक दी, फुर्ती से अपनी बनियान उतारी और हमारे श्रमवीर के पास जाकर उसकी कालिख पोंछते हुए बोला—इनाम और मैंडल रघुनाथ को मिला है, रघुनाथ के पास ही रहेगा। मुझे मेरे साथियों ने जो मान दिया है, वही मेरा सबसे बड़ा मैंडल है। पर मैं रघुनाथ से इतना जरूर कहूँगा कि यह मालिकों और मैनेजरों की चमचागीरी छोड़कर अपने मजदूर भाइयों के साथ रहे।

'सुना आपने ? ऐसा है वह आदमी। मेरे मुँह पर ही ऐसी बात कह गया। और वे लोग जब फिर से तालियाँ बजाने लगे तो मैंने उन्हें डाँटकर अपने काम पर जाने को कहा और चला आया। लेकिन सच कहता हूँ आपसे, मुझे उसी दिन लग गया था कि यह आदमी खतरनाक है और यह जरूर किसी दिन मजदूरों का नेता बनेगा। और वही हुआ। यूनियनों के नेता टापते रह गये और देवीसिंह नेता बन गया !'

चैटर्जी इतना कहकर चुप हो गया। फिर उसने कांपते हुए हाथ से टेबल पर रखे गिलास के ऊपर से ढक्कन गिराया और सारा पानी गटागट पी गया। मैंने भी उसे थोड़ा आराम देने के लिए सिगरेट सुलगा ली और उसको तसल्ली देने वाली बातें करने लगा। मसलन, मैंने कहा, 'ये लोग बहुत सरकश होते जा रहे हैं, इन्हें ठीक करना ही पड़ेगा.....' या ऐसा ही कुछ।

लेकिन चैटर्जी मेरी बातों से राहत महसूस करने के बजाय और ज्यादा परेशान होता हुआ-सा दिखाई दिया। बोला, 'मिस्टर चौधरी, आप मुझे ऐसा-वैसा मैनेजर मत समझिये। मैंने पचास बरस इण्डस्ट्री में यों ही नहीं गँवाये हैं। सरकश लोगों को ठीक करना मुझे भी आता है। बड़े-बड़े बदमाशों से मेरा वास्ता पड़ा है और मैंने या तो उन्हें ठीक कर दिया, या ठिकाने लगवा दिया। लेकिन इस आदमी ने मेरा जीना हराम कर दिया है। और इसीलिए मुझे आपकी मदद लेनी पड़ रही है।'

'आप चिन्ता मत कीजिये।' मैंने फिर तसल्ली दी, 'उसे ठिकाने लगाना हमारा काम है। आप तो उसके बारे में जो जरूरी बातें हैं, मुझे बता दीजिये। और देखिये, विस्तार में मत जाइये। संक्षेप में यह बता दीजिये कि उसको लेकर आपकी समस्या ठीक-ठीक क्या है और उस समस्या के क्या-क्या समाधान आपने

किये या सोचे हैं ।'

'समस्या मिस्टर चौधरी, यह है कि देवीसिंह को हमारी फैक्टरी के सारे मजदूर, अगर सारे नहीं तो आधे से ज्यादा मजदूर, अपना नेता मानने लगे हैं । एक यूनियन का मैम्बर तो वह पहले से ही था, इसलिए उस यूनियन के मजदूर तो उसे अपना आदमी समझते ही थे, बोनस आन्दोलन के सिलसिले में दूसरे भी उसे अपना समझने लगे । हुआ क्या कि मजदूरों द्वारा श्रमवीर बना दिये जाने पर वह पहले ही सबकी नजरों में चढ़ गया था और हमारी तरफ से गलती यह हुई कि हमने उसे बदनाम कराने की कोशिश की । रघुनाथ को हमने मोहरा बनाया । रघुनाथ हमारे काम भी खूब आया । आप जानें, एक तो वह वैसे ही बिना रीढ़ का आदमी; दूसरे, सार्वजनिक अभिनन्दन के बाद उसका सार्वजनिक अपमान किया गया था । उसके दिल में देवीसिंह के लिए नफरत और ईर्ष्या जगाकर उसे भड़काना कोई मुश्किल काम नहीं था । बस, रघुनाथ ने अपने कुछ साथियों को लेकर और मजदूरों के बीच हमारे अपने जो लोग हैं, वे तो उसके साथी बन ही जाने थे, देवीसिंह के खिलाफ प्रचार शुरू कर दिया····

'मगर जैसा कि मैंने पहले कहा, हमारा यह कदम गलत पड़ा । दरअसल गलती तो उसी दिन शुरू हो गयी थी जिस दिन सेठ साहब ने श्रमवीर का मैडल और इनाम देने का फैसला किया । दूसरी गलती यह हुई कि अपने आदमी को श्रम वीर बनाने के बाद हमने मजदूरों के आदमी को श्रमवीर मान लिया । लेकिन परिस्थिति ऐसी थी कि मुझे वह गलती करनी पड़ी । मैंने सोचा था, अभी उसे मान लो । बाद में उसे बदनाम कराके उस पर कुछ चार्ज-वार्ज लगाकर फैक्टरी से उसकी छुट्टी कर दो । मेरा ख्याल था, इस तरह सारी गलतियाँ ठीक कर ली जायेंगी । लेकिन हुआ यह कि ज्यों-ज्यों देवीसिंह को बदनाम किया, त्यों-त्यों वह मजदूरों में पॉपुलर होता गया । और यह तो मानना ही पड़ेगा कि देवीसिंह वाकई सबसे ज्यादा लगन वाला, मेहनती और ऐफीशियेंट वर्कर है । है तो मामूली फिटर लेकिन अच्छे से अच्छे मैकेनिक से होशियार मैकेनिक है । लोग कहते हैं, मशीनों को वह अपने बच्चों की तरह प्यार करता है । चलती हुई मशीन की आवाज सुनकर बता देता है कि मशीन गा रही है या किसी तकलीफ से रो रही है । और मशीनें भी आज्ञाकारी बच्चों की तरह देवीसिंह का कहना मानती हैं । उसका हाथ लगते ही ठीक हो जाती हैं····

'आपको लग रहा होगा कि मैं कविता कर रहा हूँ, लेकिन मिस्टर चौधरी मजदूरों को आप नजदीक से देखें तो पायेंगे कि हर अच्छा मजदूर अपने ढंग का कवि या कलाकार होता है । मशीनों के रोने-गाने वाली शब्दावली मेरी नहीं है, यह उन्हीं की शब्दावली है ।'

चैटर्जी बहक रहा था । मुझे लगा, चैटर्जी मैनेजर अच्छा हो या न हो, किस्सागो अच्छा है । पहले मैं उसकी बातों से उकता रहा था, लेकिन अब उसकी

बकवास को रुचि लेकर सुन रहा था। फिर भी किस्सा-किस्सा ही रहे, उपन्यास न बन जाये, इस विचार से मैंने उसे टोका, 'मिस्टर चैटर्जी, मैंने आपसे निवेदन किया था कि आप विवरण छोड़ दें, मुझे सिर्फ देवीसिंह के बारे में बतायें।'

चैटर्जी ने अपनी गोल-गोल आँखों में विस्मय भर कर कहा, 'कमाल है! मैं आपको उसी के बारे में तो बता रहा हूँ। क्या आप यह चाहते हैं कि मैं देवीसिंह का एक फोटो मँगा दूँ और आपसे कहूँ—यह है देवीसिंह ? लेकिन मेरा खयाल है, आपको एक अच्छा श्रोता होना ही चाहिए। अगर आप किसी आदमी को वाकई जानना चाहते हैं तो उसे जीवन की ठोस परिस्थितियों में सामने रखकर समझिए।'

'जी हाँ, आदमी की पृष्ठभूमि की जानकारी तो की ही जानी चाहिए।' मैंने यह कह कर चैटर्जी को बताया कि इस विषय का वह अकेला पण्डित नहीं है, लेकिन वह बोला, 'नॉट ओनली बैकग्राउण्ड, मिस्टर चौधरी, आपको उसका फोर-ग्राउण्ड भी देखना चाहिए।'

मैंने बात बढ़ाना ठीक नहीं समझा। उसकी बात मानकर चुपचाप सिर हिला दिया।

चैटर्जी फिर कहने लगा, 'तो हुआ यह कि हमने देवीसिंह को बदनाम करने की कोशिश की। लेकिन हम वास्तविकता को तो बदल नहीं सकते थे। नतीजा यह हुआ कि फैक्टरी के तमाम मजदूरों ने देवीसिंह को और देवीसिंह के काम को देखा और मान गये कि वही सच्चा श्रमवीर है। और इस चक्कर में वह इतना पॉपुलर हो गया कि उसके खिलाफ कोई झूठा चार्ज लगाकर उसे हटा देना हमारे लिए मुश्किल हो गया। दूसरे, मैं खुद भी वाकई उसे हटाना नहीं चाहता था। एक तो वह इतना अच्छा वर्कर कि उसे हटा दें तो हमें कम-से-कम चार मैकेनिक रखने पड़ें और दस गुना खर्चा उठाना पड़े; दूसरे, तब तक मेरी जानकारी यह थी कि देवीसिंह एक यूनियन का मैम्बर जरूर है, और वह यूनियन कुछ खतरनाक भी है, मगर देवीसिंह को अभी राजनीति की हवा नहीं लगी है। इसलिए मैंने यह सोचा कि अगर वह नेता के रूप में उभर आये तो पुराने यूनियनबाजों के नक्शे कुछ ढीले पड़ेंगे, देवीसिंह वाली यूनियन में फूट पड़ेगी, और बाद में एक अराजनीतिक नेता को अपने हित में मोड़ लेना हमारे लिए आसान भी होगा। मुझे यह भी मालूम हुआ कि देवीसिंह मनमौजी और कुछ झगड़ालू किस्म का आदमी है। शराब के नशे में अपनी यूनियन के लीडर से एक बार थोड़ी मारपीट भी कर चुका है। सच मानिए, यह जानकर मुझे बड़ी खुशी हुई थी, क्योंकि चारों में से वही एक यूनियन है जिसमें थोड़ी राजनीतिक चेतना है, बाकी तीनों तो सिर्फ आर्थिक माँगों के लिए लड़ती हैं। मैंने सोचा, यह यूनियन टूट जाये या हमारे हाथ आ जाये तो मजा आ जाये। इसलिए मैंने देवीसिंह के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की और उसे पॉपुलर होने दिया।'

थोड़ी देर हाँफते रहने के बाद चैटर्जी ने फिर कहना शुरू किया, 'लेकिन

बोनस-आन्दोलन में देवीसिंह ने अपना जो रूप दिखाया, उससे मैं हैरान रह गया। गले में हनुमान का ताजीब बाँधने वाले इस सीधे-सादे उजड्ड आदमी का दिमाग इतना सोफिस्टिकेटेड होगा, यह मैं सोच भी नहीं सकता था। जानते हैं, उसने क्या किया ? फैक्टरी के गेट पर एक ब्लैकबोर्ड लाकर रख दिया और यूनिवर्सिटी के कुछ लड़कों को पकड़ लाया। नोटिसबाजी मैंने बहुत देखी है। उसमें अक्सर कोई कार्टून-वार्टून बनाकर मजदूरों को भड़काने वाली बातें लिखी जाती हैं। लेकिन देवीसिंह ने तो कमाल कर दिया। ब्लैकबोर्ड पर वह आँकड़े लिखवाने लगा। फैक्टरी की टोटल आउटपुट के आँकड़े, लागत के आँकड़े, मुनाफे के आँकड़े, बकाया टैक्स के आँकड़े। पता नहीं कम्बख्तों ने कहाँ से सारी जानकारी इकट्ठी कर ली थी। फैक्टरी कब खुली, कितनी पूँजी लगायी गयी, शुरू में कितने मजदूर काम करते थे, फिर साल-दर-साल कितना एक्पेंशन हुआ, इस सबके एकदम सही-सही आँकड़े उन लोगों के पास थे। वे आँकड़े रोज ब्लैकबोर्ड पर लिखे जाते। यूनिवर्सिटी के लड़के अपनी पारी बाँधकर वहाँ हर वक्त मौजूद रहते। वे मजदूरों को ही नहीं, राह चलते आम लोगों को भी आकर्षित करके उन आँकड़ों की व्याख्या किया करते। आप सोचिए, कितनी खतरनाक चीजें होने लगी हैं !

'हमने पता लगाया कि यह सारी जानकारी उन्हें कौन देता है, तो लड़कों ने कहा—कामरेड देवीसिंह ! लेकिन आश्चर्य की बात यह है मिस्टर चौधरी, कि देवीसिंह कतई पढ़ा-लिखा नहीं है। और जो चीजें ब्लैकबोर्ड पर लिखी गयीं, उनमें से कुछ तो एकदम सीक्रेट थीं। इससे हमें शक होना स्वाभाविक ही था कि हमारे ऑफिस में से चीजें लीक होती हैं। लेकिन कैसे होती हैं, कौन करता है, इसका पता हम नहीं लगा सके। मजदूरों में से कोई भी, बड़े-से-बड़ा लालच देने पर भी, यह नहीं बता सका कि देवीसिंह के पास यह जानकारी कहाँ से आयी, हालांकि कहते सब यही थे कि देवीसिंह ही लाता है। और देवीसिंह भी खुले आम कहता था—यों छाती ठोक कर—कि हाँ, मैं देता हूँ सारी जानकारी। आप मुझसे यह मत पूछिए कि कहाँ से लाता हूँ। यह साबित करके दिखाइए कि क्या इन बातों में से कोई भी बात गलत है।

'जाहिर है, यह चीज ज्यादा दिन नहीं चलने दी जा सकती थी, इसलिए हमने बोनस की माँग मान ली और जल्दी से आन्दोलन खत्म करा दिया। लेकिन आन्दोलन खत्म होने के बाद यूनियनें हमेशा की तरह अलग नहीं हुईं। देवीसिंह का लगाया हुआ ब्लैकबोर्ड भी स्थायी हो गया। यूनिवर्सिटी के लड़के तब से लगातार आ रहे हैं और अब तो ब्लैकबोर्ड के पास खड़े होकर वे मजदूरों और आम लोगों को बाकायदा मार्क्सवाद पढ़ाते हैं। हमने उन्हें हटाने की कोशिश की, लेकिन मजदूरों का दबाव इतना ज्यादा है कि हम जबर्दस्ती उन्हें हटा नहीं सकते। सबसे ज्यादा परेशान करने वाली बात यह है कि आन्दोलन के दिनों से लेकर अब तक देवीसिंह रोज गेट-मीटिंग करता है। आप समझ सकते हैं कि कोई तात्कालिक माँग न होने

पर भी कोई आदमी सफलतापूर्वक गेट-मीटिंग कर ले, और लगातार करता रहे, तो वह कैसा आदमी होगा। और वह कहता क्या है? कहता है कि एक फैक्टरी में चार-चार यूनियनों की कोई जरूरत नहीं है, कि मजदूर-मजदूर एक हैं, कि बँट कर उनकी ताकत कम होती है, वगैरह-वगैरह। और उसकी बातों का असर मजदूरों पर पड़ रहा है....

'आप यह मत समझिए कि मैं चुपचाप यह तमाशा देखता रहता हूँ। मैंने अपने लोगों को खूब सक्रिय कर दिया है। लेकिन अभी तक मैं इतना ही कर पाया हूँ कि मजदूरों के राइट-लेफ्ट दो गुट बन गये हैं। मतलब यह है कि चार यूनियनें दो बनकर रह गयी हैं। कोशिश कर रहा हूँ कि फिर दो से चार हो जायें। लेकिन देवीसिंह दो हिस्सों में बँटे हुए मजदूरों में से एक हिस्से का लीडर बन बैठा है। और जब तक वह अपने गुट में फूट नहीं पड़ने देता, हम दूसरे गुट में भी विभाजन नहीं करा सकते। वरना वह दूसरा गुट, जो कमोबेश हमारी ही राजनीति चलाता है, कमजोर होकर खत्म हो जायेगा।

'इस बीच मैंने दो काम किये, लेकिन बदकिस्मती से दोनों का फायदा देवीसिंह को ही पहुँचा। एक काम तो मैंने यह किया कि मजदूरों में झगड़ा करा दिया। मुद्दा बहुत बढ़िया उठाया मैंने। अपने लोगों से मैंने कहा—अगर वे लोग ब्लैकबोर्ड लाकर लगा सकते हैं तो तुम क्यों नहीं लगा सकते? वे लोग सरेआम मार्क्सवाद पढ़ा कर विदेशी विचार फैला रहे हैं, तुम लोग मजदूरों में भारतीय संस्कृति का प्रचार क्यों नहीं कर सकते? शुरू में मेरी इस तरकीब ने काम किया भी। एक ही गेट पर दो मोर्चे जमेंगे तो झगड़ा होगा ही। लेकिन झगड़े में तू-तू मैं-मैं होकर ही रह गयी। हमारा ख्याल था कि मारपीट हो जायेगी और उसमें या तो हमारा कोई आदमी देवीसिंह को ठिकाने लगा देगा, या पुलिस उसे बन्द कर देगी। मगर देवीसिंह ने अपना गुट बड़ा और ज्यादा ताकतवर देखते हुए भी काबू में रखा। उस दिन के भाषण में उसने कहा—साथियों, सामने वाले हमारे दुश्मन नहीं, हमारे ही भटके हुए मजदूर भाई हैं। अगर वे अपना प्रचार करना चाहते हैं तो करने दो। अगर उनकी बात सही होगी तो हम मान लेंगे, गलत होगी तो उन्हें सही बात बतायेंगे। लेकिन होगी बातचीत ही, मारपीट नहीं होगी। मारपीट से न तो कोई बात मानी जा सकती है, न मनवायी जा सकती है। और अगर लीडर लोग लड़ना चाहते हैं तो आपस में लड़ लें। अपनी तरफ से मैं उन्हें चुनौती देता हूँ कि उनमें से कोई भी एक-एक करके आये और मुझसे दो-दो हाथ कर ले। मगर मजदूर भाई आपस में नहीं लड़ेंगे।

'समझे मिस्टर चौधरी, ऐसा है वह आदमी। कहाँ तो उस दिन उसका खात्मा होने वाला था, कहाँ वह और ज्यादा मजबूत हो गया। बाद में मालूम हुआ कि देवीसिंह का उस दिन वाला भाषण सुनकर हमारी तरफ के लोग भी इतने प्रभावित हुए कि कई मजदूर उसकी तरफ चले गये।'

चैटर्जी चुप होकर हाँफने लगा। उसे राहत देने के लिए मुझे फिर सिगरेट सुलगानी पड़ी। कुछ देर बाद मैंने चैटर्जी की तरफ देखा तो पाया कि वह कुर्सी की पीठ से सिर टिका कर आँखें मूँदे बैठा है। लगता था। उसके चेहरे का सारा खून खींच लिया गया है और वह एकदम मर ही गया है। लेकिन उसकी धौंकनी जैसी साँस अब भी तेजी से चल रही थी।

मैंने कहा, 'मुझे बड़ा खेद है मिस्टर चैटर्जी, कि आपको इतनी अप्रिय बातें सुनाने के लिए मजबूर कर रहा हूँ। लेकिन मैं आपका बहुत-बहुत आभारी हूँ कि आप मुझे ऐसी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान सूचनाएँ दे रहे हैं। अब आप चिन्ता मत कीजिए, देवीसिंह को अब मैं समझ गया हूँ और उसे खत्म करना अब मेरे लिए काफी आसान होगा।'

चैटर्जी चटके से सीधा हुआ और अपनी गोल-गोल आँखें उसने मेरे चेहरे पर गड़ा दीं। उन आँखों में अपार भय भरा हुआ था, जैसे वह अभी-अभी कोई दु:स्वप्न देखकर जागा हो। लेकिन जब उसने बोलना शुरू किया तो मुझे लगा, वह गुस्से में है और मुझे निहायत बेवकूफ समझ रहा है।

उसने कहा, 'अभी आप उसे नहीं समझे, मिस्टर चौधरी। उसके बारे में कुछ बातें सुनकर उसे समझ लिया जाता तो मैं कोई गधा नहीं हूँ कि अपनी सहायता के लिए आपको बुलाता। जब तक आप उससे मिलेंगे नहीं, आप समझ ही नहीं सकते कि वह किस-किस तरह की चालें चल सकता है और कैसी-कैसी हरकतें करके आपको परेशानी में डाल सकता है!'

'मिलना तो मुझे उससे है ही। मैं आपकी इस बात को याद रखूंगा।' मैंने कहा और फिर से घड़ी देखते हुए संक्षेप में बात कहने का संकेत चैटर्जी को देकर पूछा, 'आप कह रहे थे कि आपने दो काम किये, दूसरा काम क्या था ?'

चैटर्जी मुँह खोलते सिहर-सा गया, लेकिन बोला, स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो मैंने देवीसिंह को मरवा देने की कोशिश की। मैंने उसे रात-पाली में बुलाया और अपने दो मजबूत आदमियों को यह काम सौंपा कि वे जैसे भी हो, देवीसिंह को पकड़ कर बॉयलर में झोंक दें। मेरा ख्याल था कि यह काम हो जायेगा और मैं अब चैन की नींद सोऊँगा। लेकिन सुबह मुझे पता चला है कि देवीसिंह जिन्दा है और मेरे दोनों आदमी मारे गये हैं। सच कहता हूं आपसे, मुझे नहीं मालूम था कि यह सीधा-सादा दिखने वाला आदमी इतना खूंखार और इतना बड़ा अपराधी है। मेरे दोनों आदमी बॉयलर के पास मरे पड़े थे। देवीसिंह ने किसी भारी चीज से एक का सिर और दूसरे की टाँगें चकनाचूर कर दी थीं। मैंने खुद अपनी आँखों से उन लाशों को देखा। ओह गॉड, कितनी बेरहमी से कुचला गया था दोनों को!'

चैटर्जी ने सिर हिलाते हुए आँखें मूंद लीं और दोनों हाथों में चेहरा छिपा लिया। इस बार वह साफ-साफ नाटक कर रहा था, शायद मुझ पर अपनी संवेदनशीलता का प्रभाव जमाने के लिए। मगर मैं जानता हूँ। वह समझ रहा था

कि वह किससे बात कर रहा है और हालांकि वह सुरक्षित था, फिर भी एक आदमी को बॉयलर में फिंकवा कर मरवा देने की बात स्वीकारते हुए वह डर गया था।

थोड़ी देर बाद चैटर्जी फिर बोला, 'और उसके बाद तो आप जानते हैं कि देवीसिंह के खिलाफ गवाह-सबूत कुछ नहीं मिला। ये लोग कितने बदमाश हो गये हैं। सब जानते हैं कि खून देवीसिंह ने ही किये हैं लेकिन गवाही देने को कोई तैयार नहीं।'

'मगर मैंने तो सुना है कि आप खुद ही उसके खिलाफ कोई खुली कार्रवाई करना नहीं चाहते ?'

'आपने कुछ-कुछ ठीक ही सुना है, लेकिन मैं चाहता नहीं हूँ, ऐसी बात नहीं है। चाहता तो यह हूँ कि उसे अपने हाथों से गोली मार दूँ, लेकिन मुझे डर है कि इससे मामला बिगड़ जायेगा। देवीसिंह उनका लीडर ही नहीं, उनका हीरो बन चुका है। वे दिन-रात उसके गुण गाते हैं और उसे सुरक्षित रखने के लिए हरदम उसके आस-पास बने रहते हैं। पुलिस देवीसिंह को गिरफ्तार करने आयी थी, लेकिन पुलिस के आने से पहले ही मेरे पास उनकी धमकी आ गयी कि देवीसिंह को कुछ हो गया तो खून की नदियाँ बह जायेंगी। खून की नदियाँ बहाना तो उनका एक निरर्थक मुहावरा भी हो सकता है, लेकिन वे स्ट्राइक तो कर ही सकते हैं। और मैं नहीं चाहता कि मेरे जीते-जी मेरी फैक्टरी में स्ट्राइक हो। स्ट्राइक मैं नहीं होने दूँगा।'

'अब आप मुझे क्या करने के लिए कहते हैं ?'

'मैं चाहता हूँ।' चैटर्जी जैसे शब्द टटोलते हुए बोला, 'मैं चाहता हूँ कि साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। लेकिन मेरी समस्या यह है कि देवीसिंह को न तो अरेस्ट किया जा सकता है, न खत्म किया जा सकता है, न खरीदा जा सकता है, न''''मिस्टर चौधरी, यही तो मुसीबत है। मुझे लगता है, उसका कुछ नहीं किया जा सकता।'

चैटर्जी चुप होकर निराशा में डूब गया। मैं उसे आश्वासन देकर चला आया।

इसके बाद के अपने प्रयासों के बारे में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं देवीसिंह का कुछ नहीं बिगाड़ सका। शुरू में यह काम मुझे कतई मुश्किल नहीं लगा था। ऐसी परिस्थिति में, जैसा कि हम लोग आम तौर पर करते हैं, मैं फैक्टरी में मजदूर बन कर भरती हो गया। धीरे-धीरे मैंने देवीसिंह से पहचान बढ़ायी और उसका विश्वास प्राप्त कर लिया। मैनेजर चैटर्जी ने उसका जैसा नक्शा खींचा था, मुझे वह कतई वैसा नहीं लगा। उसे अगर बेवकूफ नहीं तो भोला बड़े आराम से कहा जा सकता था।

आखिर मैंने एक दिन उसे खत्म करने का निश्चय किया। मेरी योजना

यह थी कि पाली बदलने से ठीक पहले मैं अपनी मशीन में कुछ गड़बड़ कर दूँगा और देवीसिंह की मशीन ठीक करने के लिए बुला लूँगा। शिफ्ट खत्म होने पर बाकी मजदूर जब शॉप से बाहर चले जायेंगे तो मैं देवीसिंह को खत्म कर दूँगा। उस दिन मेरी जो हालत हुई, मैं आपको बता नहीं सकता। सुबह जैसे ही मैं फैक्टरी में घुसा, मेरे पास से गुजरते हुए एक मजदूर ने मेरे कान में फुसफुसा कर कहा, 'मुझे मारना, देवीसिंह मैं हूँ।' मैंने उसे डाँट दिया कि क्या बकता है ! वह हँसता हुआ चला गया। मैं अपनी मशीन के पास पहुँचा तो मशीन में तेल देता हुआ मेरा हेल्पर मेरे पास आया और उसी तरह फुसफुसा कर बोला, 'तुम मुझे मारना, देवीसिंह मैं हूँ !' मैंने उसे डाँटा और काफी गुस्सा करते हुए उसे बताया कि देवीसिंह मेरा यार, मेरा भाई, मेरा दोस्त, मेरा कामरेड है; और उसको मारने की बात तो मैं सपने में भी नहीं सोच सकता।

लेकिन उसके बाद तो उन लोगों का ताँता बँध गया। एक-एक करके वे मेरे पास आते और मेरे कान में कहते, 'मुझे मारना, देवीसिंह मैं हूँ !' मेरी हालत खराब हो गयी। मैंने आस-पास देखा वे सब अपना-अपना काम करते हुए भी चोर-नजरों से मेरी ही तरफ देख रहे थे। मुझे लगा कि वे मेरी सारी असलियत जान गये हैं और आँखों ही आँखों में मुझे धमका रहे हैं। घण्टे भर बाद में मैं वहाँ से भाग खड़ा हुआ। रह जाता तो न जाने मेरा क्या हाल होता !

[साहित्य-निर्झर, मार्च 1976]

रमेश बत्तरा

नंग-मनंग

मुझे मालूम था कि वह निरन्तर संकोच करती रहेगी और तुरन्त से नहीं मानेगी। अपनी बात मनवाने के लिए उसे खुद तैयार करना पड़ेगा। उसे कुछ इस तरह से मनाना होगा कि उसके समक्ष और कोई चारा ही न रहे। इसलिए उसके न-नुकर करने पर, मैं न तो नाराज हुआ और न गुस्से में आया। लगातार इसरार करता रहा। उसकी खुशामद भी की और उसे समझाता भी रहा कि अब हम पति-पत्नी हैं और हमारा परस्पर एक दूसरे के समक्ष निर्वस्त्र होना न तो अनैतिक है और न ही अवैध। फिर यह तो अवसर भी ऐसा है जिसकी प्रतीक्षा केवल इसीलिए बड़ी उत्सुकता से की जाती है।

वह चुपचाप बैठी रही। जरा हिली-डुली तक नहीं। जरूर वह मेरे ही बारे में सोचने लगी थी। मैंने उसे कहा कि अब सोचना कैसा, आज नहीं तो कल, यह तो होना ही है। मेरे कहे पर मेरी बात रख लो तो मुझे ज्यादा खुशी होगी।

उसने गर्दन उठाकर मेरी ओर देखा। मेरी आँखों में अपनी उत्कण्ठा थी और उसकी आँखों में घबराहट। वह मेरे इस खुलेआम होने की आकांक्षा और अपने संकोच में किलस कर कमरे में जगमगा रहे बल्ब को घूरने लगी।

कल सुबह छोटी वॉट का बल्ब बदलकर यह बड़ी वॉट का बल्ब मैंने खुद लगाया था। हमारी भेंट रात को होनी थी और मैं उसके रोयें-रोयें की पहचान चढ़ती धूप जैसे उजास में ही कर सकता था। यह मेरी वर्षों पुरानी एषणा थी। तब से, जब कि मैं ठीक तरह से यह भी नहीं समझता था कि 'नंगा' शब्द का अर्थ क्या होता है, वस्त्र मुझे व्यर्थ लगने लगे थे। परन्तु वस्त्र तो मुझे पहनने ही पड़ते थे। और ज्यों मैं बड़ा होता गया, यह मन मारकर वस्त्र पहनते रहना मेरे लिए रहस्यमय और बोझिल बनता गया। क्योंकि वस्त्र क्यों नहीं पहनने चाहिए, इसका कोई तर्क विशेष मेरे पास नहीं था। और वस्त्र क्यों पहनने चाहिए इसका कारण मुझे कोई समझा नहीं सका था। मेरे पास केवल निर्वस्त्र रहने की एषणा थी, जिसे मैं कभी पूरा नहीं कर पाया। केवल इस भय से कि माता-पिता इसकी स्वीकृति नहीं देते और लोग इसे भला नहीं समझते और समाज इसे अपराध मानता है।

और यह मुझे बहुत कष्टप्रद प्रतीत होता कि महज इसी वजह से वस्त्र पहने जाते रहें, दूसरों को खुश करने के लिए, जबरदस्ती।

ये जबरदस्तियाँ मेरे साथ कई बार हुई थीं कुछ घटनाएँ तो मुझे आज भी याद है। मैं मुश्किल से आठ-नौ साल का रहा हूँगा। वे रामलीलाई दिन थे। एक रात 'लव-कुश' नाटक देखकर लव-कुश के वस्त्र मुझे इतने भाये कि अगले दिन स्कूल से लौटते ही मैंने माँ की ओढ़नी को अपनी बुद्धि अनुसार धोती में बदला और बहिन की माला गले में डालकर बिना कुछ खाये-पीये ही खेलने चला गया।

मुझे आशा थी कि मित्र मुझे इस वेष में देखकर खुश होंगे किन्तु उनके बीच पहुँचते ही मेरा स्वागत 'नंगा-ही-हो—नंगा-ही-हो' से शुरू होकर मेरी धोती खींचने और माल उतारने तक आ पहुँचा। मैं घबराकर घर की ओर खिसकने लगा। वे भी शोर मचाते मेरे पीछे-पीछे रेंगने लगे। अनायास एक लड़का मेरी धोती खींचकर ले गया। बाकी लड़के तालियाँ पीटने लगे। उन्हें इस तरह खुशी मनाता देखकर मैं भी हँसने लगा। शोर सुनकर कई घरों, दरवाजों और खिड़कियों ने मुझे झाँक-झाँक कर देखा और दाँत निपोर दिये।

इस बीच एक लड़के ने जाकर मेरी माँ को भी बतला दिया। वह भी मुझे ढूँढ़ती वहाँ आ पहुँची। मेरा जलूस निकला देखकर वह खिसिया-सी गयी। उस समय तो उसने मुझे कुछ नहीं कहा, ऐसे बनी रही जैसे वह तमाशा उसे भी पसन्द है, लेकिन घर पहुँचते ही वह डाँटने लगी—यह क्या स्वांग रचा रखा है तूने ?

—मैं लव, कुश बनूँगा। मैंने कहा।

—लव-कुश का बच्चा। जरा-सा इधर-उधर हुई नहीं कि शरारत सूझ गयी। जा अपने कपड़े पहन।

माँ की घुड़की पीकर मैं अन्दर जाकर नेकर-कमीज पहनता हुआ उस पर कुड़ता रहा था कि स्कूल जाने से पहले मैं नंग-धड़ंग घूमता रहता था, तब तो कोई कुछ नहीं कहता था। अब कहते हैं नंगा मत रह, धोती नहीं नेकर पहन। नेकर पहनकर तो धोती से भी अधिक टाँगें दिखाई पड़ती हैं। फिर भी कहते हैं कि ठीक नहीं लगता—नेकर ही पहनो।

यह क्या मुसीबत है, मैं समझ नहीं पाया। उन दिनों में प्रायः इसी विषय में सोचता रहा और शायद महीनों इसे अपने लिये समस्या बनाये रहा। एक दिन उकताकर मैंने माँ से पूछ ही लिया—नंगा क्यों नहीं रहना चाहिए, माँ ?

—ताकि धूल वगैरा पड़ने से बदन मैला न हो।

—फिर लोग टाँगें-बाहें पीठ वगैरा भी क्यों नहीं ढकते ?

—हवा के लिए। हवा आदमी की सेहत के लिए बहुत जरूरी होती है।

माँ शायद मुझे टरकाना चाहती थी किन्तु मेरे अन्दर उस समय किसी खोजी गुरु का शिष्य विराजमान था। मैंने पूछ लिया—बाकी हिस्सों को हवा की जरूरत नहीं होती ?

—जिन अंगों को हवा लगती रहती है उनसे उन्हें भी मिल जाती है ।

—कैसे ?

—बड़ा होकर खुद समझ जायेगा ।

—अभी बता दो न ।

—अभी तू दूध पी और जा खेल । ज्यादा तंग करेगा तो पिट जायेगा मेरे हाथों ।

माँ की धमकी का मुझ पर असर तो हुआ लेकिन मेरी उत्सुकता और भी उग्र हो गयी । फिर भी मैं मुँह को ताला लगाकर मानो बड़ा होने की प्रतीक्षा करने लगा ।

अब मैं काफी बड़ा हो चुका हूँ । सुबह मेरी शादी हुई थी और इस समय मैं पत्नी के पास हूँ । यह हमारी पहली रात है । मगर हम दो जने होकर भी अकेले-अकेले हो रहे हैं । हम दोनों के बीच मौन व्याप्त है । मैं मन ही मन व्यग्र-सा पत्नी पर अपने मंतव्य की प्रतिक्रिया होती देखना चाहता हूँ किन्तु वह सकपकाई-सी बैठी बल्ब को घूर रही है । मानो एक लफ्ज भी और कह दिया तो रो पड़ेगी ।

इस रात के पल-पल की शायद उसके मन में सैकड़ों परिकल्पनाएँ रही होंगी । किन्तु यहाँ सब कुछ उसके विपरीत हुआ पाकर वह निराश हो गयी है । बल्कि परेशान भी लग रही है । क्योंकि मैं अपनी उत्कण्ठा को दबा नहीं पाया था । मैंने कमरे में आते ही अपनी कमीज लापरवाही से एक तरफ फेंकते हुए उसे अपनी निर्वस्त्र रहने की मंशा इस अनुरोध के साथ बता दी थी कि वह इस पर अमल भी करे ।

इसने न जाने क्या-क्या स्वप्न संजो रखे होंगे और मैंने कैसा सलूक किया । अब वह क्या सोच रही होगी मेरे बारे में ? मुझे उससे सहानुभूति होने लगी है और यह सोचकर कि यह प्रयोग फिर कभी होता रहेगा, मुझे वही करना चाहिए जो वह चाहती है, मैं भी उसी की तरह बल्ब को घूरने लगा हूँ ।

अचानक मुझे लगा है कि हो न हो यह बल्ब ही मेरी एषणापूर्ति में बाधा बना हुआ है अन्यथा इतनी मनुहार के बाद तो वह मान ही जाती । कमीज उतारने के बाद मैंने भी कोई वस्त्र नहीं उतारा । इसकी वजह भी कहीं बल्ब ही तो नहीं ? यह सोचकर, इस भरोसे पर कि बल्ब तो बाद में फिर भी जलाया जा सकता है, मैंने कहा है—कहो तो बत्ती बुझा दूँ ?

—तुम्हारी मर्जी ।

मैंने शुकर किया है कि वह कुछ बोली तो सही ।

—फिर मेरी बात मान लोगी ? मैंने उत्साहित होकर कहा है ।

वह मेरी तरफ देखने लगी है—तुम्हें यह अच्छा लगता है ?

—न लगता तो कहता ही क्यों ?

—मुझे तो नहीं लगता ।

मुझे लगा है कि बात बनते-बनते बिगड़ रही है। बातों ही बातों में ऐसा न हो कि बल्ब जलता ही रह जाये। उसकी बातचीत से तो लगता है कि रोशनी न रहने पर वह जरूर मान जायेगी और फिर मैं अकस्मात् उठकर बत्ती जला दूंगा। इसलिए मैंने कहा है—फिर भी बत्ती तो बुझा ही देता हूँ।

बत्ती बुझाते-बुझाते सहसा मुझे एक उपाय सूझ गया है। मैं कुछ क्षण वहाँ खड़ा होकर वस्त्र उतारने लगा हूँ और पलंग के पास आकर मैंने उसे बताया कि मैं इस वक्त निर्वस्त्र हूँ।

—मुझे समझ नहीं आ रही कि यह आखिर तुम्हें क्या सूझी है ? उसके बोलने से लगा है कि यह कहने से पहले और बाद में दोनों बार उसने थूक गटक ली है। और मैंने अन्धेरे में भी महसूस किया है कि उसका शरीर पसीने से निरस गया है।

—बहुत डरपोक हो, मैंने कहा है। पर वह कुछ नहीं बोली। मैं उसी की साड़ी के पल्लू से उसका चेहरा पोंछने लगा हूँ—तुम नहीं चाहती तो न सही। यूँही एक इच्छा थी मन में जो तुम से कह दी। तुम शायद मुझे वहशी समझ रही हो। पर तुम डरो मत। शान्त रहो। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं होगा।

—नहीं ऐसी कोई बात नहीं। उसने मेरा हाथ थामकर वहीं रोक लिया है।

—तो फिर क्या बात है ?

—शादी से पहले भी हम पाँच-सात बार मिले हैं। अपनी बातचीत से तो तुम ऐसे नहीं लगे।

—मैं तुमसे मिलता ही इसलिए था कि हमारे बीच का संकोच पहले ही समाप्त हो जाये।

—तब तो तुम कहते थे कि प्रेम निष्काम है। मोह सकाम है, इससे आदमी काम को नहीं भोगता, काम आदमी को डसता है। बहुत ऊँची-ऊँची बातें करते थे। फिर यह मोह क्यों ?

—मोह नहीं, मुझे निर्वस्त्र रहने का चाव है।

—चाव न हुआ खेल हो गया।

—अब तुम जो मरजी आये समझ लो। मैंने जिससे भी इस तरह की बात की है उसने मेरा मजाक ही उड़ाया है। और किसी-किसी ने तो कभी खपती समझा और कभी मूर्ख।

—वो कैसे ? पत्नी ने पूछा है।

उसके कपोलों की साधारण-सी हरकत से मुझे आभास हुआ है कि वह मुस्करा रही है। मैंने वहाँ से हाथ हटा लेना चाहा है किन्तु उनकी गुनगुनाहट मुझे भली लगी है और कहीं यह भी महसूस हुआ है कि अब मेरी इच्छा पूरी होने में कोई खास अड़चन नहीं रही। मैंने कहा है—मैं तुम्हें वे सब बातें सुनाऊँ जिनकी वजह से मैं नग्नता के प्रति अपने-आप में रोमांचित होता चला गया ?

—सुनाओ।

—तो मेरी बात मंजूर ? मैंने पूछना चाहा है किन्तु पूछा नहीं। मुझे लगा कि इस तरह पीछे पड़कर इकरार करवाना ठीक नहीं। इतनी स्वीकृति भी पर्याप्त है। उसके प्रति आशाजनक होकर मैंने उसके हाथों से हाथ छुड़वाकर अपने दोनों हाथ रगड़ दिये हैं और उसे बचपन की लव-कुश तथा माँ वाली घटना सुनाकर कहा है—फिर कुछ साल बाद एक दिन माँ ने मुझे कहा—अब तू नेकर नहीं पेंट पहना कर। अच्छी नहीं लगती। अब तू बड़ा हो गया है।

—बड़े नेकर नहीं पहनते ? मैंने पूछा।

—हाँ, नहीं पहनते।

—क्यों नहीं पहनते ?

—मैं जो कहती हूँ। माँ ने कहा। पर मेरा मन नहीं माना कि किसी बात को सिर्फ इसलिए मान लो कि माँ ऐसा कहती है। मुझे सन्देह-सा हो गया। मैंने पूछ लिया—अब कहीं नेकर पहनने वालों को भी तो नंगा नहीं कहा जाने लगा ?

—ऐसा ही समझ ले···फिर इससे टाँगें भी मैली हो जाती हैं।

—टाँगें तो मैं रोज धो लेता हूँ।

—पेंट भी रोज धुल सकती है और पेंट पहनने से टाँगें ज्यादा साफ रहेंगी।

—नेकर पहनते रहने में क्या बुराई है ?

—फालतू में बहस मत करता रहा कर मुझसे। कुछ समझता तो है नहीं बेवकूफ ! माँ ने मुझे फटकार कर बात खत्म कर दी। मुझे गुस्सा तो बहुत आया कि वह हमेशा ही डाँट-डपटकर मुझे चुप करवा देती हैं पर मैं कर ही क्या सकता था। मैंने नेकर उतारकर पेंट पहन ली। माँ खुश हो गयी। पर यह झमेला मेरी समझ से बाहर ही बना रहा। इस बारे में मुझे थोड़ा-बहुत यही अहसास हुआ कि कुछ ऐसा है जो मुझसे छुपाया जाता है।

—फिर ? पत्नी ने पूछा है।

—फिर इस घटना को गुजरे कुछ ही महीने हुए थे कि एक दिन मैं बाहर से आकर अपनी कोई किताब उठाने के लिए कमरे में घुसा ही था कि मुझसे कुछ क्षण पहले कमरे में पहुँच चुकी मेरी बहिन यानि तुम्हारी बड़ी ननद ने बाजू आगे बढ़ाकर पंजा फैला दिया—ऐ, अभी बाहर ही रुक।

—क्यों क्या बात है ? मैं उसकी बात अनसुनी करके उसके पास जा खड़ा हुआ—इमली खा रही हो क्या ?

—नहीं, मुझे कपड़े बदलने हैं।

—तो बदल लो।

—तू जा बाहर।

—कपड़े ही बदलने हैं, बदल लो। तुम्हें मुझसे क्या। तुम इमली तो खा नहीं रही जो मैं शिकायत कर दूंगा।

—तू यहाँ क्या करने आया है ?

—किताब उठाने आया हूँ ।

—तो उठा और जा ।

—पहले तो तुमने मुझे कभी बाहर नहीं भेजा । मेरे सामने ही बदल लेती थी, मैंने हैरान होकर पूछा—आज क्या बात है····मुझसे नाराज हो ?

—तू जाता है कि नहीं ?

—नहीं जाता ।

—ओप-फ-हो, हद होती है कोई बेवकूफी की भी । तिलमिलाकर उसने मुझे दो-तीन तमाचे दे मारे और मुझे रोता ही छोड़कर बाहर निकल गयी ।

रो-धोकर मैं बिसुरता हुआ उसकी शिकायत करने माँ की तरफ चल पड़ा । परन्तु वहाँ से मुझे अपना-सा मुँह लेकर वापस आना पड़ा । वह मुझसे पहले ही माँ के पास जा पहुँची थी । मैंने माँ के कमरे की चौखट पर पाँव रखते ही सुना, माँ कह रही थी—अच्छा किया, और लगाने थे दो चार कम्बख्त को । एकदम गधा हो गया है यह । परसों मुझ से पूछ रहा था—हम छुप-छुप कर क्यों नहाते हैं, माँ ।

—तुम सुन रही हो न ? मैंने पत्नी से पूछा है ।

—सुन रही हूँ ।

—तुम जरा हूँ-हाँ करती रहो । मैंने कहना शुरू किया है—गुसलखाने का इस्तेमाल मैं कभी-कभार ही करता था । पर तमाचा पड़ने के बाद मैं लगातार किवाड़ों के पीछे ही नहाने लगा । मुझे बड़ा अजीब-सा लगता । मैं जितनी देर गुसलखाने में रहता, यही सोचता रहता कि मैं ऐसे ही स्कूल भी चला जाऊँ तो । कई बार मैंने किवाड़ खोलकर उसी हालत में बाहर आने की भी ठानी किन्तु हर बार मेरी सूरत माँ की डाँट, तालियों से गड़गड़ाते जलूस और खिड़खिड़ करते दाँतों में बदल जाती । इस तरह दिन-प्रतिदिन मेरा साहस बौना होता गया । इसका परिणाम यह हुआ कि मैं सम्भला-सम्भला रहने लगा । इस पर माँ ने समझा कि बेटा सयाना हो गया है और उसने मुझे कहानी सुनाते-सुनाते अपने साथ सुला लेना बन्द कर दिया ।

—फिर ? पत्नी इस बार शायद मन ही मन हँसी भी है ।

उसकी हँसी मुझे भली लगी है और उससे भी अच्छा यह कि वह मेरी बातों में रुचि ले रही है । इसमें मेरा मंतव्य पूरा होने की सम्भावना थी । मुझ पर उल्लास छाने लगा है ।

—फिर क्या होना था, मैंने लापरवाही से कहा है—मैं बड़ा होने लगा और लगातार बड़ा होता गया । स्कूल के बाद कुछ साल कालेज में भी गुजर गये । पर मेरी समस्या हल नहीं हुई । हालांकि मुझे बड़ा होने का अनुभव भी हुआ और मैं समझ भी गया कि माँ के कहे मुताबिक बड़ा होना क्या होता है । शरीर को लेकर मुझे उन तथ्यों का भी ज्ञान हुआ जिनके सन्दर्भ काम और वासनात्मक सूत्रों में

व्यापक और भाव-प्रधान हैं। ये कितने अच्छे हैं और कितने बुरे, यह तो बताने की जरूरत नहीं। तुम समझती ही होगी। पर मुझे लगा कि ये बुरे हैं, तो भी मेरी मुराद के पक्ष में जाते हैं और अच्छे हैं तो भी। अब देखो न, ये बुरे हैं तो अच्छे क्यों लगते हैं ? और अगर अच्छे ही हैं तो इनका सीधा सम्बन्ध नग्नता से है और इनकी प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया नग्नता से ही जुड़ी हुई है, तो निर्वस्त्र रहने में हिचकिचाहट क्यों ? इसलिए मुझे लगा कि हम वस्त्र इसलिए पहनते हैं कि ये पहने जाते हैं। माता-पिता हमें जन्म से ही वस्त्र पहनाने लगते हैं और फिर यह हमारी आदत बन जाती है। परन्तु आदत तो कोशिश करने पर छोड़ी भी जा सकती है, मैंने सोचा और इस बारे में दूसरों की राय लेने के लिए अपने सहपाठी लड़के-लड़कियों से विचार-विमर्श करने लगा। क्योंकि उन दिनों हमारे बीच कोक-शास्त्र बहुत लोकप्रिय पुस्तक थी। मैंने महसूस किया कि लड़के-लड़कियाँ उसे पढ़ते नहीं सिर्फ तस्वीरें देख-देख कर ही लार टपकाते रहते हैं। इसलिए मुझे लगा कि नग्नता में उनकी रुचि को अपने इरादे से झाँपकर देखा जाये। पर कोई भी मुझसे सहमत नहीं हुआ। लड़कियों में से ज्यादातर से झगड़ा ही हो गया। लड़के भी नग्नता को लेकर दुराव-छुपाव के ही समर्थक थे। मगर इस व्यवहार का कोई साफ कारण उनके पास भी नहीं था। अपनी बात समझाने के लिए मेरे एक मित्र ने तो बहुत ही मजेदार किस्सा भी सुनाया और किस्सा सुनाकर बोला····खैर, पहले मैं तुम्हें वह किस्सा सुनाता हूँ।

एक थे औघड़ बाबा। काली कमली वाले। जटाजूट। बाल ब्रह्मचारी। फक्कड़ यातरु। ओजस्वी मगर क्रोधी। समझ लो परशुराम का अवतार।

एक बार जिस ग्राम-प्रान्त के बाहर उन्होंने डेरा डाला उसमें एक गणिका भी रहती थी। ग्राम के वृद्धजनों ने बाबा से अनुरोध किया कि वे गणिका को भी समझाएँ और ग्राम के रसिया युवकों को भी क्योंकि इसका प्रभाव सम्पूर्ण ग्राम-प्रान्त के चरित्र पर पड़ रहा था।

औघड़ बाबा ने ग्राम के समस्त रसिकों को चौपाल में एकत्र करके गणिका को भी वहाँ बुलवा भेजा। वह उनके मध्य आकर खड़ी हो गयी तो बाबा ने कहा—तुम जानती हो देवी, ऐसा करके तुम किस महापाप की भागिनी बन रही हो ?

—पाप नहीं बाबा, गणिका बोली—यह मेरा व्यवसाय है।

—शरीर, नून-तेल-लकड़ी आदि के समान कोई वस्तु नहीं। प्रकृति की यह रचना प्रत्येक प्राणी के पास धरोहर के रूप में आत्मा के लिए सुरक्षित है। इसे न तो किसी को बेचने का अधिकार है और न ही खरीदने का।

—यह उपदेश मुझे ही क्यों दिया जा रहा है, इन्हें भी समझाइए जो मुझे अधिक से अधिक दाम देकर खरीदने को अपना सम्मान समझते हैं।

—तुम्हें मैं शोषित मानकर समझा रहा हूँ, इन्हें अपराधी समझकर प्रताड़ना दूंगा। इनके लिए दण्ड का प्रस्ताव मैं नहीं रख सका क्योंकि इस व्यवहार में दोष तुम्हारा भी है। तुमने इसे जीविका का साधन बनाया हुआ है।

—इसमें मेरा क्या दोष है बाबा। मेरा रंग-रूप ही ऐसा है कि लोग आकर्षित हुए चले आते हैं। मैं इसका सदुपयोग करती हूँ।

—इतना ही दर्प है तुम्हें अपने रूप पर ?

—हाँ बाबा, ये संसारी तो क्या कभी आपको भी अवसर मिले तो लोभी हो जायें।

गणिका की चुनौती पर बाबा का तीसरा नेत्र फड़कने लगा। वह हुँकारकर बोले—परीक्षा लेना चाहती है हमारी इस रूप के जरिये ? तू वही कुछ है न जो मैं देख-सुन रहा हूँ ?

—मेरा लावण्य अभी आपने देखा ही कहाँ है ?

—तो दिखा अपना लावण्य जो दिखाना चाहती है। तू प्रकृति की बेटी नहीं कामुक की सन्तान है।

गणिका भी ताव खा गयी। अब तक उसका पल्लू सिर तक ढका हुआ था। उसने आव देखा न ताव, सिर से पल्लू हटाकर धीरे-धीरे मुस्कराती बड़ी मनमोहक अदाओं से एकत्रित जन समूह को उत्तेजित करती एक-एक वस्त्र उतारने लगी। औघड़ बाबा और अन्य जन मौन खड़े उसे घूरते रहे जैसे अभी-अभी तुम बैठी बल्ब को घूर रही थी। उसमें मैं शायद तुम्हें निर्वस्त्र दिखाई दे रहा था। क्यों ?

—तुम किस्सा पूरा करो, पत्नी ने कहा है।

—औरत की बात तो तुम ध्यान से सुनोगी ही, मैंने कहना शुरू किया है—समस्त बाह्य वस्त्र उतारने के बाद वह गणिका केवल अंगिया और जाँघिया पहने अत्यन्त उत्तेजक मुद्रा में खड़ी हो गयी। उसने औघड़ बाबा की ओर देखा। उनकी आँखों में लालम-लाल डोरे खिच गये। वह क्रोध से काँपते हुए चीखे—खड़ी देख क्या रही है अभद्र। अब इन्हें भी उतार।

गणिका ने अंगिया भी उतार दी और कुछ कदम आगे जाकर बाबा के समीप जा खड़ी हुई। बाबा ने उसे देखा, मुस्कराये और पलक झपकते ही कड़क उठे—बस, यही है तेरे रूप दर्प की सीमा ? तेरा आकर्षण ? उतार, अब इस शेष वस्त्र को भी उतार और दिखा अपनी अंधेरी गुहा ताकि इन सबको तुझसे घृणा हो जाये और तुझे अपने आप से दुर्गन्ध आने लगे।

—फिर ? पत्नी की उत्सुकता बढ़ गयी है।

—फिर यह किस्सा सुनाकर मित्र ने कहा—अंततः औघड़ बाबा ही विजयी हुए। क्योंकि लोग नंगे रहने लगें तो महिलाएँ पुरुषों से और पुरुष महिलाओं से घृणा करने लगें और इस घृणा का मतलब है कि सृष्टि ठप्प हो जायेगी।

—इसके बाद भी तुम किस्से को दोहराना चाहते हो ? पत्नी ने पूछा है।

—तुम इस तरह के मनघड़न्त किस्सों पर विश्वास करती हो ? यह तो बात में से बात निकली और मैंने किस्सा सुना दिया। अब उसी किस्से को तुम इस तरह से मोड़ लो कि⋯⋯उसके बाद औघड़ बाबा अपनी समस्त औघड़ता भूलकर उस

गणिका का शृंगार करने लगे, तो किस्से की दिशा ही बदल जायेगी। मैं इस पर विश्वास नहीं करता। क्योंकि पिछले दिनों मैंने बाजार में एक आदमी देखा। उसने केवल कमर और जाँघों के बीच एक पतली सी घुमावदार पट्टी पहन रखी थी। वह इधर-उधर चक्कर काटता कभी उछलने लगता····कभी नाचने लगता····कभी गाने लगता। बाजार में बहुत से लोग थे। उनमें औरतें भी थीं। सभी उस पर हँस रहे थे और तरस भी खा रहे थे। यह हम लोगों की आदत हो गयी है कि पहले तो दूसरे के नंगेज पर हँस लो और फिर खुद को दयानतदार साबित करने के लिए उस पर रहम भी जता लो। मैं भी उन्हीं में था पर मैं उनके चेहरे भी पढ़ रहा था। मुझे लगा कि वे हँस इसलिए रहे थे कि वह उल्टी-सीधी हरकतें कर रहा था और सहानुभूति इसलिए जता रहे थे कि एक भला-चंगा नवयुवक पागल हो गया। उसके नंगेपन पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। तब मालूम है मैंने क्या किया। उसे पास बुलाकर दो का नोट दिखाते हुए मैंने कहा कि वह अपनी पट्टी भी खोल दे, तो मैं उसे दो रुपये दूंगा। उसने लगते हाथ दो का नोट पकड़ा और बेहिचक पट्टी खोल, कन्धे पर डालकर चल पड़ा। मुझे किसी ने नहीं टोका। सब मजा लेते रहे। और यह गौर से सुन लो, मैं फिर कह रहा हूँ कि उनमें औरतें भी थीं और मैं दावे से कह सकता हूँ कि उनके मन में इस मानसिकता के प्रति वितृष्णा जैसी कोई भावना उत्पन्न नहीं हुई। वे सब चटकारे ले लेकर देखती रहीं। हाँ, अलबत्ता जिस तरफ वह जाता उस ओर की औरतें इधर-उधर दुबक जरूर जाती थीं।

अब तुम कह सकती हो कि वह पागल था इसलिए लोगों ने उसे गम्भीरता से नहीं लिया और उसे भी मेरी बात मान लेने में कोई मुश्किल नहीं हुई। पर मैं समझता हूँ कि वह आदमी पागल नहीं था। मेरे कहने पर उसने रहा-सहा कपड़ा भी उतार दिया मगर दो रुपये लेकर। इसका मतलब है कि उसे मालूम था कि दो रुपये उसके काम आ सकते हैं। इसलिए मैं कह सकता हूँ कि लोगों ने एक होश-हवास में घूमते आदमी को नंगा देखा पर उसे पागल करार देकर टाल दिया।

पत्नी ने कुछ क्षण चुप रहकर कहा है—मजबूरी आदमी से क्या कुछ नहीं करवा देती। इस बार पत्नी का स्वर उदास है।

—तुम बात को पकड़ नहीं पा रही, मैंने कहा है—पर चलो तुम्हारी बात ही मान लेता हूं। लेकिन तुम जानती हो कि दुनिया भर में कई जगहें ऐसी हैं जहाँ लोग अभी भी नंगे रहते हैं। मुझे तो नहीं लगता कि उन्हें दिक्कत पेश आती होगी। कभी तुम उन लोगों से मिलो तो बजाय इसके कि तुम्हें उनकी निर्वस्त्रता पर हँसी आये, वे तुम्हारे वस्त्र देख-देखकर हँसते रहेंगे। नग्नता का उनके लिए कोई अर्थ नहीं।

—उन लोगों को अभी सभ्य होना है।

—अगर यही बात है तो बड़े-बड़े देशों में सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए लोग निर्वस्त्र रहने के लिए लाखों रुपये क्यों खर्च करने लगे हैं? न्यूड क्लब, न्यूड होटल, न्यूड होम और न्यूड सिटी न जाने क्या-क्या बना लिया है उन्होंने।

—यह उनके मन का विकार है। वे नग्नता के अर्थ को ही नहीं समझते।

—यही तो मैं समझना चाहता हूँ। यह समझ आखिर क्या बला है ?

—सम्बन्धों के बीच आँख का पर्दा, हया या शालीनता जो भी कह लो।

—ये सब ढकोसला है। कोई इसकी परवाह नहीं करता। इस समय हम जिस घर के एक कमरे में हैं उसमें रहने वाले सभी जन जानते हैं कि यहाँ हम क्या करेंगे।

—फिर भी जो कुछ हमने करना है उनके सामने नहीं कर रहे जबकि उनकी स्वीकृति भी हमारे साथ है। यही वह मर्यादा है जो हमारे हर सम्बन्ध के मध्य रिश्ते के अनुकूल सम्मान बनाये रखती है।

—पर क्या पति-पत्नी में भी सम्मान के इस तकाजे की जरूरत है ?

—पति और पत्नी केवल पति-पत्नी ही तो नहीं होते। उनके बीच का दाम्पत्य अपने आप में एक दूसरे के प्रति सम्मान की भावना ही तो है। इसे तिलाँजलि दे दी जाये तो यह सम्बन्ध भी अश्लील हो जाये और फिर साहचर्य तथा व्यभिचार में कोई अन्तर ही न रहे।

—व्यभिचार का नग्नता से क्या तालमेल है ?

—वही जो ग्रामीण रसिकों का गणिका के साथ था।

—और यह जो मैं तुम्हें निर्वस्त्र होने के लिए कह रहा हूँ ?

—यह तुम्हारा हठ है। इसके पीछे कोई अनुचित कारण हो सकता है लेकिन वह व्यभिचार नहीं क्योंकि हम पति-पत्नी हैं।

—और अगर हम पति-पत्नी न होकर आपसी तौर पर सिर्फ औरत-मर्द होते तो ?

—तो तुम्हें ऐसा हठ करने की नौबत न पड़ती, पत्नी कुछ तुनक गयी है—मुझे तो समझ नहीं आ रहा कि तुम क्या समझकर क्या करना चाहते हो।

मैं सोचने लगा हूँ कि मैं क्या चाहता हूँ और मैंने पाया है कि मेरी कामना अब जल्दी ही कोई निर्णय ले लेना चाहती है। मैं नहीं चाहता कि इस समय हमारे बीच कोई तकरार हो, क्योंकि इसके लिए उसका सहयोग जरूरी है और मामला खटाई में पड़ता दिखाई दे रहा है। वह भी मीरा जी की तरह नाराज हो गयी, तो गड़बड़ हो जायेगी। वह भी इसी बात पर आकर बिगड़ गयी थी। मैं कुछ हड़बड़ा गया हूँ। फिर भी मैंने बिगड़ते खेल को सम्भालने की कोशिश करते हुए कहा है—मैंने कुछ उल्ट-सुल्ट कह दिया हो तो मुझे इसका खेद है। पर तुम भी कहीं मीरा जी की तरह नाराज न हो जाना।

—यह मीरा जी कौन हैं ? पत्नी ने झट पूछा है।

—हमारे पड़ोस में रहती थीं। एक बार मेरी उनसे इसी विषय पर खूब बहस हुई। मैंने पत्नी के संदेह को ताड़कर भी उसे अभिमान न देते हुए अपनी बात जारी रखी है।

—उस उमर तक मैंने सिर्फ सुना ही था कि कुछ साधु लोग वस्त्र त्याग देते हैं। उन्हीं दिनों एक बार पार्क वाले चौराहे पर मैंने देखा, एक नंगधड़ंग साधु चला आ रहा था। उसके पीछे-पीछे कई औरत-मर्द बड़े श्रद्धाभाव से चल रहे थे। मैं रुक गया। उसे देखकर मुझे आश्चर्य भी हुआ और हर्ष भी। साधु के हाथ में एक मोर-पंखी थी। आते-जाते लोग रुकते, साधू के पास जाते, उसके पाँव छूते और सिर पर मोर-पंखी की थपकी लेकर कृत-कृत हो जाते। उसकी नग्नता की तरफ मानो किसी का ध्यान ही नहीं था। यह मुझे अच्छा लगा। मैं वहाँ खड़ा उसे तब तक देखता रहा जब तक वह सड़क का मोड़ पार करके आँखों से ओझल नहीं हो गया। पर इतने से मुझे सन्तोष नहीं हुआ। मेरा मन हो रहा था कि मैं भी कपड़े उतारकर उसके साथ-साथ चलने लगूँ। इसी भावावेश में मैं उसके पीछे जाने को ही था कि महीन-सा स्वर सुनाई दिया—क्या बात है। बड़े गौर से देख रहे हो?

मैं पीछे मुड़ा तो देखा मीरा जी खड़ी थीं। मैं तो घबरा ही गया। कालेज में पहले पढ़ाती भी रही थीं।

—लगता है कुछ सोच रहे हो? उन्होंने फिर पूछा।

पहले तो मेरे मन में आया कि उन्हें टाल जाऊँ लेकिन फिर मुझे लगा कि वह काफी पढ़ी-लिखी हैं शायद मुझे कुछ बता सकें। उनकी मेरी खुली बातचीत थी। शादी से पहले जब तक हमारे मुहल्ले में रहीं मुझे पकड़-पकड़कर जबरदस्ती अपने घर ले जाती थीं। क्योंकि उनके प्रेम-पत्रों का डाकिया मैं ही होता था। इसलिए मैंने कह ही दिया—मैं सोच रहा था कि हम सब भी ऐसे ही निर्वस्त्र रहने लगें, तो कैसा रहे?

—यह तो बड़ी भद्दी बात होगी।

—तो फिर वह साधु निर्वस्त्र क्यों रहता है?

—जिस धर्म के माध्यम से उसे ज्ञान प्राप्त हुआ और वह इतना सिद्ध पुरुष हो गया कि लोग उसे पूजने लगे वह उसी के सिद्धान्तों का पालन करता है। मीरा जी ने मुझे अपने साथ चलने का संकेत करके बिलकुल कक्षा का सा वातावरण बनाते हुए कहा—यह तो तुम देख ही चुके हो कि उसके अनुयायी भी उसकी तरह नहीं रहते और न ही वह उन्हें ऐसा करने को कहता है।

—पर वे ऐसे रहना पसन्द जरूर करते होंगे।

—तुम्हें वहम है। ऐसी कोई बात नहीं।

—इसके अलावा भी तो नग्नता के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ रहा है। कोठे, कैब्रे, अश्लील फिल्में, स्वतन्त्र समाज स्थापित करने की मुहिम आदि से उनकी रुचि की झलक तो मिल ही जाती है।

—आदमी जो कुछ खुले तौर पर नहीं कर पाता उसके प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक है। परन्तु हर आकर्षण में निजी विचार और भावना का संसार होता है। जिस आकर्षण में यह संसार नहीं होता वह अनावश्यक हो जाता है। नग्नता

के प्रति उनके इस अनावश्यक आकर्षण का आधार उनकी अपनी वासनात्मक विकृतियाँ हैं। इस रूप में वे बीमार लोग हैं। वरना तुम्हीं बताओ कोई अपनी बहु-बेटी को उसी रूप में देखना पसन्द क्यों नहीं करता, जिसमें कि दूसरों को।

—आप केवल पुरुषों को ही ले रही हैं। महिलाएँ भी तो अपवाद नहीं।

—पुरुष हो या महिलाएँ; आवश्यकता की प्राकृतिक सीमा तक उन दोनों के बीच वासना और नग्नता एक दूसरे के पूरक हैं और इस मानसिक स्तर पर स्वस्थ भी। हमारी संस्कृति तो इस अवस्था को पवित्र भी कहती है। उन क्षणों में स्त्री-पुरुष स्रष्टा के प्रतिनिधि के रूप में रचयिता हो जाते हैं। पर इसकी उपेक्षा करके अब कोई 'अन्धा' ही हो जाये तो क्या किया जा सकता है।

—यह अन्धापन बढ़ता क्यों जा रहा है ?

—सब कुछ तुम्हारे सामने है फिर भी नहीं समझ रहे तो यही कहा जा सकता है कि यह तुम्हारे जैसे लोगों की वजह से ही पनप रहा है।

—यानी आपका फैसला है कि नग्नता ठीक नहीं। वस्त्र जरूर पहने जाने चाहिए ?

—बिल्कुल।

—भले ही वे बरायेनाम क्यों न हों ?

—बरायनाम किस तरह ?

—जैसे कि आपने पहने हुए हैं। कोई भी राह जाता आदमी रंग-रूप से लेकर आपके शारीरिक आँकड़े तक बता सकता है।

—यह फैशन है।

—इस तरह के फैशन का कोई लाभ ?

—फैशन लाभ या हानि को नहीं देखता।

—अब यह फैशन ही निर्वसनता की माँग कर रहा है। फैशन की होड़ में हर सीमा टूट रही है। आप भी ऐसा ही क्यों नहीं करतीं ?

—मेरा विवेक इसकी अनुमति नहीं देता।

—परन्तु विवेक के नाम पर सिर्फ कुछ टुकड़े बाँध या लटका लेना भी कहाँ तक उचित है जबकि हर स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के शारीरिक ढाँचे से बखूबी परिचित होता है। इसलिए मुझे लगता है कि अच्छे से अच्छा फैशन किया ही इसलिए जाता है कि फिर निर्वस्त्र हुआ जा सके। अगर सभी निर्वस्त्र रहने लगें तो सब कुछ साधारण होने पर विकार जैसे किसी दुराग्रह का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

—अब मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ। मीरा जी पहले तो लगा कि मेरी बातों से ऊब गयी हैं लेकिन फिर सहसा चुस्त होकर बोलीं—तुमने कभी किसी को निर्वस्त्र देखा है ?

—अभी-अभी उस साधु को देखा था।

—और किसी को ?

—खुद को देखा है।

—किसी लड़की को नहीं ?

—नहीं।

—देखा होता तो शायद ऐसी बातें न करते।

—देख पाने से कोई जानकारी मिल सकेगी ?

—हर नया अनुभव कुछ न कुछ तो सिखाता ही है।

—आप मेरे लिए ऐसा कर सकेंगी ?

—तुम अच्छे मूढ़ हो, मेरी बात पर मीरा जी एकदम आग-बबूला हो उठीं। कहने लगीं—तुम शिष्टाचार तक को नहीं समझते, तो नग्नता और विवेक को खाक समझोगे। लगता है सैक्स तुम्हारे दिमाग में घुस गया। नग्नता को समझने से पहले यह समझो कि सम्बन्ध क्या होते हैं। उनका इसके साथ क्या ताल-मेल है और एक स्वस्थ जीवन के परिवेश में इसके क्या गुण-दोष हैं। जरा सोचकर देखो, तुम अपनी माँ से कह सकोगे कि वह तुम्हें निर्वस्त्र होकर दिखाये या बहिन से ? जरा अपने दिमाग को साफ करो पहले। तुम खुद ही विकृतियों के शिकार हो।

—फिर ? इस बार पत्नी की हँसी की खनक कमरे में खनखना गयी है। उसने हँसते-हँसते ही कहा है—फिर तुम्हारा दिमाग साफ हुआ कि नहीं ?

—साफ हुआ होता तो आज अवसर मिलने पर तुमसे हठ क्यों करता ? और इसके बाद सुनाने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं। अब तुम मेरा हठ पूरा कर सकती हो।

—बत्ती जलाकर तो देखो।

—तुम·······यानी कि तुम ? मैं अवाक् रह गया हूँ। मेरी नस-नस पुलकने लगी है। मैं पलंग के गिर्द टहलना छोड़ बत्ती जलाने के लिए बटन की तरफ लपका हूँ। पर अचानक मेरे पाँव शिथिल हो गये हैं। मेरा उल्लास तट की किसी कठोर चट्टान से टकराकर लहूलुहान पछाड़ खा रहा है। मेरा अंग-अंग मानो बुरी तरह से गोदा जा रहा है। शरीर गोदने वाली मशीन की घूँगियाहट की भाँति भिनभिनाने लगा है। मैं समझ नहीं पा रहा कि यह क्या हो गया है। कुछ देर पहले तो वह शायद दुआ कर रही थी कि अचानक जमीन फटे और वह उसमें समा जाये और अब बातें करते-करते अपने आप निर्वस्त्र हो गयी है। मुझसे रहा नहीं गया। मैंने पूछ ही लिया है—यह अचानक तुम निर्वस्त्र कैसे हो गयीं। मैं कहता रहा तब क्यों नहीं मानीं ?

—मुझे तुम्हारी उतावली नहीं जँची थी और मैं सिर्फ तुम्हारे लिए भी निर्वस्त्र नहीं होना चाहती थी।

—फिर मेरे लिए नहीं तो और किसके लिए निर्वस्त्र होना चाहती थी ?

—अपने लिए भी।

—अपने लिए कैसे ?

—नग्नता का स्वभाव है काम और वह मेरी अपनी आवश्यकता भी तो है जैसे तुम्हारी।

—तुम अपने लिए निर्वस्त्र हुई और मैं कहूँ कि मैं अपने लिए, तो इसका अर्थ हुआ कि हम दोनों अपने-अपने स्वार्थ लेकर यहाँ आ मिले हैं।

—स्वार्थ वहाँ होता है जहाँ हम किसी की हानि या अपने मतलब के लिए किसी से विश्वासघात कर रहे हो। हमारा अपने-अपने लिए निर्वस्त्र होना वास्तव में एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण है ताकि हमारी नग्नता हमारे स्वभाव की पूरक बन सके····वह भी उस पुल की तरह जिसके एक सिरे से चलकर जितना आगे बढ़ते जाओ, तो पीछे का भाग चलने वाले के हर कदम के साथ-साथ उसी में लीन होता जाये। समझ लो नग्नता एक ऐसा माध्यम है जिसका आनन्द के क्षणों में कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

—तुम्हारा मतलब है कि यह नगण्य है ?

—मुझे तो ऐसा ही लगता है !

—फिर तुमने यह क्यों कहा कि तुम अपने लिए भी निर्वस्त्र हुई हो ?

—मैं बलात्कार नहीं, सहवास चाहती हूँ।

मेरे कानों में बे-आवाज सीटियाँ बजने लगी हैं। मेरा माथा बन्द सुराख वाली सीटी में पड़ी कार्क की तरह दीवारों से टकराता खाली-खाली फुरफुराने लगा है। क्या यही है वह विवेक जिसे मैं जानकर भी अनजान था। यह मेरे जहन में पहले भी कहीं था और उस दिन शायद मन होने के बावजूद यही आड़े आ गया था, जबकि मेरी तथाकथित प्रेमिका मेरे बार-बार कहने पर मेरे लिए निर्वस्त्र होने को तैयार होकर तेजी से बोली थी—जो कुछ देखना है जल्दी से देख लो ! और मैं, हालाँकि बहुत से इरादे लेकर उसके घर गया था किन्तु कुछ भी तो नहीं कर पाया। उसी क्षण उल्टे पाँव वापस आ गया था।

वह क्या था और यह क्या है ? नग्नता का आकर्षण यदि मानसिक स्थिति से भी जुड़ा हुआ है तो स्वस्थ मनःस्थिति में इसका मूर्त रूप बेहतर है या इसकी अनुभूति ही ? मैं लगातार सोच रहा हूँ और मुझे पत्नी की जानकारी पर आश्चर्य होने लगा है। मैं जानता हूँ कि उसे नग्नता का यह आभास कहाँ से और कैसे मिला। इसलिए इस बार फिर पूछे बिना नहीं रह सका हूँ।

—तुमने ये सब कैसे जाना, मैंने पूछा है—इस अनुभव के पीछे तुम्हारी अपनी कोई कहानी नहीं ?

—इस मामले में हर औरत अपने-आप में एक कहानी होती है।

—और आदमी ?

—कभी दर्शक, कभी श्रोता, कभी कर्ता और उसके बाद तुम्हारी तरह घटनाएँ सुनाता फिरता है।

—इस अन्तर की वजह ?

—गर्भ धारण करना कोई मामूली सी बात तो नहीं ?

मेरे समक्ष बहुत कुछ खुलने लगा है, साफ हो रहा है। इसका तात्पर्य हुआ कि स्वाभाविक अवस्था में कोई निर्वस्त्र होकर भी नग्न नहीं होता ? और मात्र वस्त्र न पहनकर नग्नता के पुलाव पकाना और कोहरे में उल्टबांसियाँ खाना, अपने-आप में एक दूसरे से विभिन्न और विपरीत हैं। तो फिर इस विकृति का स्रोत कौन-सा है ? सोचता हुआ मैं आकर पलंग पर बैठ गया हूँ।

—अब गुमसुम से हुए सोच क्या रहे हो ? पत्नी का स्वर बड़ा आत्मविश्वास पूर्ण हो उठा है—जला लो बत्ती।

—कुछ नहीं, सोचना क्या है। मैंने कहा है। पर मैंने भली-भांति सोच लिया है और बिना कोई देर किये, पत्नी की बगल में लेटते हुए कहा है—चलो छोड़ो, ऐसे ही ठीक है····।

[वन्दना–2, मई–जून 1976]

राजेन्द्र राव

नौसिखिया

उसने बांक में डेढ़ इंची सरिया बांधी और हैकसॉ से अपने लिए टुकड़ा काटने लगा। उस समय तक मशीन शॉप में काम चालू नहीं हुआ था। मशीनें अभी सो रही थीं, वर्कर कपड़े बदल रहे थे। टेरीकॉट की पेंटें उतार कर मैले खाकी एप्रन पहन रहे थे।

उसे भी खाकी ओवरआल मिल सकता था, मगर वह नहीं चाहता था। जो कपड़े पहन कर आया था, उन्हीं में काम करने लगा। उसे खाकी से चिढ़ थी, लेकिन आगे चलकर उसे अपने विचार बदलने पड़े, जब उसकी बहनों ने उसके उतारे कपड़ों से आने वाली पसीने की सख्त बू, काले धब्बों और तेल के छींटों से परेशान होकर पूछा, 'भैया, आप कपड़े क्यों खराब कर लाते हैं, क्या हाथ से काम करना पड़ता है?'

इन्जीनियरिंग कॉलेज में भी वर्कशाप की खाकी ड्रेस होती थी। मगर वहाँ कलफ लगी पहन कर जाते और वैसे ही लौट आते थे। वहाँ भी मशीन शॉप थी, अन्य कई शॉप थीं, मगर मस्ती में काम होता था। आधे से अधिक और कभी-कभी तो पूरा ही जॉब इंस्ट्रक्टर लोग बना देते थे। इम्तहान के मौके पर सारे स्टूडेन्ट चन्दा करके इंस्ट्रक्टरों को खिला-पिला देते थे, पिक्चरें दिखा देते थे—सबका बेड़ा पार।

वहाँ इंस्ट्रक्टर आई० टी० आई० पास टैक्नीशियन होते थे। इन्जीनियरिंग कॉलेज में उनकी कोई पूछ नहीं होती थी। वे छात्रों के अभिजात में यूं ही दबे-सहमे रहते थे, सख्ती करना तो दूर की बात रही।

वह कॉलेज के दिनों की याद में डूबा हैकसॉ चलाये जा रहा था। लोहा बहुत धीरे-धीरे कट रहा था। उसने पहले जॉब की ड्राइंग देखी। दुनिया भर के ऑपरेशन उसमें करने थे। वह अधीर हो उठा। आरी चलाने की रफ्तार बढ़ाता गया। अंधाधुंध। ब्लेड के दाँते खराब होते गये। लोहा कटना बन्द हो गया। उसे जब तक अपनी गलती पता चले भन्न से ब्लेड टूट गया।

वह शर्मसार होकर इधर-उधर देखने लगा। उसे लगा कि आसपास के

वर्कर उसकी हँसी उड़ा रहे हैं। मगर किसी का भी ध्यान उसकी तरफ नहीं था। वह पसीने में तर-बतर हांफता हुआ, हैकसॉ में दूसरा ब्लेड चढ़ाने लगा।

लोहा फिर कटने लगा। गर्मी के दिन थे। उसकी बनियान और बुश्शर्ट भीग कर चिपक गयी। उसने बुश्शर्ट उतार कर टाँग दी। कुछ राहत-सी मिली।

कुछ देर लगातार आरी चला कर उसने अपना पीस काट लिया। साढ़े पाँच इंच का सरिये का टुकड़ा। दिये गये स्केच की सहायता से मार्किंग करनी थी। जॉब को लेथ में बाँध कर स्टेप टर्निंग करनी थी। फिर टेपर बनाना था। फिर ड्रिलिंग। उसे जरा भी भरोसा नहीं था अपने पर, कि यह सब वह कर पायेगा। पसीने की धारें बह चलीं····

□

जिस दिन उसे ज्वॉइन करना था, वह सुबह बहुत जल्दी उठ गया। शायद जिन्दगी में उग रहे नये सूरज को देखने के चाव से। रात भर सपनों की तस्वीरें देखता रहा था। अल सुबह उसने शेव बनायी। नहा-धोकर बना-संवरा। कई बार अपाइटमेंट लेटर को हैंडबैग में रखा और बाहर निकाला। गुनगुनाहट थी कि बन्द होने का नाम ही नहीं लेती थी। आखिर सात बजे वह बैग लेकर निकलने को हुआ।

घर की देहरी लांघने से पहले माँ ने उसे ठाकुर जी की मूर्ति के सामने हाथ जोड़ने, मत्था टेकने को बाध्य किया। रोली-चन्दन का टीका माथे पर लगाया। उसके घर के लोग आँखों में चमक के साथ उसे जाते देख रहे थे। माँ ने ठाकुर जी की मूर्ति से कहा, 'धन्न भाग प्रभो, तुमरी कृपा से यह दिन देखने को मिला।'

बात सच थी। डिग्री पास करने के बाद अठारह महीने वह घर बैठा रहा था। जाने कितनी एप्लीकेशन, पोस्टल आर्डर, लिखित परीक्षा, इन्टरव्यू झेल कर यह मुबारक दिन आया था। इस दिन के लिए उसके परिवार ने बरसों अभाव में गुजारे थे।

बी० एस-सी० के बाद उसे इंजीनियरिंग पढ़ाने का निर्णय उसके पिता ने अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध लिया था। इन चार साल में उनकी कमर टूट गयी। महँगाई दिनों-दिन बढ़ती जाती थी, वह था, पाँच बहनें थीं। सबके सब पढ़ने वाले। बिना छौंकी दाल, राशन के लाल गेहूँ की रोटियाँ, फटे कालर वाली कमीजें, तार-तार धोतियाँ। उसकी बहनें अक्सर कन्ट्रोल के मोटे हरे खद्दर के कुरते-पायजामे पहने रहती थीं। मुश्किल से मुश्किल वक्त आया, मगर उसकी पढ़ाई नहीं रुकी। पिता ने अपनी खूनी पेचिस को आंतों में ही समेटे रखा। इलाज नहीं करवाया। माँ टूटे फ्रेम वाला चश्मा पहन कर काम चलाती रहीं। नया नहीं खरीदा गया। इसके अलावा दफ्तर से हर तरह का लोन उसके पिता ने ले रखा था। पठान से सूद पर

रुपया लेने की नौबत आयी, तो उसकी माँ ने नहीं माना, अपने जेवर दे दिये।

ये कष्ट भरे दिन उन्होंने रो कर नहीं हँस कर काटे थे। उम्मीद उनका संबल होती थी। वह था भी मेधावी। हाई स्कूल से बी० ई० तक हमेशा फर्स्ट डिवीजन में पास होता रहा था। मुहल्ले-पड़ोस के लोग अपने बच्चों को उसकी नजीर दिया करते थे।

□

उसके मैनेजर ने मशीन शॉप में ले जाकर उसे चार्जमैन से मिलवाया, तो उसे निराशा-सी हुई। शॉप के एक कोने में तीन-चार अल्मारियों का पार्टीशन-सा बना कर उसके बैठने की जगह बनायी गयी थी। छोटी-सी मेज और एक लोहे की फोल्डिंग चेयर। उसने अपने लिए अलग केबिन और बड़ी-सी मेज की कल्पना की थी। और बाहर स्टूल पर बैठा एक चपरासी। यहाँ वैसा कुछ नहीं था। बहुत बड़ा हैंगर था, मशीनों और आदमियों से भरा हुआ।

वह मैकेनिकल इन्जीनियर जरूर हो गया था, फिर भी काम की जगह को वह दफ्तर ही समझता आया था। उसके पिता क्लर्क थे। हमेशा 'दफ्तर जा रहा हूँ' कहते आये थे। यही संस्कार उस पर हावी था।

चार्जमैन के साथ एक-एक करके सब वर्करों से मिला। उसने मुस्करा कर हरेक से हाथ मिलाया और हरेक को जता दिया कि आई पास्ड डिग्री इन मैकेनिकल इंजीनियरिंग, ताकि किसी को मुगालता नहीं रहे और उसे उचित सम्मान मिले। उसने पाया कि हरेक के हाथ गन्दे और चिकने हैं। सबसे हाथ मिलाने के चक्कर में उसके हाथ तेल में सन गये। बड़ी दिक्कत महसूस हुई, न जेब में हाथ डाल सकता है, न जेब से रूमाल निकाल सकता है।

थोड़ी ही देर में उसे मालूम हो गया कि शॉप के लोग उसका स्वागत करने के मूड में नहीं हैं। वजह भी मालूम पड़ गयी। बात यह थी कि शॉप का चार्जमैन खरे बहुत सीनियर था और प्रमोशन की अपेक्षा रखता था। लेकिन असिस्टेंट फोरमैन की पोस्ट ओपन सलेक्शन में भरी गयी। डिग्री वालों के मुकाबले खरे को कौन पूछता। वह शायद नॉन मैट्रिक था। उसे लगा कि खरे उसके साथ मन-ही-मन शत्रुता का भाव रखता है।

वह कुर्सी पर बैठकर मेज के कागज पढ़ने लगा। हाजिरी रजिस्टर, फैक्ट्री आर्डर, जॉब आर्डर वगैरह। वहाँ ज्यादा सामान नहीं था। पढ़ चुका तो उठ कर मशीनें देखने लगा। कुछ विदेश से आयातित थीं, कुछ भारत में बनी एच० एम० टी० की। हर मशीन पर काम चल रहा था। साथ ही कटिंग आयल की फुहारें। टूल पर जलते तेल की गंध से उसका भेजा तर हो गया।

शॉप मैनेजर राउण्ड पर आया। मद्रासी था, फर्राटे की अंग्रेजी बोलने

वाला । मगर शॉप में आकर हिन्दी में बात कर रहा था । उसके हर सवाल का जवाब चार्जमैन के पास था । वह अदब में यूं ही खड़ा रहा । मैनेजर ने उसकी तरफ देखा भी नहीं । वह मन में बुरा मानता हुआ उनके साथ ही चलता रहा । मैनेजर मशीन पर काम करने वालों से दोस्ताना ढंग से पेश आ रहा था । अजनबी कोई है तो मैं ही हूँ, उसने सोचा । जाने क्या गुनाह किया है मैंने !

शॉप के आगे तक पहुँचा कर जब चार्जमैन लौट गया, तो उसने मैनेजर से पूछा, 'सर मेरी ड्यूटीज बता दीजिए ।'

'आप मशीन शॉप के इन्चार्ज हैं, यहाँ का काम आपको देखना है । कुछ दिन आब्जर्व करके इसके लिए तैयार हो जाइये ।' मैनेजर ने उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा, तो उसकी उद्विग्नता जाती रही । वह प्रसन्न चित्त शॉप में लौटा और चार्जमैन से उसने कहा, 'मुझे सब कुछ समझा दीजिए । कल से मैं ही सब देखूंगा ।'

उसे क्या पता था कि यह उसकी नौकरी की शुरुआत आखिरी प्रसन्नता है ।

□

दूसरे दिन ड्यूटी पर पहुँचते ही उसने हाजिरी का फार्म भरा । सब टैक्नीशियनों के नम्बर लिखकर अपने दस्तखत किये और टाइम ऑफिस भेज दिये । चार्जमैन लम्बे समय से यह काम करता आ रहा था । वह उसकी फुर्ती पर दंग रह गया । यह काम उसने अपने आप देखकर समझ लिया था । इसका महत्त्व भी । क्योंकि अक्सर टैक्नीशियन लेट आते थे और पैसे न कटें, इसके लिए चार्जमैन की खुशामद किया करते थे । अब चूंकि उसने हाजिरी भेज दी थी, इसलिए लेट आने वालों के बचाव की कोई सूरत नहीं रह गयी थी । लोग आते गये और वह उनकी लेट चिटें काटता रहा । वह उन पर अपने दृढ़ होने का प्रभाव डालना चाहता था ।

एक बूढ़े खरादी ने उससे कह दिया, 'बाबू दस मिनट के लिए पैसे काट कर तुमने अच्छा नहीं किया ।' उसने ऊपरी हँसी हँस कर जवाब दिया, 'बड़े मियाँ, लेट आना तो एक आदत होती है । अब न हम लेट आयेंगे । न किसी को आने देंगे ।'

कुछ देर सब लोग उसे देख-देख कर आपस में कानाफूसी-सी करते रहे, फिर मशीनें चालू हो गयीं । उसने चैन की सांस ली और जॉब आर्डर वगैरह पढ़ने लगा । कई कागजों पर उसने बतौर इन्चार्ज दस्तखत किये । यह सब कोई खास बुरा नहीं । उसने सोचा—अब मुझे हर मशीन की लोडिंग समझ लेनी चाहिए । ताकि मैनेजर राउंड पर आये, तो उसे बताया जा सके ।

वह उठने को ही था कि एक मिलर उसके पास आया । उसके हाथ में मिलिंग कटर था । साहब इस कटर की धार खराब हो गयी । इसे ग्राइण्ड कर दीजिए ।' उसने कहा ।

'क्या ? मैं ग्राइण्ड करूँ ! फिर तुम किसलिए हो !' उसने भौं चढ़ा

कर कहा।

'साहब जी, कटर ग्राइन्ड करना मुझे नहीं आता। जरा आप सिखा दीजिए।' वह बड़े नाटकीय ढंग से गिड़गिड़ा कर बोला।

उसे गुस्सा आने लगा था। फिर भी उसने रौब झाड़ना उचित नहीं समझा। नरमी से बोला, 'पहले कैसे करते थे ? क्या पहली बार काम कर रहे हो ?'

'साहब जी, मैं तो हेल्पर था, अभी हाल में मेरा प्रमोशन हुआ है। ऐसा कटर मैंने पहले नहीं देखा। आप सिखा देंगे तो बड़ी मेहरबानी होगी।' वह और अधिक गिड़गिड़ा कर बोला।

उसने खुद वह कटर पहले नहीं देखा था। इस्तेमाल करना तो दूर की बात रही। हाँ, वर्कशाप टैक्नालॉजी की किताब में उसका चित्र देखा था। धुंधली-सी स्मृति थी। बहुत कोशिश करने पर भी उसे कटर का नाम याद नहीं आया। लेकिन इस बात को वर्कर के सामने कैसे स्वीकारता। उसने कुछ झेंप कर कहा, 'जाओ, चार्जमैन साहब से पूछो।'

'उन्होंने तो आपके पास भेजा है।' झल्लाकर वह उठ खड़ा हुआ। मिलर के हाथ से कटर लेकर वह चार्जमैन के पास गया और चिढ़े हुए स्वर में बोला, 'देखिए यह वर्कर मुझे कटर ग्राइन्ड करने को कह रहा है। कहता है, आपने भेजा है।'

'जी हाँ,' चार्जमैन ठण्डे स्वर में बोला, 'बात ये है कि आज अपना टूल-ग्राइन्डर नहीं आया है। और मिलिंग में मेरी नालेज जरा कम है। मुझे आता तो मैं खुद कर देता। आपको आता हो तो कर दीजिए, नहीं तो....'

'नहीं तो क्या ?'

'नहीं तो सेटेलाइटवाला जॉब पिछड़ जायेगा। हमें जवाब देना पड़ेगा। आपको भी नहीं आता क्या ?' उसने बड़ी सहानुभूतिपूर्ण मुद्रा दिखायी, 'बात यह है कि पहले वाले असिस्टैण्ट फोरमैन अपने हाथ से काम करते थे। जाने कितनी चीजें हम लोगों को सिखा गये।'

वह इस स्थिति से उबरने का रास्ता खोजे कि एक और आ गया।

'मैं क्या फोरमैन साहब, मैनूं भी कुछ दस्सो। ऐ जॉब उत्थे पदताई नी।' उस खरादी के हाथ में एक आड़ा-टेढ़ा बड़ा-सा जॉब था। कोई भारी कास्टिंग। वह उसे मशीन पर बाँधने का तरीका पूछ रहा था। उसने फिर चार्जमैन की तरफ देखा। चार्जमैन उसकी सहायता को चला गया।

उसे मशीन पर काम करने वालों से दहशत होने लगी। उसके खिलाफ मुहिम बाँधे थे। एक के बाद एक प्रहार ! कभी कोई खरादी स्क्वायर थ्रेड काटने का टूल बनवाने आता, तो कभी मिलिंगवाला अपनी कोई समस्या लेकर। सब उसे हाथ से काम करके दिखाने की चुनौती देते आ रहे थे और वह बराबर टाल रहा था।

उसका खयाल था कि असिस्टैण्ट फोरमैन के पद वाले अफसर से यह, हाथ से काम करने वाली, अपेक्षा की ही नहीं जानी चाहिए। डिग्री होल्डर इंजीनियर निरीक्षण और प्रबन्ध के लिए होते हैं न कि मजदूरों की तरह हाथ से काम करने के लिए।

बाहर से कई तरह के नये जॉब आये हुए थे। रुटीन जॉब के मामले में तो वह वर्करों से कह सकता था कि जैसे पहले करते थे वैसे ही करो, मगर नये जॉब के बारे में हर बार वह चार्जमैन का मुँह देखता। ज्यों-त्यों दोपहर हुई। वर्कर लोग सोडे से हाथ धोकर अपने-अपने डिब्बे खोलकर खाने बैठ गये। वह यूँ ही गुमसुम बैठा रहा। डिब्बों में सीझ गये खानों की मारक महक चारों ओर फैल गयी थी। चार्जमैन ने अपना डिब्बा खोलकर उसे न्यौता, मगर उसने मना कर दिया। वे खाना खाकर उठे तो ऊधम होने लगा। वर्कर एक दूसरे से अपने ढंग की मजाक करने लगे। उठा-पटक, हँसी-ठट्ठे, पकड़ा-धकड़ी और फाश गालियाँ। दूसरी शॉप के भी कई लोग आ गये थे।

चार्जमैन निर्विकार भाव से खैनी मल रहा था। उसने अपना चश्मा उतार कर रख लिया था। इससे उसकी आँखों का धुँधलापन खुल गया था। 'वह एक बूढ़ा आदमी है।' उसने दया भाव से सोचा, 'मैं नहीं आता तो इसे प्रमोशन मिल सकती थी। मगर इसमें मेरा क्या कसूर है। मैं नहीं तो कोई और आता। और मैं, मेरे कन्धों पर कितना बोझ है।' उसकी आँखों के सामने उसकी माँ-बहनों और पिता के चेहरे आ गये। सबकी आँखों में चमक थी, क्योंकि उसको नौकरी मिल गयी थी। छह नीले-बड़े सौ के और पाँच दस-दस के नोट। हर महीने। कुल मिलाकर देखा जाये, तो हजार के आस-पास का लाभ था परिवार को। उसकी पढ़ाई पर होने वाला खर्च प्लस उसकी तनख्वाह। उसका दिल उमंग से भर गया। उसने मधुर कल्पना की, पहली तारीख की, जिस दिन उसे पे मिलेगी। तब माँ का नया चश्मा, बहनों के बदन पर कन्ट्रोल के हरे खद्दर की जगह महीन प्रिंट वाले अच्छे कपड़े, बाबू जी के लिए नयी स्ट्रेचलॉन की पतलून।

इस सपने के खुमार में उसे मशीन आयल की गन्ध का मीठापन महसूस होने लगा। मशीनों की तेल से चमकती सतहें निहायत पवित्र लगीं। यही मेरा कर्म-क्षेत्र है, उसने तय किया। यहीं मुक्ति मिलेगी। सुखी जीवन। खुशहाली।

लंच बीतते वह काफी सन्तुष्ट हो चला था।

□

कारखाने के कई सुपरवाइजर चार्जमैन जत्था बनाकर उससे मिलने आये। उनमें कोई भी उसका हम उम्र नहीं था। न ही डिग्री डिप्लोमा वाला। ज्यादातर तो एयरफोर्स के रिटायर्ड थे। सबके सब अधेड़। टैक्नीशियन से तरक्की पाकर उठे

हुए लोग ।

वह सबसे गर्मजोशी से मिला । हाथ मिलाये । चाय का आयोजन हुआ । वहाँ चाय बहुत सस्ती थी । दस पैसे की एक कप । इसीलिए पिलाना अखरता नहीं था । पहले तो इधर-उधर की बातचीत चली, फिर एक ने जिज्ञासा प्रकट की, 'भई तुम्हारा ट्रेड क्या है ?'

'क्या मतलब, मैं समझा नहीं ?'

'अरे भई आपका पेरेंट ट्रेड क्या है ? एम० टी० एस० ओ० या कुछ और ?'

'जी मैंने मैकेनिकल इंजीनियरिंग पास की है । बी० ई० । उसमें हमें थोड़ा-थोड़ा सभी ट्रेड पढ़ाये जाते हैं । मशीन शॉप से लेकर रेफ्रीजरेशन तक । कोई एक ट्रेड नहीं होता । हम लोगों को सभी कुछ पढ़ना पड़ता है ।'

'हूँ । तभी तो आप प्रैक्टिकल हैण्ड नहीं हैं । सुना कि आपको टूल ग्राइण्ड करना नहीं आता । मेरी शॉप में वर्कर कह रहे थे ।'

उसे यह बातचीत नागवार गुजर रही थी । उसने झिड़कने के ढंग में कहा, 'मैं यहाँ हाथ से काम करने नहीं आया । मैंने डिग्री की है, आई० टी० आई० नहीं । टूल ग्राइण्ड करना मेरे लेवेल पर जरूरी नहीं है वह तो एक मामूली वर्कर भी....'

एक चार्जमैन उसका हाथ दबाकर नरमी से बोला, 'ओ पापे, तू तो गुस्सा हो गया । हम तो तेरे यार हैं । तेरी नयी नौकरी है इसलिए बताते हैं कि अपना हाथ मशीनों पर साफ कर ले । यहाँ कई डिग्री वाले आये और चले गये । टिका कोई नहीं, यहाँ का अफसर काम माँगता है, काम । यहाँ किसी ने डिजाइन नहीं बनानी, यहाँ तो मशीन चलानी होती है, टूल बनाने होते हैं । ये जो तेरा चार्जमैन बैठा है खरे, इसकी जिन्दगी मशीन के ऊपर गुजर गयी । जबरदस्त कारीगर है, मगर प्रमोशन का टाइम आया, तो डिग्री-डिप्लोमा वाले बुला लिये । इसे तो इण्टरव्यू में भी नहीं बुलाया ।'

उसका चार्जमैन खरे तैश में बोला, 'आई एम ए बोर्न टर्नर । मुझे तो घुट्टी में मिली है । बारह साल का था तब से इस ट्रेड में हूँ । शुरू के दो महीने तो जूट लेकर मशीन साफ करता था । और उस्ताद के गोड़ दबाता था । बस बात इतनी है कि हाई स्कूल नहीं कर पाया । सड़ रहा हूँ । इस चार्जमैनी में दस साल से....'

सुनते-सुनते वह गुस्से से उबलने लगा । समझते क्या हैं ये लोग अपने आपको । नान क्वालीफाइड, जाहिल-दहकान कहीं के । तू-तू करके बोलते हैं । तमीज नहीं है बात करने की । इनकी उम्र में तो मैं जनरल मैनेजर हो जाऊंगा, डिग्री विद ट्वेंटी इयर्स एक्सपीरिएन्स ।

मगर जाहिरा तौर पर वह 'विषपायी जनम के' बना रहा । सब कुछ पी गया । बस एक फीकी मुस्कान उन्हें प्रदान करता रहा ।

उधर एक बुढ़वा चालू था, 'अरे हमने अंग्रेज का जमाना देखा है । तब नहीं

था कोई डिग्री-डिप्लोमा। काम के बूते पर साख बनती थी। उस वक्त जाने कितने अंगूठा टेक हिन्दुस्तानी कारीगर थे, जिन्हें अंग्रेज दिल से लगाकर रखता था। अब तो निकले चले आ रहे हैं, उन दिनों दिखाते अफसरी का जलाल ! कोरी डिग्रियों ने इस मुल्क को चौपट किया है। हुँह !'

□

उन लोगों के जाते ही सीनियर टैक्नीशियन ने उससे कहा, 'जरा व्यू-रूम चल कर जॉब इस्पेक्ट कर लीजिए। उसके बाद इंस्पेक्शन में भेज देंगे।'

व्यू-रूम में पहुँचकर वह हतप्रभ रह गया। दस-बारह जॉब बने तैयार रखे थे। नापने-जोखने के जाने कितने औजार वहाँ थे। एक से एक बढ़कर। माइक्रो-मीटर, बेवेल-प्रोटेक्टर, हाइट गेज, डेप्थ गेज, वर्नियर, स्लिप गेज। और वह था कि उसे उस समय माइक्रो-मीटर प्रयोग करने की प्रणाली ठीक से याद नहीं आ रही थी। लीस्ट काउण्ट तो याद था, पाइंट जीरो-जीरो वन, इन्च का हजारवां हिस्सा, मगर सीधे और गोल पैमानों के निशान कितने गुणनखण्ड के होते हैं ? अब नापे तो कैसे नापे ! वर्नियर के साथ भी यही दिक्कत। वह अपनी कमजोरी को छिपाने पर तुल गया। उसने कहा, 'बैठ यार, अभी देखते हैं', और गुनगुनाते हुए माइक्रोमीटर का हिसाब लगाने लगा। कुछ ही देर बाद उसे सब मालूम पड़ गया। उसने अतिरिक्त आत्मविश्वास अपने में भरते हुए जॉब और माइक्रोमीटर उठाया, ड्राइंग से नाप पढ़ा। माइक पर रीडिंग पढ़कर हिसाब लगाने लगा, तो फिर सब गड्ड-मड्ड हो गया।

तंग होकर उसने अभिनय करना शुरू किया। बड़ी गम्भीरता से ड्राइंग पढ़ता और माइक्रोमीटर, उसने सारे जॉब पास कर दिये। उसे यकीन था कि बनाने वाले ने ठीक ही बनाये होंगे। हाइट गेज वगैरह का बिल्कुल इस्तेमाल नहीं किया। बेवेल प्रोटेक्टर एक बार उठाया तो मगर उसके टुकड़े जोड़ने की तरकीब न मालूम होने से वापस रखना पड़ा।

सीनियर टैक्नीशियन कुछ समझदार था। उसने कहा, 'साहब, मूड नहीं तो रहने दो। मैं चैक कर लेता हूँ। बस आप ड्राइंग से डाइमेंशन पढ़कर बोलते जाओ।' उसने तुरन्त इस उदारतापूर्ण प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

हैरत से वह सीनियर टैक्नीशियन की दक्षता देखता रहा। फटाफट वह रीडिंग कर रहा था। तीन थाऊ डाउन एक थाऊ अप, एक्जैक्ट····उसे अपने ऊपर अफसोस हुआ। उसमें इच्छा जागी कि टैक्नीशियन से इंस्ट्रूमेंट पढ़ना सीख ले। यहाँ सिर्फ हम दोनों ही हैं। कुछ शर्म तो आयेगी, मगर हमेशा के लिए पाप कट जायेगा। यह तो रोज का काम है।

बहुत चाहने पर भी वह उससे पूछने का साहस नहीं बटोर पाया। इस

कायरता पर उसे आत्मगिलानी हो रही थी। उसने कुछ निर्णय लिये कि आज शाम को घर पहुँचकर वर्कशॉप सम्बन्धी तमाम पुस्तकें और नोट्स निकालकर पढ़ूंगा। खासतौर पर मेजरिंग टूल्स की सारी बारीकियाँ, ताकि कल से यह संकोच न रहे। उसे इंजीनियरिंग कॉलेज की शिक्षा प्रणाली पर भी असन्तोष हो रहा था कि थ्योरी के बारे में रटा-रटाकर मार डालते हैं, लेकिन प्रैक्टिकल तो महज एक फार्मेलिटी है वहाँ माइक्रोमीटर एक-दो बार इस्तेमाल किया था, मगर बाकी गेज सिर्फ किताब में पढ़े थे। हालाँकि वर्कशॉप टैक्नालॉजी के प्रश्नपत्र में इन पर प्रश्न आते थे। इनके चित्र बनाने होते थे, आंकिक गणना भी। बस प्रयोग करने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

□

उसने महसूस किया कि बेकारी के दिन, असल में आजादी के दिन थे। बड़ी बेफिक्री रहती थी, सिवा इस फिक्र के कि वह बेकार हैं। साथ ही तसल्ली भी होती थी कि वह अकेला ही ऐसा नहीं है, हजारों और भी हैं। उन दिनों सुबह आराम से उठता था, देर तक नहाता-धोता था, फिर अखबार लेकर बैठ जाता था। दोपहर को पोस्टऑफिस, किसी न किसी अर्जी को पोस्ट करने। खाने के बाद नींद, पोस्टमैन की प्रतीक्षा, शाम की सैर, रात को देर तक दोस्तों से गपशप। और···· वह जो मुहल्ले की एक लड़की थी, प्रभा। उससे उसका बहुत ही सात्विक किस्म का रोमांस न जाने कब से चल रहा था। प्रकटत: वे एक-दूसरे के प्रति लापरवाही-सी दिखाते थे और अनेकानेक उपलब्ध अवसरों पर, वादे-कसमें-सपने लिया-दिया करते थे। प्रभा बी० एड० करके आर्य कन्या मन्दिर में पढ़ाने लगी थी। वह चाहे सौ-डेढ़ सौ ही कमाती हो, लेकिन यह उसके लिए बड़ी ग्रंथि बन गयी थी। प्रभा का रुपये कमाना उसे कभी अच्छा नहीं लगा, वह पाँच-दस रुपये जेब-खर्च के लिए मोहताज रहा करता था। मजबूरी में उसने कई बार प्रभा से रुपये उधार लिये थे।

नौकरी लग जाने पर उसने और प्रभा ने बड़ी सूझ-बूझ और मशक्कत से आपसी बातचीत के कई मौके निकाले। जोखिम उठाकर भी। उसके उत्साह और खुशी की कोई सीमा नहीं थी। यह सुखदायी बातचीत धारावाहिक रूप से किस्सों में चल रही थी। हर दफे नये नमूने का घरौंदा बनाते और बिगाड़ते।

मगर धीरे-धीरे वह गम्भीर होने लगा था। ड्यूटी के नाम से उसे झुरझुरी आने लगती। लुब्रीकेटिंग आयल की चिपचिपी गन्ध, लोहे की बेसुमार छीलन, ग्राइंडर की चिंगारियाँ, वहाँ बैठने वाली चीकट फोल्डिंग कुर्सियाँ, वर्करों के उपहास करते चेहरे, चार्जमैन का प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण व्यवहार, मैनेजर की उसके प्रति उपेक्षा, यह सब उसे अपने विरुद्ध लगता। उसके खिलाफ एक मोर्चा। एक मशीनी

हृदयहीन साजिश।

उसे अपने मैनेजर से काशन-लेटर मिल गया था, जिसमें उसको कार्यभार सम्भालने सम्बन्धी अक्षमता, व्यावहारिक ज्ञान की कमी, नेतृत्व का अभाव इत्यादि दोष गिनाकर चेतावनी दी गयी थी कि यदि निकट भविष्य में उसने प्रगति नहीं दिखाई तो उसे नौकरी के अयोग्य समझा जा सकता है।

चपरासी यह कांफीडेंशल लेटर लेकर आया; तो शॉप के सभी लोग उसकी ओर देखने लगे। उसने खोलकर पढ़ा, तो इतना नर्वस हो गया कि हाथ कंपकंपाने लगे। आँखों के आगे धुँध छाने लगी। अब क्या होगा!

नौकरी, उसे लगा, धीरे-धीरे हाथ से निकलती जा रही है। वह उसे रोक नहीं सकेगा। उसने देखा चार्जमैन वर्करों से हँस-हँसकर बातें कर रहा था। मशीनें चल रही थीं। उनकी सम्मिलित आवाज उसे दानवी और खूंखार लगी। पहले सिर्फ कर्कश और अजनबीपन से भरपूर लगती थीं। हर मशीन को आदमी के हाथ साध रहे थे, बड़ी सहज-कुशलता से। उसे ईर्ष्या और द्वेष साथ-साथ हुए, वह क्यों नहीं साध सकता। वह क्यों नहीं टूल ग्राइंड कर सकता, क्यों पेंचदार चूड़ियाँ नहीं काट सकता, नालियाँ उतार-चढ़ाव और गोलाइयाँ तराश नहीं सकता। आखिर क्यों?

उसके अन्दर से रुलाई-सी फूटने लगी। सारी फैक्टरी में बात फैलेगी कि नये डिग्री होल्डर इंजीनियर को उसकी नालायकी के लिए चेतावनी मिली है। उसने मशीनी कोलाहल में अपने क्रंदन को सुना। क्या होगा! मेरा क्या होगा! मेरी जवान-फटेहाल बहनों की दमित इच्छाओं का क्या होगा? मेरी माँ क्या मरते दम तक टूटा चश्मा लगाये दाल में से कंकड़ बीनती रहेगी? मेरी नौकरी छूटेगी तो क्या उन सबका भरोसा नहीं टूट जायेगा! सब सोचेंगे, इसे हीरा समझे थे, पत्थर निकला।

क्या मैं नालायक हूँ! बरसों तपस्या की है मैंने। हमेशा फर्स्ट क्लास ली है। क्या वह मेहनत नहीं थी। वह जो रात-रात भर जागकर जलती आँखें लेकर किताबों में अपने को झोंकता रहा हूँ। क्या वह सब व्यर्थ है। मशीन डिजाइन में मेरा डिस्टिंक्शन क्या महज धोखा था? था तो भी मेरा क्या कसूर है? मैंने वही सब तो पढ़ा जो सिलेबस में था, वहाँ पढ़ाया-कराया जाता था, जो बड़े-बड़े धुरंधर इंजीनियरों ने नियत किया था। मैं रेती नहीं चला सकता, लेथ का टूल नहीं घिस सकता, ड्रिल पर धार नहीं लगा सकता, हाइट गेज और बेवेल-प्रोटेक्टर नहीं पढ़ सकता, तो यह मेरी नालायकी नहीं, उन लोगों की है, जिन्होंने मुझे फर्स्ट क्लास इंजीनियर घोषित किया है।

दो-तीन दिन उसने शॉप में पराजित बन्दी की तरह सिर झुकाये हुए बिताये। उसे अब कोई पूछता भी नहीं था। कुछ दबंग वर्कर तो चार्जमैन से उसके सामने ही कह देते, 'इन्हें तो कनफर्मेशन मिलेगा नहीं। तुम्हारा ही प्रमोशन होगा।'

वह रोज मन में इरादा करता, 'आज शाम को प्रभा से साफ-साफ कह दूँगा कि मुझसे उम्मीदें न रखे। मेरी नौकरी का कोई भरोसा नहीं है।' मगर सिवा उदास रहने के वह कुछ नहीं कर सका। सबसे ज्यादा दुःख उसे तब होता जब उसके पिता रात में बड़े उत्साह से उसकी नौकरी के बारे में पूछ-ताछ करने लगते। कुल मिलाकर एक भयानक अपराध भावना उसके मन में घर करती जाती थी।

उसके लम्बे और भावुकता भरे एक्सप्लेनेशन के जवाब में मैनेजर ने अपने केबिन में बुला भेजा।

उसका लिखा पत्र सामने पड़ा था। 'बैठो,' मैनेजर ने कहा, 'यह सब क्या है? इंटरव्यू में तुमने झूठ बोला था कि तुम मशीनों पर काम कर सकते हो। तुम्हें तो माइक्रोमीटर पढ़ना भी नहीं आता। तुमने गलत डाइमेंशन वाले जॉब पास कर दिये। वर्कर्स को तुम्हारी क्षमता पर भरोसा नहीं है। इस तरह काम नहीं चलेगा। ऊपर से तुम चार्जमैन को दबाने की कोशिश करते हो। उस आदमी को बीस साल का तजुर्बा है, मशीनशॉप में। अनफारचुनेटली वह नॉन-मैट्रिक है, नहीं तो हम उसे असिस्टैन्ट फोरमैन बना सकते थे। अब या तो तुम काम सीख लो या फिर दूसरी नौकरी ढूँढ़ना शुरू करो, जहाँ पेपर वर्क ज्यादा हो और बैठने के लिए वाटर टाइट कम्पार्टमेंट होते हों। यहाँ तो शॉप फ्लोर है और खड़े रहने का, हाथ से काम करने का है। चाहे तुम्हें सूट करे या नहीं करे।'

'जी, मैं क्या करूँ? मैं इतनी जल्दी कैसे....!' कहते-कहते उसका गला रुंध गया, 'सर, आप नहीं जानते हैं, हमारी फैमिली बहुत गरीब है। सब मेरे पर ही डिपेंडेंट हैं। मैं....हिच.... !' उसको रुलाई आ गयी। आँसू बह निकले।

मैनेजर उसे हैरत से देखता रहा, 'अरे, यह क्या बचपना है। तुम मेरी डिफीकल्टी क्यों नहीं रियलाइज करते। यहाँ काम ठीक से नहीं होगा, तो हम सबके होने का मतलब क्या है!....अभी तुम इमोशनल हो रहे हो। जाओ, थोड़ी देर बाद तुमसे बात करूँगा।'

वह आँसू पोंछता बाहर निकला। अन्दर का ज्वालामुखी फूट चुका था। मन कुछ-कुछ हलका हुआ, मगर अब भी कचोट बाकी थी। मैनेजर ने सांत्वना का एक भी शब्द नहीं कहा था। उसे आशा हुई थी कि उसके एक्सप्लेनेशन का असर जरूर पड़ेगा। कम-से-कम बॉस की सहानुभूति तो मिलेगी।

शाम को उसे फिर से बुलाया गया, चार्जमैन खरे भी वहाँ बैठा था। वह अपराधी की तरह कटघरे में खडा हो गया।

'अब तुम स्वस्थ हो?' मैनेजर ने कहा, 'तुम्हारा एक्सप्लेनेशन बिलकुल सन्तोषजनक नहीं है। यू विल हैव टू प्रूव योरसेल्फ। ये दस एक्सरसाइजेज खरे ने आपके लिए बनायी हैं। आप इन्हें अपने हाथ से बनायेंगे, खरे भी बनायेगा। आप उससे गाइडेंस ले सकते हैं। मगर विद इन अ मन्थ, ये जॉब आप दोनों को बना लेने हैं। तब फैसला होगा, कौन कितना काबिल है। समझ रहे हैं न आप।'

'सर,' उसने उत्तेजित होकर कहा, 'क्या काबलियत का यही टेस्ट है ? ये जॉब एक मामूली बेपढ़ा-लिखा टैक्नीशियन हमसे बहुत अच्छा बना सकता है। कुछ तो डिफरेंस होना चाहिए। आप इसी तरह थ्योरीटिकल प्रोबलम्स भी दीजिए। उन्हें भी मैं और खरे साथ-साथ करें।'

'देखिये मिस्टर कपूर, मैं इंग्लैण्ड में दस साल रहा हूँ। वहाँ मैंने बड़े-बड़े इंजीनियरों को शॉप में काम करते देखा है। आप इस बात को अपने मन से बिलकुल निकाल दीजिए कि हाथ से काम करना छोटी बात है। शॉप में डे-टु-डे प्रैक्टिकल प्राबलम्स ही आती हैं, थ्योरिटिकल नहीं। कल से मैं आपको फ्लोर पर काम करते देखना चाहता हूँ। आपको बुरा न लगे, इसलिए मैंने खरे को भी जॉब बनाने को कहा है। यू आर अ यंग मैन, घबराते क्यों हैं ?'

□

वह और खरे दोनों काम में जुट गये थे।

शॉप फ्लोर पर यह खासा तमाशा बन गया। वर्कर बड़े मजे लेते, चार्जमैन और असिस्टैन्ट फोरमैन दोनों हाथ से काम कर रहे हैं। दोनों एक जैसे जॉब बना रहे हैं। किसी न किसी बहाने फैक्टरी के अन्य विभागों के लोग यह देखने के लिए मशीन शॉप के चक्कर लगाने लगे।

वर्कर यह समझते थे कि यह मुकाबला है। जो जीतेगा वह रहेगा, दूसरे को जाना पड़ेगा। इस अनुभूति से कई लोग पसीज उठे। नौजवान इंजीनियर के प्रति दया भाव पैदा होने लगा। खास कर वर्करों में। वे किसी-न-किसी तरह उसे सहायता पहुँचाने को तत्पर रहने लगे, मगर चार्जमैन सामने होता था।

फैक्टरी के दूसरे डिग्री-डिप्लोमा वाले उसके प्रति संवेदना प्रकट करने आते। वह सुबह से शाम तक लोहागीरी में लगा रहता था। सिविल और इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग वालों की मौज-मस्ती और सफेदपोशी को देखकर कलेजे से आह-सी उठती, क्यों मैंने मैकेनिकल ले डाली ! इस जाल में क्यों फँसा ! क्या रह गया है लाइफ में, लोहा काटना, खुरचना, घिसना और रगड़ना !

वह काम से लौटता तो उसका बदन पसीने से बुरी तरह गंधा रहा होता। गले में नमक जमा होता। हाथों में ग्रीस-आइल की चिपचिपाहट, यह गन्दापन उसे अन्दर ही अन्दर खाने लगा।

फिर भी उसे यह बात समझ में आ गयी थी कि बिना यह मैली जिन्दगी गुजारे निस्तार नहीं है। यह नौकरी छोड़ भी दे, तो फिर ऐसी ही नौकरी ढूंढ़नी पड़ेगी। फिर से यह यातना भुगतनी होगी।

□

वह लोहे के गोल टुकड़े को लेथ पर सेन्टर करने की कोशिश कर रहा था। बार-बार चक के जबड़ों को आगे-पीछे करके जाँचता, मगर जॉब सेन्टर होने का नाम ही नहीं लेता था। उसने एक बार जोर लगाकर चाबी घुमानी चाही, जो चक के छेद में सिर्फ आधी अन्दर थी। स्लिप कर गयी और उसके निचले जबड़े पर लगी। दर्द के मारे वह हाथ से दबाकर जमीन पर बैठ गया। दो-तीन वर्कर लपककर आये, 'क्या हुआ, क्या हुआ ?' उससे बोलते नहीं बना। 'कुछ नहीं, ठीक है।' कहना चाहा, तो फटे हुए मसूड़े से रिसता खून होंठों पर आ गया।

खून का घूंट पीकर उसने लेथ का स्विच ऑन कर दिया। फिर ऑफ किया और चक के जबड़े आगे-पीछे करने लगा। चलाकर देखा, अभी भी आउट था। सहसा एक खरादी ने अपने चिपचिपे हाथ से उसे हटाकर चाबी उससे छीन ली, 'देखो, ऐसे होता है !' कहकर उसने अपनी कारगुजारी शुरू कर दी। मिनटों में जॉब बिलकुल बीचोबीच होकर घूमने लगा।

उसने अपने गाल पर हाथ फेरा। चोट की वजह से वहाँ गाँठ बन गयी थी और बराबर दर्द हो रहा था। उसने देखा, चार्जमैन दूसरी मशीन पर बड़ी तन्मयता से काम कर रहा था। उसने चूंकि खाने की तम्बाकू मुँह में दबायी हुई थी, इसलिए उसके जबड़े पर भी गाँठ नजर आ रही थी। दोनों की गाँठों में कितना फर्क था।

दस बजे पे बाँटने वाले क्लर्क आ गये। शॉप में काम बन्द हो गया। वह इस ओर से लापरवाह अपना काम करता रहा। चार्जमैन क्लर्कों के साथ बैठकर विटनेसिंग आफिसर का काम करने लगा। सबसे अन्त में क्लर्क ने मशीन के पास आकर कहा, 'साहब, पेमेंट ले लीजिए।'

उसने सत्रह दिन काम किया था उस महीने में। इन पहले सत्रह दिनों के उसे चार सौ तीस रुपये कुछ पैसे मिले, तो वह अपनी मनःस्थिति में बदलाव-सा महसूस करने लगा। चार सौ के नोट थे, नये-करारे-सच्चे। दस्तखत करके वह जाने लगा, तो पे क्लर्क ने कहा, 'साहब एक मिनट ! जरा विटनेसिंग आफिसर की जगह साइन करते जाइये। आप काम में लगे थे, इसलिए हमने खरे को बिठा लिया था।'

खरे ने खिसियाकर कहा, 'मैंने कर दिये साइन।'

क्लर्क ने कहा, 'आपको यह अथॉरिटी नहीं है। पहले की बात और थी, तब यहाँ फोरमैन रैंक का अफसर नहीं था। अब मिस्टर कपूर हैं।'

उसे पहली बार अपने पद की गरिमा का अनुभव हुआ। क्लर्क उसे साहब कह के सम्बोधित करता था और खरे को सिर्फ खरे।

इस बार कहीं ज्यादा आत्मविश्वास से वह टूल ग्राइंड करने गया। उसने ग्राइंडिंग गॉगल लगाये और इत्मीनान से टूल को पत्थर पर लगाया। सरसराकर पीली, रुपहली चिंगारियाँ छूटने लगीं। वह टॉप रैंक ऐंगिल बना रहा था।

जाने क्या बात थी कि उससे सही ग्राइंड करते नहीं बनता था। कहीं ज्यादा

घिस जाता, कहीं कम । उसे यह जोखिम-भरा काम जरा भी पसन्द नहीं था, मगर उस समय उसकी जेब में चार सौ तीस रुपये थे, जो इसी काम के लिए मिले थे । यह प्रभा की दो महीने की तनख्वाह थी, जो उसने आधे महीने में कमा ली थी। इतने रुपये उसने कभी इस तरह अपनी जेब में, अपने समझकर नहीं रखे थे । ग्राइंडिंग स्टोन से छूटती चिंगारियों में उसे अपनी बहनों के गोलमटोल भोले चेहरे नजर आ रहे थे । 'हमारा भाई, भैया, कमाकर लायेगा । हम भी सजेंगी, संवरेंगी । दुल्हनें बनेंगी ।'

फ्रंट रैक बनाते समय उसे लगा, वह प्रभा के लिए कुछ कर रहा है । अपनी आगामी गृहस्थी को तराशने का औजार तैयार कर रहा है । सुखी, सम्पन्न और हँसते-खिलखिलाते लोगों की दुनिया बनाने के लिए उसे अग्निमुख चिंगारियों के बीच रहना सीखना ही होगा ।

धीरे-धीरे मशीनों की आवाज में उसे कोमल और मधुर स्वर महसूस होने लगे । तेल में डूबे, निरन्तर घूमते हुए गीयर ऐसे लगे जैसे पारदर्शी उबलते घी में मैदे की पूरियाँ छलछला रही हों। उसके जहन की दहलीज के एक ओर उसके घर का धुएँ से काला रसोईघर था, तो दूसरी ओर मशीन शॉप । वह बीच में चहल-कदमी कर रहा था, जेब में चार सौ तीस रुपये रखे । ग्राइण्डर के चक्के एक मिनट में साढ़े चार हजार चक्कर की रफ्तार से घूम रहे थे ।

उसने संकोच तजकर एक झम्मन लाल से कहा, 'भई, देखना यह टूल ठीक बना कि नहीं ।'

झम्मन लाल ने किसी को आँख मारी और टूल लेकर देखने लगा । फिर ग्राइण्डर स्टार्ट करके चिंगारियाँ उठाने लगा । अभ्यस्त हाथों ने टूल की धारें संवार दीं ।

वह लेथ मशीन पर आया । टूल पोस्ट पर टूल बाँधा और डरते-डरते मशीन स्टार्ट करके एक हल्का-सा कट लिया । टूल जॉब की सतह से छिलकन उतारने लगा, मगर चूँ-चूँ, क्ली-क्ली की आवाजों के साथ । बढ़ते-बढ़ते आवाजें इतनी बढ़ीं कि झम्मन लाल दौड़कर आया । 'बाबू, टूल थोड़ा नीचे बँधा है । एक पैकिंग और लगा दो ।'

इस बार मशीन चली, तो कुदरती आवाज के साथ । कूलेंट की दूधिया धार उसने ठीक टूल की नोक पर कर दी । एक के बाद एक कट लगाता रहा । बीच-बीच में वर्नियर से जॉब का व्यास नापता रहा । करते-कराते पहली नाप सही आ गयी । अभी तो बहुत करना था, स्टेप टर्निंग, चेंफर, ग्रूविंग, टेपर, ड्रिल और अन्त में फिनिशिंग, तब कहीं जॉब नम्बर पूरा होना था ।

मैनेजर राउण्ड पर आया । उसको और चार्जमैन को जॉब बनाते देखता रहा । वह स्टेप बना रहा था और खरे ड्रिलिंग तक पहुँच गया था । शाम को काम का समय समाप्त होते-होते खरे का जॉब फिनिश हो रहा था । दो-तीन वर्कर उसके

पास खड़े होकर उसके जॉब को प्रशंसात्मक निगाहों से देख रहे थे। उसका दिल जल गया। गफलत में टूलपोस्ट पीछे करने के बजाय हैण्डिल उल्टा घुमा गया। 'टर्रर्र''''हचाक' और जॉब में धंस कर टूल टूट गया।

वह काठ का होकर रह गया। घण्टों की मेहनत जाया हुई सो हुई, वह बुरी तरह पिछड़ गया था। अब नये सिरे से जॉब शुरू करना होगा।

मशीन के मिजाज पर इस दुर्घटना का कोई असर नहीं पड़ा था। वह निरन्तर घड़-घड़ करती हुई चल रही थी। उसके जॉब पर ऐसा निशान पड़ गया था, जैसे, किसी की पीठ पर कस के कोड़ा मारा गया हो।

हताश, घायल हिरन-सा वह हाथ धोने चला गया।

□

रास्ते में उसका मन किया कि कुछ ले चले। मिठाई, फल वगैरह। मगर उसके मस्तिष्क में हथौड़े-से चल रहे थे। वह ठण्डी निश्वासें छोड़ता अनमना-सा साइकिल चला रहा था। उसे जिन्दगी में पहली बार तनख्वाह मिली थी, साथ ही भयंकर यन्त्रणा भी। उसे विश्वास हो गया था कि यह खेल ज्यादा चलने वाला नहीं है। अन्ततोगत्वा उसे समर्पण करना ही होगा। प्रोवेशन पीरियड में उसे कभी भी बिना नोटिस दिये निकाला जा सकता था। दस जॉब बनाना उसके बस की बात नहीं लग रही थी। पहले ही जॉब में वह मार खा गया था।

घर पहुँचते-पहुँचते उसके सिर में असह्य दर्द होने लगा। उसने पहले इतनी मशक्कत का काम नहीं किया था।

उसने दूर से ही अपनी बहनों को दरवाजे के बाहर बरामदे में खड़े देखा। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जा रहा था, उनके प्रफुल्लित और उत्तेजित चेहरे स्पष्ट होते जा रहे थे। उनको मालूम था कि उसे पहली तनख्वाह मिलेगी, इसी खुशी की राह देख रही थीं।

उसकी दो बहनें बी० ए० करके घर बैठी थीं, तीसरी बी० ए० में, चौथी इन्टर में और सबसे छोटी आठवीं क्लास में पढ़ रही थीं। बड़ी दोनों ब्याह लायक थीं। उसके माँ-बाप अक्सर सम्भावित रिश्तों की चर्चा किये रहते थे, मगर जाहिर था कि उनकी शादियाँ तभी होतीं जब वह कमाने लगता। एक तनख्वाह में इतनी बड़ी गृहस्थी का गुजर, उसकी तथा अन्य की पढ़ाई बड़ी खिचते-खिचाते चलती थी।

वह पहुँचा और सब निकलने लगीं। 'भैया आ गये! भैया आ गये!' उसने भी मुस्कराने की असफल कोशिश की। तब तक माँ निकल आयी, उसके सिर पर हाथ फेरा। उसने जेब से तनख्वाह के रुपये निकाले और माँ के पैरों पर रख दिये।

'नहीं, नहीं बेटा, पहली तनख्वाह ठाकुर जी को चढ़ानी होगी।' वे उसे

बांह से पकड़ कर खींचती ठाकुरद्वारे में ले गयीं। रुपये भगवान को चढ़ाकर वे खुशी में कोई परम दीन भाव वाला भजन गाने लगीं।

उसने निरपेक्ष दृष्टि से ठाकुर जी को देखा। 'क्या ये मेरे जॉब बनवा सकते हैं !' उसने व्यंग्यपूर्वक सोचा। 'ऐसा कोई वरदान ही दे डालें। मेरा हाथ झम्मन लाल के हाथ की तरह रवां हो जाये।'

'भैया, आज हम लोगों को पिक्चर ले चलिए न। हम और कुछ नहीं लेंगे, बस पिक्चर देखेंगे।' बहनें मचलने लगीं। उसे ताज्जुब हुआ, वह पहले बहनों के साथ पिक्चर देखने नहीं गया था। ऐसी बात कोई उन दिनों सोच भी नहीं सकता था। उसे उन लड़कियों पर बड़ी माया हुई। मुस्कराकर बोला, 'जरूर, जरूर !' सँटरडे को चलेंगे, सब। चाहो तो माँ से भी पूछ लो।'

बड़ी वाली आहिस्ते से बोली, 'माँ से क्यों, प्रभा दीदी से नहीं पूछेंगे।' वह झेंप गया। पहली बार ऐसा मीठा मजाक बहन ने किया था। इस बात को माँ ने भी सुन लिया, बोली, 'हाँ तुम्हीं लोग हो आना। मुझे नहीं अच्छी लगती पिक्चर-विक्चर। एक बार गयी थी तुम्हारे बाबू जी के साथ, तब यह गोद में था। मेरे सिर में दर्द हो गया था। तब से आज का दिन है, कभी नहीं गयी।'

वह नहा-धोकर निकला तो देखा, पिता मिठाई लेकर आये हैं। उसके बाद देर तक मोहल्ले-पड़ोस में मिठाई की तश्तरियाँ भेजी जाती रहीं। उसकी बहनों के तो पंख लग गये थे। दौड़-दौड़ कर मिठाई देने जा रही थीं। उनकी सूरत देखकर ही पता चल जाता था कि उनके भाई को पहली तनख्वाह मिली है।

चाय पी कर वह बाहर जाने को था, खुली हवा में घूमने और अपनी त्रासदी पर विचार करने के लिए। पीछे से सबसे छोटी बहन ने फुसफुसा कर कहा, 'भैया ! प्रभा दीदी पिक्चर जाने को मान गयी हैं और उन्होंने कहा है····बतायें ?····अपने भैया से कहना कि इतनी-सी मिठाई से हमारा पेट नहीं भरेगा। एकाध टोकरा लड्डू भेजें।'

'लड्डू ! हुंह।' उसने मुँह बिचकाने का अभिनय किया। तभी उसकी दृष्टि अंगीठी में जलने वाले कोयले के चूरे के गोबर मिले लड्डुओं के ढेर पर चली गयी।

□

यूँ तो नौकरी लगने के दिन से ही माँ उसके खाने-पीने का ज्यादा ध्यान रखने लगी थीं, मगर पहली तारीख को तो त्योहार की-सी धूमधाम के साथ सारे घर का खाना बना। उसने देखा, ज्यादातर उसकी पसन्द की चीजें हैं, दही-भल्ले, छुहारे की चटनी, खीर और हलवा।

उसने सोचा, क्या मजाक है ! महीने-दो महीने बाद नौकरी छूट जायेगी, तब ?

खाने के बाद बहनों ने फटाफट आँगन में बिस्तर बिछा दिये। उसकी चारपाई पर नयी चादर बिछी थी। यह घर की एकमात्र कीमती चादर थी, जिसे माँ ने कपड़े वाले सिंधी से किस्तों में खरीदा था। आये-गये मेहमान के लिए रखी रहती थी।

वह लेटने को था कि घरेलू पंचायत बैठ गयी। उसके पिता सौंफ चबाते हुए सामने वाली चारपाई पर, माँ उसके बिस्तर पर और बहनें चारों ओर।

'रज्जन, रामनारायन बाजार वाले खन्ना जी को क्या जवाब दें ? उनके साले आज भी आये थे। अब तो नौकरी पर लग गये हो, किस बहाने टालें उन्हें।' उसके पिता ने साधिकार कहा।

वह चुप रहा।

'बोल बेटा !' माँ ने उसका मुह देखते हुए बड़े प्यार से कहा, 'बड़ा अच्छा रिश्ता है। लड़की देखो तो लड़की, घर देखो तो घर। मैं तो पूजा करने बैठती हूँ तो तुम दोनों की जोड़ी लक्ष्मी-नारायण-सी सामने आ जाती है। क्या जाने मेरे ठाकुर जी इसी बहाने रोज सुझाते हों।'

उसने झुंझला कर कहा, 'माँ, क्या फालतू बातें करती हो ! मुझे नहीं करनी शादी-वादी।'

'तुम्हें तो नहीं करनी मगर हमें तो करनी है। हमें तो सबकी करनी, तुम्हारी, उषा की, उमा की, गुड्डी की। बेटे, हमारा काम हमें करने दो, अपना काम तुम करते चलो।' उसके पिता संजीदगी से बोले।

'तो आप करिए न इन लोगों की शादी। मुझे क्यों मजबूर करते हैं।'

'कहाँ से करें ? तुम्हारी शादी में जो कुछ आयेगा, उसी से उषा और उमा के हाथ पीले करने हैं। थोड़ा-बहुत हम मिला देंगे। खन्ना जी की अकेली लड़की है, दिल खोल कर देंगे। बात को समझा करो।'

वह सन्न रह गया। उसे पिता से ऐसी दो-टूक बात की उम्मीद नहीं थी। वे सरल स्वभाव के सीधे व्यक्ति समझे जाते थे। यह शादी होगी या खरीद-फरोख्त ! उसे बेचकर उसकी बहनों की शादियाँ होंगी। वाह, क्या मनसूबे बाँधे हैं घर वालों ने।

वह अपने को अनेक मुसीबतों और साजिशों से घिरा हुआ पा रहा था। नौकरी में, जिन्दगी में, हर जगह। प्रभा को बरसों से मन में संजोये था, जिस तरह से नौकरी के नाम पर शानदार दफ्तर को। इन्हीं स्वप्नों को धरती पर उतारने के लिए उसने जान झोंक कर पढ़ाई की थी। अठारह साल वह घोड़े की तरह सरपट दौड़ा था। उसे पता नहीं था कि वह रेस का घोड़ा है, जिस पर दांव लगे हुए थे। उसका मन वितृष्णा से भर गया। सब उसके खिलाफ हैं।

माँ कहे जा रही थीं। '····बेटा, अपनी बहनों की तरफ देख। सात बहनों के भाई की कहानी सुनी है न तूने ? शुक्र कर तेरे पांच ही हैं। हमने अपने को बेच-बेच

कर तुझे इसीलिए पढ़ाया है कि हमारे बुढ़ापे की लाठी बने। तेरे बाप तो बेचारे मामूली क्लर्क हैं, मगर उन्होने तुझे अफसर बनाया है····तुझे क्या पता है, एक-एक करके मेरे कितने जेवर बिके। अब तेरी बारी है····।'

वह प्रभा को अँधेरे बन्द कमरे में घुट-घुट कर रोते देख रहा था। उसने देखा, वह दूल्हा बना है, घोड़ी पर सवार है और प्रभा गले में फन्दा····।

उसे पता ही नहीं चला, कब उसका अन्तर्मन करुण मेघों से घिर कर बरसने लगा। बड़ी खामोशी से वह रो रहा था।

कुछ देर तक तो माँ-पिता अपनी रौ में बहते रहे, फिर पिता अचकचा कर उठ खड़े हुए, 'बेटा, अरे रज्जन····क्या हो गया ? क्या हो गया तुझे····रोता क्यों है पगले !'

माँ ने उसे चिपका लिया। उसे पुचकारने लगी। वह और जोर से हिचकियाँ भर कर रोने लगा। दरअसल रोना वह बहुत दिनों से चाह रहा था, खुलकर रोना। बहाना यहाँ मिल गया।

काफी देर बाद पिता को उसने नौकरी में उठ रहे संकट के बारे में विस्तार से बताया। उसने कहा कि उन्हें उससे कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। वह नालायक है····

कहना वह प्रभा के बारे में भी चाहता था, मगर एक ही प्रसंग माहौल बदलने के लिए काफी हो गया। उसके पिता ने कहा, 'बस, इसी से तू घबरा गया ! ऐसी मुश्किलें तो शुरुआत में आती ही हैं। तू तो होशियार लड़का है, बस जरा प्रैक्टिकल एक्सपीरिएंस नहीं है। खैर, सब ठीक हो जायेगा। चल मुँह धो कर कपड़े बदल ले। पापा जी के यहाँ चलते हैं। उनसे बड़ा कारीगर शहर भर में नहीं होगा। तू कुछ दिन उनके पास काम सीख ले····उनकी अपनी फैक्टरी है····चल, अभी होकर आते हैं, इस समय बाप-बेटे सब घर पर ही होंगे।'

□

पापा जी उनके पड़ोसी थे। उनका नाम सरदार हरभजन सिंह था, मगर सब उन्हें पापा जी कहा करते थे। उनके चार लड़के थे, तीन भाई थे और दो साले थे। सब उन्हीं की छत्रछाया में रहते थे। उनके परिवार के कई आदमी विलायत जा चुके थे। वह कुशल कारीगरों का समृद्ध परिवार था। पापा जी के बारे में मशहूर था कि किसी भी मशीन को, चाहे कितनी ही खटारा क्यों न हो, हाथ से छू कर चालू कर सकते थे।

उन्होंने एक छोटा कारखाना, एक चक्की, एक घानी शहर में लगायी हुई थीं। इसके अलावा हार्डवेयर और रेडियो रिपेयर की दुकानें थीं। इन सबको उनके लड़के, भाई और रिश्तेदार ही चलाया करते थे। पापा जी बड़े भले पड़ोसी थे।

दुःख-तकलीफ में बढ़कर आगे आने वाले। सरदारनी भी वैसी ही थीं।

उसके पिता उसे लेकर उनके घर पहुँचे, तो पापा जी एक पुरानी मोटर साइकिल से उलझ रहे थे। उन्हें देखकर, 'आइए कपूर साहब, आइए। आज तो चरणों की धूल हमें मिल ही गयी।' कहते हुए उठ आये। बाहर मुढ्ढे पड़े थे, वहीं सब बैठे।

पापा जी ने उसके पिता से पूरा किस्सा सुन कर कुछ देर तक सोचा, फिर उससे मुखातिब हुए, 'रज्जन बाबू, तेरे को वहाँ कितना पे मिलता है ?'

'साढ़े छह सौ !' उसने कहा।

पापा जी बोले, 'कपूर साहब, एक बात कहूँ। हजार रुपया महीना मैं देता हूँ, आप बच्चे को मेरे पास दे दो।'

उसके पिता बहुत विनम्र होकर बोले, 'पापा जी, आप दिल के भी बहुत बड़े हैं। आज देख लिया।' वह तो उनकी बात सुनकर सकते में रह गया था।

'नहीं भाई, मैं कोई अहसान नहीं कर रिया। मैं तो अपने मतलब की बात कर रहा हूँ। वो साले फैक्टरी वाले पागल हैं। ऐसा काबिल पढ़ा-लिखा शरीफ लड़का क्या यूं ही मिल जाता है। काम नहीं जानता, हुँह ! काम तो कोई भी सीख सकता है, मशीनरी की हाई-हाई थ्योरियाँ पढ़ना हरेक के बस की बात नहीं। अफसोस होता है कि हमारे घर में सब कारीगर हैं, पक्के, मगर कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं है''''डिग्री की कदर क्या होती है, हमसे पूछिए।' पापा जी गम्भीरता से कह रहे थे और उसके मन में उनके प्रति श्रद्धा उमड़ती जा रही थी।

'अच्छा रज्जन, तुम ऐसा करो, उधर लगाओ तीन दिन की मेडिकल लीव। बुद्ध, बृहस्पत, शुक्कर—शनिवार को हाफडे होता है और इतवार फिर छुट्टी है। इन पाँच दिन में, मैं तुम्हें इतना सिखा दूंगा कि किसी के आगे नीचा नहीं देखना पड़े। जाने कितना आदमी हमसे सीख गया, तुम तो इन्जीनियर है''''लेकिन एक शर्त है, थोड़ा कैलकुलेशन हमें भी सिखाना। हम लोग एक कम्प्रेशर मैनुफैक्चर करना चाहते हैं।'

□

उसने छुट्टी की अर्जी भेज दी और सुबह खाकी कमीज पहन कर पापा जी के कारखाने चला गया। कुछ इस अदा से मानो कोई योद्धा मरणांतक युद्ध में भाग लेने जा रहा हो।

पापा जी के दो लड़के कारखाना चलाते थे। बाकी दो विलायत गये हुए थे। गुरमीत और गुरमेल मजेदार प्राणी थे। कच्छा-बनियान पहने काम पर जुटे थे। और बराबर गाते रहते थे। वे हर गाना हीर या मिरजा साहिबां की तर्ज में ढाल कर गाते थे।

उनका कारखाना इण्डस्ट्रियल एस्टेट में था। वहाँ लोह-लक्कड़ के ढेर देख कर पता लगता था कि जबरदस्त काम चल रहा है। आठ पुरानी लेथ मशीनें थीं, जो पट्टे से चलती थीं। एक नयी एच० एम० टी० की लेथ और एक मिलिंग मशीन थी। ड्रिलिंग की मशीनें उन्होंने खुद की बना रखी थीं।

गुरमीत और गुरमेल से घुलने-मिलने में उसे देर नहीं लगी। वे उससे बहुत प्रभावित लग रहे थे। शायद उसकी डिग्री की वजह से। पड़ोस का लिहाज भी था। उसके पहुँचते ही उन्होंने चाय मंगवायी। बहुत मीठी, गाढ़ी-मलाई से ढकी चाय। वह जी कड़ा करके उंड़ेल गया।

गुरमेल ने उसे टूल ग्राइण्ड करना सिखाना शुरू किया। लोहे के छोटे-छोटे चौकोर टुकड़ों पर। उसके हाथ में जादू था। चुटकियों में टूल बनाता था वह। दोपहर तक वह उसके बताये तरीके से अभ्यास करता रहा। फिर उसका हाथ सेट होने लगा। एकसार सतहें, मनचाहे कोण बनने लगे। वह खुशी के मारे उछलने को हुआ—यह क्या, सबसे मुश्किल काम कितना आसान हो गया! उसने तरह-तरह के टूल बनाने की कोशिश की। कई में उसे सफलता मिली। कई गुरमेल के हाथ छुआने भर से ठीक बन गये।

वह इस खेल में मगन था कि गुरमीत ने चिल्ला कर कहा, 'चलो भई, काम बन्द करो। खाना आ गया।' तब तक वह काफी काम कर चुका था। कई तरह के कटिंग एंगिल बनाना सीख लिये थे।

उनका खाना घर से आता था। दोनों भाइयों का, अन्य कारीगरों का, सबका एक साथ। उनके कारीगर लोकल नहीं थे, उनके गाँव के ही लोग थे।

सब हाथ धोकर बैठ गये। एक बाल्टी में उरद-चने की दाल थी, एक कण्डियाँ में तन्दूरी रोटियाँ थीं, कपड़े में लिपटी और एक कागज की बड़ी पुड़िया में कम-से-कम डेढ़ किलो कटा हुआ प्याज था। उसे कुल मिलाकर खाना अच्छा ही लगा।

खाने के बाद गुरमीत उसे मिलिंग मशीन पर ले गया। उसे एक-एक चीज खोलकर दिखाई, समझायी, फिर एक जॉब बंधवा दिया। मुश्किल किस्म का काम था। फार्मिंग कटर चलाना था। लेकिन वह घबराया नहीं, उसके मददगार वहाँ थे।

तीन बजे चाय आयी। चाय भी घर से बनकर आयी थी। वंता सिंह नाम का एक फुर्तीला आदमी खाना और चाय उनके कारखाने और दुकानों में पहुँचाया करता था।

चाय के बाद गुरमीत ने बताया, वह इंग्लैण्ड में दो साल रह आया है, बड़े भाई के पास। बाकी लोग इसरार करने लगे, बताओ वहाँ की मेमें कैसे नाचती हैं। वह कुछ देर टालता रहा, फिर तैयार हो गया।

पहले तो वह पंजाबी में कमेंट्री देता रहा कि किस तरह उसका भाई लन्दन में उसे नाइट क्लब में ले गया फिर गुरमीत ने तौलिया लपेट कर कैबरे नाचा, तो

ठहाकों से कारखाने की छत उड़ते-उड़ते बची ।

काम चालू हुआ, तो वह गुरमीत के साथ मिलिंग के गुर सीखने लगा। कटर कैसे बाँधते हैं, कैसे उसकी धार ठीक करते हैं, गीयर बनाते समय क्या-क्या सावधानियाँ रखनी चाहिए । गुरमेल मोटर साइकिल लेकर किसी पार्टी के पास पेमेंट लेने चला गया ।

उसका मिलिंग जॉब इतना अच्छा चल रहा था कि उसे मशीन बहुत प्यारी और खूबसूरत लगने लगी । वह मशीनों से दोस्ताना रिश्ते जोड़ने की बात सोचने लगा था । वे लोग सब आपस के ही आदमी थे, इसलिए छुट्टी का कोई नियम नहीं था । जिसको काम हो चला जाये, नहीं तो रात के नौ बजे तक अमूमन काम चलता ही रहता था । कोई बड़ा और अर्जेंट आर्डर आ जाये, तो फिर रात-दिन ।

उसने तय कर लिया कि वह नौ बजे से पहले हाथ नहीं धोयेगा । उसके पास सिर्फ पाँच दिन थे और चक्रव्यूह भेदना था । उन लोगों ने उससे कहा कि वह काफी काम कर चुका है, आराम करे, मगर उसको वहाँ मजा आ रहा था ।

सात बजे के करीब गुरमेल लौटा । गेट से ही चिल्लाया, 'सत श्री अकाल !' सब लोग मशीनें बन्द करके·····'सो निहाल' करते भागे । मोटर साइकिल खड़ी करके गुरमेल बोला, 'पापे भंगड़ा !' और सब भंगड़ा नाचने लगे । वह हक्का-बक्का उनके मस्तानेपन को देख रहा था ।

हुआ यह था कि गुरमेल पार्टी से पूरा पेमेंट ले आया था । काफी बड़ी रकम थी, पूरी आने की तो किसी को भी उम्मीद नहीं थी ।

तभी किसी ने उसका हाथ पकड़ कर खींच लिया । वह पहले तो झिझका फिर उलटा-सीधा नाचने लगा । ठर्रे और बीयर की बोतलें आयीं····

रात को साढ़े दस बजे वह नहाने गया, तो उसे पसीने की गन्ध अच्छी लग रही थी । गले पर जम गये नमक को हटाने को मन नहीं हो रहा था ।

□

उसने पापा जी के कारखाने में लेथ और मिलिंग मशीनों का काम ही नहीं सीखा, तन्दूरी रोटी को प्याज से खाना, मट्ठा पीकर डकार लेना, हीर गाते हुए जॉब बनाना और काम करके भंगड़ा नाचना भी सीखा । बीयर की बोतल एक सांस में खाली करना और ठर्रे को नीट पीना भी सीखा ।

इतवार को सुबह पापा जी उसे अपने साथ एक जगह ले गये । वहाँ उसने उनके साथ लग कर एक लेथ मशीन खोली, उसके नुक्स निकाले और रात होने तक वापस बाँध दिया । घर लौटते समय वह काला भूत बना हुआ था । उसके कपड़े मैल से चीकट थे । जूता तेल में भीगा था । हाथ खरोचों से भरे थे, मगर दिल में उमंग थी, उत्साह था, आत्मविश्वास था, जो दस जॉब उसे अपनी शाप में बनाने थे,

जिनके मारे उसके हाथ-पैर फूले रहते थे, अब उसे बायें हाथ का खेल लग रहे थे।

इसके अलावा गुरमेल और गुरमीत ने उसे ऐसे खास गुर, नुक्ते और टूल बताये थे, जिनसे वह खरे जैसे दस-बीस को चक्कर में डाल सकता था।

सोमवार को काम पर जाते समय उसने महसूस किया कि वह मशीन शॉप का आदमी है। मानो वह नहीं उसका नया संस्करण पहुँचा हो, उसने झटपट कपड़े बदले और काम शुरू कर दिया। पिछले पाँच दिन उसने पुरानी कामचलाऊ और घटिया मशीनों के बीच गुजारे थे, बड़े मजे से। अब उसे फर्क मालूम पड़ रहा था। उसकी शॉप अत्याधुनिक और बढ़िया किस्म की मशीनों वाली, जिन पर काम करना अपेक्षाकृत आसान और सुखदायी था। हर तरह के कीमती टूल थे, आहिस्ता बोलने वाले ग्राइण्डर थे। वह टूल बना रहा था, तो वर्कर ताज्जुब से उसकी फुर्ती देख रहे थे।

शाम तक पहले दो जॉब उसने बना लिये। एकदम दुरुस्त, जिसे मक्खी पर मक्खी मारना कहते हैं। सन्तुष्ट होने के बाद देर तक वह उन्हें फिनिशिंग देता रहा। चमचमाते हुए तैयार जॉब उसने अलमारी में रखवा दिये।

वह पूरा हफ्ता उसके इम्तहान का हफ्ता था। किसी भी अनाम खरादी की तरह वह आता और काम में जुट जाता। कटिंग ऑयल की गन्ध, मशीनी शोर और लोहे की उतरती छीलन—इस माहौल में वह खपता नजर आने लगा। वर्कर उससे आत्मीय होते जा रहे थे। वह काम करता होता, तो बीच-बीच में एकाध नुक्ते की बात बताने उसकी मशीन पर आ जाते। चाय की ट्राली आती तो उसके लिए चाय ले आते। सबसे बड़ी बात तो यह कि अब वह शॉप में पहुँचता तो उस पर 'नमस्ते साब' की बौछार होने लगती। कई बार वह चुस्ती से मौका निकालकर नमस्ते में पहल कर देता, तो वर्कर गड़-से जाते थे।

मशीन शॉप का काम मुश्किल था। हर समय मशीन पर खड़े रहने का काम था। लाख साबुन लगाने पर भी तेल की बू हाथों से जाती नहीं थी। मगर, यह भी एक जीवन पद्धति थी, जिसमें रस था! वह इस रस में डूबता गया, क्योंकि उसकी रोटी इसी में से निकलती थी, उसकी खुशहाली इसी में थी।

शनिवार को वह अपने बनाये दसों जॉब लेकर मैनेजर के ऑफिस में गया, तो उसे लगा कि उसकी प्रगति की रिपोर्ट पहले ही वहाँ पहुँच चुकी है। मैनेजर ने उसे बिठा कर चाय पिलायी और उसकी कार्यकुशलता पर बधाई दी।

खरे उससे झेंपाझेंपा-सा रहने लगा था, वह बहुत विनम्र रहता, मगर वर्कर उससे डरने-से लगे थे। नौकरी में कनफर्मेशन पाने की चिन्ता उसके मन से निकल गयी थी। उसके बजाय चीजों को जान-समझ लेने की उतावली, उसकी क्रियात्मकता बनती जा रही थी। सबको आश्चर्य होता कि नया-नौसिखिया बाबू इतनी जल्दी कैसे सारे दाँव सीख गया!....अब उसे कुर्सी-मेज बेजरूरत मालूम देती थी। उसका मन करता कि हर समय कुछ-न-कुछ करता रहे। टिपिकल जॉब बनाये,

मशीनें खराब हों, तो खोलकर देखे, प्रोडक्शन शेड्यूल वक्त से पहले पूरा करवाये.... और हर पहली तारीख को तनख्वाह में सौ के कई कड़कदार नोट पाने के बाद सबके साथ मिलकर भंगड़ा नाचे।

कई पहली तारीखें गुजरीं। घर की हालत सुधरती जा रही थी। हर समय घर में पैसे रहने लगे थे। वह बहनों को बाजार घुमाने ले जाता। सिनेमा दिखाने ले जाता और तब, किसी-न-किसी बहाने से, उसकी बहनें प्रभा को पकड़ लाती थीं।

□

पुनश्च: कनफर्मेशन मिलने तक घर वालों ने सब्र किया। उसके बाद हाथ धो कर उसके पीछे पड़ गये, शादी के लिए। रामनारायन बाजार वाले खन्ना जी बहुत जोर लगा रहे थे। वह हर बार अड़ियल टट्टू की तरह एक ही बात कहता था, मैं अभी शादी नहीं करना चाहता। एक दिन तो वह पिता से लड़ बैठा। प्रभा के बारे में वह उनसे नहीं कह पाया। न जाने क्यों बहनें भी कुछ नहीं कहती थीं। शायद इसलिए कि प्रभा से उसकी शादी, उनके लिए अन्धेरा भविष्य बन सकती थी। आखीर को पापा जी बीच में पड़ गये, तो वह अदब के मारे खामोश हो गया। उससे कुछ कहते नहीं बना। इस मौन को उसकी रजामन्दी समझ लिया गया।

रामनारायन बाजार वाले खन्ना जी की लड़की से उसका विवाह हो गया। प्रभा पता नहीं रोयी कि नहीं ? रोयी तो कितना रोयी ?

[धर्मयुग, 25 जनवरी–1 फरवरी–8 फरवरी 1976]

विवेकानन्द

लाल लकीर

चाचा बोकारो में काम करते हैं। घर में सबसे अधिक पढ़े-लिखे। घर का आधा खर्च उन्हीं के हाथों चलता है। यही कारण है कि चाचा जब भी गाँव आते हैं उनकी खूब आवभगत होती है। अम्माँ और दादी गाँव-भर की स्त्रियों के आगे हफ्तों उनका गुणगान करती हैं। गाँव वालों के बीच भी चाचा का अच्छा दबदबा है। अपने रोबीले व्यक्तित्व और पुराने पहरावे के कारण वे आज भी गाँव वालों के बीच घुलमिल जाते हैं। लेकिन चाचा जब भी गाँव आते हैं, सुभागा का मानसिक-तनाव बढ़ जाता है। वह अपने को पहले से अधिक घुटा-घुटा-सा महसूस करने लगता है। इसलिए नहीं कि अपनी बेरोजगारी के कारण वह चाचा के सामने अपना अस्तित्व खो बैठता है बल्कि इसलिए कि चाचा की दकियानूसी मान्यताओं को वह ढोना नहीं चाहता। वह उनके बूढ़े खयालात से लगभग ऊब चुका है।

शाम को खलिहान से आते ही सुभागा को यह खबर मिल गयी थी कि चाचा आये हैं। पर वह चाचा से मिलने घर के अन्दर नहीं जाता। एक अजीब तरह की उकताहट उसे महसूस होती है और वह दालान में पड़ी खाट पर बैठ रहता है।

पिछले साल जब चाचा आये थे तो सुभागा के साथ झड़प हो गयी थी। वह छोटे भाई मंगरा का दाखिला कालेज में करवाना चाहता था। चाचा इस बात से असहमत थे। उनका ख्याल था कि पढ़-लिखकर मँगरा भी बेकार हो जाएगा, बिल्कुल सुभागा की ही तरह। चाचा की बातों का समर्थन अम्माँ और दादी ने भी किया था। टोले-मुहल्ले वालों ने भी चाचा का ही पक्ष लिया था। सुभागा की एक न चली, मँगरा की पढ़ाई छूट गयी थी। और तब उसे एक बार फिर अपने पिता के जीवित न होने का गहरा खेद हुआ था।

'....सुभागा....!' एक रोबदार आवाज उसका ध्यान खींच लेती है। वह समझ जाता है, चाचा आ रहे हैं। अनायास ही वह उठ खड़ा होता है और उसके हाथ उनके पाँवों पर झुक जाते हैं। चाचा दोनों बाजुओं से उसे थाम लेते हैं तथा वहीं खाट पर बैठ जाते हैं। कुशल-क्षेम पूछकर वह चुप हो जाता है। पर चाचा

उसकी चुप्पी की परवाह किये बगैर देर तक इधर-उधर की बातें सुनाते रहते हैं। फिर अनायास ही रहस्यमय ढंग से मुस्करा पड़ते हैं।

सुभागा उनकी खुशी का कारण नहीं समझ पाता और औपचारिकतावश पूछ बैठता है। चाचा हल्की मुस्कराहट के साथ यह सूचना देते हैं कि उन्होंने नीना की शादी पक्की कर दी, वहीं बोकारो में ही। यह सुनते ही सुभागा को काठ मार जाता है। नीना––उसकी सबसे छोटी बहन है, यही कोई बारह-तेरह साल की। तो क्या उमा की शादी नहीं होगी ? उमा तो नीना से बड़ी है····?

वह चुपचाप चाचा को झेलता रहता है, वे आदतन अपना लम्बा-चौड़ा लेक्चर शुरू कर देते हैं। लड़के का रंग, रूप, पद, विशेषता आदि से लेकर खानदान तक की बातें बताने लगते हैं। वर्णन की तेजी के साथ ही सुभागा के मन की टीस भी तेजी से बढ़ने लगती है। और जब उससे रहा नहीं जाता तो वह विरोध कर बैठता है—'····तो क्या उमा की शादी दोबारा नहीं होगी जो आपने नीना की बात चला दी····?'

'कितनी बार शादी होगी ! और विधवा लड़की के लिए इतनी आसानी से लड़का कहाँ से मिल जायेगा ! कहाँ से आयेगा इतना पैसा कि····!'

चाचा अचानक सख्त हो जाते हैं और दनादन कई सवाल एक साथ दाग देते हैं। उनका चेहरा तमतमाने लगता है। वे गला खखारकर कहते हैं—'जिसके भाग्य में जो लिखा होता है, वही होता है। मैंने कोई जिम्मा नहीं ले रखा है कि दस-दस शादियाँ ठीक करता फिरूँ····!'

'भाग्य में कुछ भी नहीं लिखा होता····।' सुभागा विरोध करना चाहता है पर चाचा बीच में ही जोर से डपट देते हैं। आवाज सुनकर आस-पास के लोग एकत्रित हो जाते हैं। अन्दर से अम्माँ व दादी भी चली आती हैं और सुभागा बिना कुछ बोले वहाँ से खिसक जाता है। जानता है, यदि कुछ बोलेगा तो चाचा मार बैठेंगे। कोई फायदा नहीं उन्हें समझाने से। वे जबरन अपनी बातें मनवाना ही तो जानते हैं केवल ! वह दालान से बाहर आकर मुँह में भर आये झाग को थूक देता है और चुपचाप खलिहान की ओर चल देता है····

□

टीका बाबा की कुटिया के पास आकर उसे राहत मिलती है। वह नीम के पेड़ के नीचे वाले ओटे पर बैठा रहता है। यहीं पास ही उसका अपना खेत भी है। उसने गेहूँ काट लिया है तथा खलिहान में बोझे ला दिये हैं। अब हवा का इन्तजार है, पछुवा बहनी शुरू होगी तो वह दँवरी और ओसौनी भी शुरू कर देगा। अनायास ही उसका ध्यान टीका बाबा के ओसारे में जाता है, कुछ लोग वहाँ इकट्ठे हैं पर अन्धकार के कारण वह किसी को पहचान नहीं पाता। ढिबरी

की मद्धिम रोशनी में वह आँखें गड़ाता है और उनकी बातें सुनने की कोशिश करने लगता है। काफी मुश्किल से उनकी बातों का एक टुकड़ा वह सुन पाता है—'बीवी तो मँगरा की है····।' साँय-साँय करती पुरवइया और पत्तों की खड़खड़ाहट के कारण वह इसके आगे कुछ भी नहीं सुन पाता।

वह समझ जाता है कि अपने साथियों सहित बैठा मँगरा ताश खेल रहा है। गाँव के अधिकांश लोगों को मँगरा की इस हॉबी से शिकायत है। लेकिन सुभागा जानता है कि मँगरा जुआ नहीं खेलता। इतनी मेहनत के बाद यदि वह अपना मनोरंजन भी न करेगा तो कैसे काम चलेगा ! कम-से-कम औरों की तरह ताड़ी तो नहीं पीता या और भी बुरे कर्म तो नहीं करता ! उसे मँगरा बहुत प्यारा लगता है। उसकी बातें सुभागा को सुलझी हुई व बेलाग लगती हैं। यही कारण है कि उसे अपने भाई पर गर्व होता है, कभी-कभी····

मँगरा जब से खेत में हाथ बँटाने लगा है, पैदावार बढ़ गई है। पिछले साल गेहूँ तो लगभग दुगना हुआ था। लेकिन ऐन वक्त पर सरकारी कर्मचारी आ गये थे, लेवी वसूलने। सारा-का-सारा सपना टूट गया था और एक बार फिर वे चाचा के मुहताज होकर रह गये थे। लेकिन मँगरा का उत्साह आज भी कम नहीं पड़ा है। अब भी वह उतनी ही मेहनत और लगन से खेती में जुटा रहता है। यह बात दूसरी है कि इस बार बहुत कम फसल वह काट पाया है।

सुभागा मन-ही-मन विनती करता है कि इस बार कोई आफत न आये। जितना उपजा है कम-से-कम उतना ही घर पहुँच जाये तो साल-भर का खर्च किसी तरह से निकल जायेगा। वरना उसकी तो मौत ही हो जायेगी। तभी उसे चाचा का ध्यान आता है। बड़ा काँइया आदमी है चाचा ! उनके विचारों तक का शोषण कर लेना चाहता है। लेकिन वह क्या करे ! यदि चाचा ने खर्च देना बन्द कर बँटइया का सवाल उठा दिया तो वह कल से कहीं का नहीं रहेगा। क्या मात्र दो बिगहे खेत की उपज से वह पाँच व्यक्तियों का खर्च चला लेगा ! और वह सर थाम लेता है। गहरी चिन्ता में डूबा जाने कब तक वह शून्य में खोया रहता है।

गाँव की ओर लौट रही मँगरा की मित्र-मण्डली के हँसी-ठहाकों से उसका ध्यान बँटता है। वह भी उठ खड़ा होता है और घर की ओर चल पड़ता है। उसे मँगरा की मित्र-मण्डली भली लगती है। सुभागा ने अक्सर मार्क किया है कि उनकी बातें नये सन्दर्भों से जुड़ी होती हैं। वैचारिक-स्तर पर वह उन्हें भी मँगरा की ही तरह अपने करीब अनुभव करता है। वह थोड़ी दूर का फासला लेकर चुप-चाप उनके पीछे पगडण्डी पर चल पड़ता है और उनकी बातों में अपने को डुबो देने की कोशिश करता है।

'सुना तुम लोगों ने, परसों स्कूल पर हरिश्चन्द्र-नाटक होने वाला है।' सरजू सूचनात्मक अन्दाज में कहता है।

'और सीचन हेडमास्टर स्वयं 'सत्य' हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतर रहे

हैं।' तालकेश 'सत्य' शब्द पर जोर देकर व्यंग्यात्मक लहजे में कहता है और थोड़ा रुककर आगे जड़ देता है—'····जिन्होंने जिन्दगी-भर कभी सच नहीं बोला····।' और सभी खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं।

'मेरे होश में तो यह ड्रामा चौथी बार खेला जायेगा। यार! पता नहीं ये कब तक इसी ड्रामे को खेलते रहेंगे····।' जगेसर हँसी रोकते हुए कहता है।

'अरे क्या करोगे भई! जब तक ये स्वार्थ को अपना आदर्श बनाकर पूजते रहेंगे तब तक ये ऐसे ही आदर्शवादी ड्रामे खेलते रहेंगे····।' मँगरा दार्शनिकों वाले अन्दाज में कहता है। सुभागा को लगता है कि उसका कहना एकदम ठीक है। सीचन हेडमास्टर और उनके ही जैसे अनेक लोग हैं जो आज भी मात्र आदर्श की बातें करते रहते हैं। व्यावहारिक जीवन से बिल्कुल अलग-थलग, ये सदा भविष्य के सुनहरे सपने सँजोये बैठे रहते हैं। आदित मुखिया से लेकर छेदीराम सरपंच तक ऐसे ही लोगों की श्रेणी में आते हैं····

उसे अचानक याद हो आता है, छेदीराम सरपंच का वह भाषण जो उन्होंने पिछले इतवार को चौपाल में दिया था—'····तो भाइयो! यदि हर माई का लाल अपने पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हो जाय तो यह गाँव भी जिले का 'आदर्श-गाँव' चुना जायेगा····समाजवाद लाने के लिए हमारी सरकार ने 'गरीबी हटाओ' आन्दोलन चलाया, फिर असामाजिक तत्त्वों से बचने और देश को स्वार्थपूर्ण गन्दी-राजनीति की भूल-भुलइया से बचाने के लिए 'आपात्-स्थिति' की घोषणा की तो अब हमें चाहिए कि····' आदि-आदि।

सुभागा के जी में आया था कि वह चिल्लाकर पूछे कि चाहिए तो बहुत-कुछ, पर क्या जो चाहिए वह हो रहा है! क्या मात्र नारों से ही समाजवाद आ जायेगा! लेकिन न जाने क्यों वह चुप कर गया था, जाने क्यों उसके अन्दर का ज्वालामुखी फूटते-फूटते रह गया था।

□

विचारों के सैलाब में ही जाने कब वह अपने घर के सामने आ खड़ा होता है। दालान में बैठे चाचा अपने साथियों सहित गाँजे का दम लगा रहे होते हैं। वह चुपचाप अन्दर चला जाता है। आँगन में पड़े जूठे बर्तनों को देखकर वह समझ जाता है कि करीब-करीब सभी खा चुके हैं। उसके इन्तजार में बैठी पत्नी रसोईघर में ही ऊँघ रही होती है, बगल में बैठा मँगरा खाना शुरू करने ही जा रहा होता है, उसे देखते ही मँगरा खाने के लिए पूछता है और पास ही आकर बैठने का इशारा करता है। वह मना कर देता है। आज उसे खाने की इच्छा नहीं। वह चापाकल चलाकर मुँह-हाथ धोता है और अपने कमरे की ओर बढ़ जाता है। थोड़ी देर बाद पत्नी भी आकर खाने के लिए पूछती है परन्तु वह नकारात्मक अन्दाज में सिर हिला

देता है।

अभी वह बिस्तर पर आकर लेटता ही है कि पत्नी भी अन्दर आ जाती है। वह कमरे का दरवाजा बन्द करती है और लालटेन की बाती धीमी कर बगल में आकर चुपचाप सो रहती है, काफी देर की चुप्पी के बाद सुभागा पूछता है—'खाओगी नहीं ?'

'नहीं', सावित्री टका-सा उत्तर देकर चुप हो जाती है। वह जानता है, सावित्री की नाराजगी का कारण चाचा से हुई झड़प है। फिर भी वह उससे पूछता है—'क्या तुम नाराज हो ?'

'…………।'

कोई उत्तर न पाकर वह बात आगे बढ़ाने की कोशिश करता है—'सावित्री तुम समझती क्यों नहीं ! आखिर उमा की शादी भी तो करनी ही है, उसने ससुराल का मुँह तक नहीं देखा और पति की मृत्यु हो गयी। तो इसका मतलब यह तो नहीं कि दुबारा शादी हो ही न ! आखिर उसके भी अपने कुछ अरमान होंगे….!'

'आपने सबके अरमानों का ख्याल किया है क्या ?' बात पूरी होने से पहले ही सावित्री बोल पड़ती है—'….यह साड़ी, यह ब्लाउज, यह साया; क्या सब चाचा की कृपा नहीं ! वे घर के माथ-मालिक हैं जैसा उचित समझें, करें। आप क्यों नाहक बीच में पड़ते हैं ! बाबूजी थे तो साल में तीन-तीन फसल काटते थे और अब दो भी नहीं आप काट पाते। यदि चाचा ने खर्च देना बन्द कर दिया, तब क्या होगा ?'

'लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं कि मैं उनके ही नजरिए से हर चीज को देखूँ। तुम क्यों नहीं समझतीं कि हर आने वाली पीढ़ी का एक खास नजरिया होता है, जिन्दगी को देखने का। तुम तो स्वयं पढ़ी-लिखी और समझदार हो, तुम ही सोचो कि क्या चाचा जबरन अपनी मान्यताओं को हम पर थोपते नहीं !'

'वह तो ठीक है, लेकिन क्या चाचा को नाराज करके गुजारा हो जायेगा ? कल को यदि चाचा बँटवारे की बात उठा दें, तब क्या होगा ! जब तक कहीं नौकरी नहीं लग जाती तुम्हारी, तब तक तो चाचा के अनुसार चलना ही होगा। इस कमरतोड़ मँहगाई में चाचा ने हाथ छोड़ दिया तो कहीं के नहीं रहेंगे हम।'

इसके बाद एक पूरा सन्नाटा छा जाता है। वह सोचता है, पत्नी का कहना शायद गलत भी नहीं है, बल्कि ठीक ही है। उसने अकसर देखा है कि सावित्री उसकी फटी-पुरानी धोतियों को सीकर रंग देती है और उन्हें ही साड़ी बनाकर पहनती है। यहाँ तक कि कस्बे जाते वक्त भी उसने कभी किसी फैशन के सामान की माँग नहीं की। जो भी मिला, जैसा भी मिला, खाती रही, पहनती रही, तो इसका मतलब यही हुआ न कि उसने कभी भी सावित्री के अरमानों का ख्याल नहीं किया। और अनचाहे ही उसकी आँखें भर आती हैं। वह मन-ही-मन चाचा से

समझौता करने की बात सोचकर करवटें बदलने लगता है।

□

सुबह नींद खुलते ही वह सन्नाटे में आ जाता है, भारी शोर-गुल से चौंककर वह बिस्तर से नीचे कूद पड़ता है और भाग रही भीड़ के पीछे हो लेता है। गाँव की पूर्वी छोर वाली पुलिया पर आकर बात साफ हो जाती है। कस्बे के लेवी वसूलने वाले कर्मचारीगण पुलिस के साथ खड़े हैं। एकत्रित भीड़ दो भागों में बँटी हुई है तथा बहस जोरों पर है। सुभागा आगे बढ़कर हो रही बातचीत सुनने लगता है। उसे यह देखकर आश्चर्य-मिश्रित भय होता है कि मँगरा अपने साथियों सहित पुलिस को गाँव में घुसने से रोक रहा है, मँगरा काफी जोर से कहता है—हम लेवी नहीं देंगे, नहीं देंगे, नहीं देंगे····

तभी भीड़ को चीरते हुए दूसरी ओर से चाचा आ जाते हैं, वे मँगरा को डपटकर कहते हैं—'चुप कर मँगरे ! वरना उठाकर पटक दूंगा। तू कौन होता है बीच में बोलने वाला ! स्साला, बोलने की भी तमीज नहीं आई····' और एक झटके से सरकारी कर्मचारियों की ओर मुड़कर वे हाथ जोड़ देते हैं—'हाकिम, इस बार तो पैदावार हुई ही नहीं····'

कर्मचारियों के बीच का साहब बीच में गरजता है—'चुप रहो, जानते नहीं कि तुम्हारे गाँव पर डिग्री हो गई है ! इससे पहले भी दो बार इन्हीं छोकरों ने रास्ता रोका था। इस बार पुलिस भी हमारे साथ है। अब की बैल और किवाड़ तक उठा ले जाएँगे, तभी मानोगे तुम लोग। स्साला ! देश में इमरजेंसी लगी है और ये बित्ते-भर के छोकरे गुण्डागर्दी कर रहे हैं। चलो, हटो सामने से वरना आगे बढ़ने वाले को गोली मार दी जायेगी····!' गोली की बात सुनकर सभी को साँप सूंघ जाता है। सुभागा को लगता है कि उसे बीच में आना चाहिए। वह बीच में जाकर कहने लगता है—'देखिये सर, बात ऐसी है कि इस बार गेहूँ बहुत कम पैदा हुआ है। वैसे भी आप जानते ही होंगे कि इस गाँव का आधा से अधिक हिस्सा ऊसर पड़ा है। फिर हम लेवी कैसे दे सकते हैं····!'

'हुँ-हः, तुम लोगों ने तो तमाशा बना रखा है। जब समय पर पटवन के लिए नहर-विभाग से पानी मिला, समय से कॉपरेटिव ने खाद वितरित की तो मैं पूछता हूँ कि फसल कैसे नहीं हुई ! तुम सब-के-सब निकम्मे हो गये हो····चलो हटो सामने से !' और साहब पुलिस को गाँव में घुसने का इशारा करता है।

'हुज़ूर, ऐसा न करें, बैल और किवाड़ ले जाएँगे तो हम जीएँगे कैसे ! हाकिम, ऐसा न करें····।' छेदीराम सरपंच और उन्हीं के जैसे तमाम लोग गिड़-गिड़ाने लगते हैं, और उन्हीं गिड़गिड़ाने वालों के बीच से हाथ जोड़कर चाचा कहते हैं—'चला जाये हाकिम, हमसे जो बनेगा दे देंगे; कम-से-कम हमारी इज्जत तो बख़्श दें !····' पुलिस दनदनाती हुई पुलिया पर चढ़ आती है और गाँव की ओर

चल पड़ती है, सुभागा की समझ में नहीं आता कि चाचा कौन-सी इज्जत की बात कर रहे हैं, जब बैठकी में (बरसात में) तन पर फटा वस्त्र भी नहीं होगा तब कौन-सी इज्जत रह जायेगी ! उसका दिमाग भन्नाने लगता है, तभी युवकों का एक और जत्था गाँव की ओर से आ जाता है जिसे देखकर मँगरा को काफी बल मिलता है। वह सड़क के बीचोबीच सीना तानकर खड़ा हो जाता है। सुभागा की भी मुट्ठियाँ भिंच जाती हैं और उसे हठात् लगने लगता है कि मँगरा बिल्कुल सही बिन्दु पर है। जब पैदा हुई ही नहीं तो लेवी देने का प्रश्न कहाँ से उठा ! और वह भी गाँव से आये उस जत्थे में शामिल हो जाता है जो मँगरा के पीछे खड़ा पुलिस को आगे बढ़ने से रोक रहा होता है। मँगरा लगभग चिल्लाकर कहता है—'इस वर्ष हम लेवी नहीं देंगे, कहाँ से दें ! क्या चाहते हैं कि जो कुछ भी हुआ है वह सब आप ही को दे दें और ख़ुद भूखों मर जाएँ ! लेवी ही लेनी है तो उन गाँवों में क्यों नहीं जाते जहाँ एक-एक घर में हजारों बोरे सड़ते रहते हैं। आप यहाँ आये हैं हम गरीबों का खून चूसने....!'

लेकिन इतना सुनते ही चाचा दहाड़ उठते हैं—'स्साले मँगरे ! तेरी यह मजाल ! तू कौन होता है बीच में बोलने वाला ! हम घर के माथ-मालिक हैं, हम लेवी देंगे,' कहते हुए चाचा मँगरा को धक्का दे देते हैं।

लेकिन मँगरा सम्भलकर खड़ा हो जाता है तथा पुलिस की बन्दूक की बैरल थामकर चिल्लाता है—'कर्मचारी जी ! कॉपरेटिव से मिली खाद में मिलावट थी, क्या यह आपको नहीं मालूम ! क्या अमोनियम सल्फेट में नमक, यूरिया में साबूदाने और डाई-अमोनियम फॉस्फेट में खेसारी के दाने नहीं मिले थे !....'

सरकारी कर्मचारी और पुलिस वालों के चेहरे का पानी एकबारगी उतर-सा जाता है। वे चाचा का मुँह ताकने लगते हैं।

लेकिन यह क्या ! कर्मचारियों से आँखें मिलते ही चाचा का चेहरा जलती भट्टी की तरह तमतमा उठता है, मानो अपमान उनका अपना हुआ हो। वे आगे बढ़कर मँगरा को घुटनों से धर दबोचते हैं और उठाकर वहीं बीच पुलिया पर पटक देते हैं। क्षण-भर को सभी सन्न रह जाते हैं, यहाँ तक कि पुलिस भी खामोश खड़ी देखती रह जाती है। मँगरा के सर से फूटी तेज खून की धार दोनों दलों के बीच से होती हुई एक लम्बी लकीर-सी खींचकर सड़क के नीचे एक ओर लुढ़क जाती है।

[कहानी, जुलाई 1976]

शंकर पुणतांबेकर

व्यवस्था

अध्यक्ष ने राधाकृष्ण जी को बुला भेजा। राधाकृष्ण जी उनके स्कूल के अध्यापक थे। जब वे पहुँचे तो अध्यक्ष ने कहा, 'शिकायत मिली है कि तुम हमारे बच्चों को मारते हो।'

'बात यह है श्रीमान् !' राधाकृष्णजी ने कहा, 'वह पढ़ाई में बहुत कमजोर है। जब वह गलती करता है तो थोड़ा बहुत मारना ही पड़ता है।'

इस पर अध्यक्ष ने कहा, 'हमने तुमको क्या कहा था। जब हमारा बच्चा गलती करे तो तुम बगल वाले बच्चे को मारो। इससे डरकर वह आगे गलती नहीं करेगा। हमने कहा था या नहीं ?'

'जी, कहा था।'

'यही बात तुमको डॉक्टर साहब ने, वकील साहब ने, सेठ बनवारी लाल ने और डिप्टी साहब ने भी कही थी। तुम बिलकुल भूल गये और उनके बच्चों को भी तुम मारते हो।'

'श्रीमान्, यह तो सरासर अन्याय है कि गलती आप बड़े लोगों के बच्चे करें और बदले में बेचारे गरीबों के बेकसूर बच्चे पीटे जायें।' राधाकृष्ण जी ने निडर होकर कहा।

लेकिन अध्यक्ष को उनकी यह बात धृष्टतापूर्ण लगी। क्रुद्ध होकर बोले, 'न्याय-अन्याय की बात करने का तुम्हें कोई हक नहीं है। हम तुम्हें जो भी आदेश दें उसका तुम्हें बराबर पालन करना होगा। जानते हो हमारा आदेश स्कूल की व्यवस्था कमेटी के अध्यक्ष का आदेश है।'

राधाकृष्णजी इस पर कुछ जवाब देना ही चाहते थे कि अध्यक्ष आगे बोले, 'और तुम जानते हो डॉक्टर साहब, वकील साहब, सेठ साहब और डिप्टी साहब ये सभी व्यवस्था-कमेटी के सदस्य हैं। आइन्दा उनके बच्चों पर भी तुम हाथ नहीं उठाओगे।'

अब तक राधाकृष्ण जी का मुंह तमतमा उठा था। बोले, 'क्या आपकी संस्था का नियम है कि व्यवस्था-कमेटी के सदस्यों के बालकों को पीटा न जाये ?

बदले में बेकसूर बच्चे पिटें ? ऐसा कोई नियम हो तो आप मुझे बता दीजिए ।'

'मैं कहता हूँ, यह मेरा आदेश है ।'

'यह आदेश नियमबाह्य है ।'

'जानते हो, इस आदेश को मैं नियम में भी बदल सकता हूँ ?'

'मैं आपके आदेश का तभी पालन करूँगा ।'

'मैं तुम पर आदेश भंग की कार्यवाही कर सकता हूँ ।'

'आपके हाथ में डण्डा है, आप कुछ भी कर सकते हैं । लेकिन मैं अन्याय की बात कभी नहीं अपनाऊँगा ।' राधाकृष्ण जी ने कहा और वहाँ से उठ गये ।

□

दूसरे दिन राधाकृष्ण जी को नौकरी से बरखास्त किये जाने का आदेश मिला ।

राधाकृष्ण जी के स्थान पर अब रामप्रसाद जी की नियुक्ति हो गयी । राधाकृष्ण जी से इनकी योग्यता बिलकुल कम थी । पर इससे क्या ! अध्यक्ष को इस बात से सन्तोष था कि रामप्रसाद उनके आदेशों का पूरा-पूरा पालन करेंगे ।

रामप्रसाद जी बड़ों के बच्चों की गलती पर छोटों के बच्चों को मारते और डटकर मारते । छोटों के बच्चों को इसमें अन्याय लगा । पर क्या करते बेचारे ! मार खाकर चुप रह जाते । आखिर एक दिन उनमें से नेकराम नामक बच्चे ने अध्यापक जी से कहा, 'मास्टर साहब, आप इन बड़ों की गलती पर हम छोटों को क्यों मारते हैं ?'

'अपने पेट की खातिर, बेटे !'

'मैं समझा नहीं मास्टर साहब !'

'नहीं समझोगे । अभी तुम छोटे हो न ।' रामप्रसाद जी ने कहा, जब बड़े हो जाओगे, आप समझ जाओगे । और बेटे देखो, इनकी गलती पर यदि तुम लोग मार खाते भी हो तो इसमें तुम्हारा बिगड़ता क्या है ? यह तो परोपकार की बात है कि दूसरों के कष्ट स्वयं झेलो । फिर इसमें तुम्हारा यह भी फायदा है कि तुम इनकी वे भूलें कभी नहीं करोगे जिनके लिए तुम मार खाते हो । इस तरह तुम दुनिया के अच्छे आदमी बनोगे । और अच्छे आदमी ही दुनिया में बड़े बनते हैं । और यह भी सोचो बच्चो, इस स्कूल में ये हैं, इसलिए यह स्कूल भी है । वरना तुम लोग कहाँ जाओगे पढ़ने के लिए । ऐसे ही मूढ़ बने रहोगे ।'

यह सुनकर नेकराम चुपचाप अपनी जगह पर बैठ गया ।

बड़े बच्चों के बदले में गरीब पिटते रहे और वे एक दिन सचमुच ही दुनिया के अच्छे आदमी बन गये ।

□

अब इस स्कूल में नेकराम अध्यापक है। एक दिन क्लास में आते ही वह दीवार के अध्यक्ष के फोटो को उतारकर उसके स्थान पर नया फोटो टाँगता है। यह नया फोटो अध्यक्ष के बेटे का था—उसी बेटे का जो नेकराम के साथ पढ़ा था। हाल में ही वह अपने पिता के बाद इस संस्था का अध्यक्ष बना था। डॉक्टर साहब का बेटा डॉक्टर, वकील साहब का वकील, डिप्टी साहब का डिप्टी और सेठ साहब का बच्चा सेठ बन गये थे और आज इन सब के बच्चे इस स्कूल में पढ़ रहे थे। नेकराम ने फोटो टाँगने के बाद बच्चों से कहा, 'बच्चो, उठो और इस फोटो को प्रणाम करो। आज से हम सब के ये ही भगवान हैं।'

बच्चे उठे और प्रणाम किया। हाँ, इनमें डॉक्टर, वकील, सेठ और डिप्टी के बच्चे नहीं उठे और न ही उन्होंने प्रणाम किया।

'क्यों, तुमने प्रणाम क्यों नहीं किया ?' नेकराम ने उन बच्चों से पूछा।

बच्चे कुछ नहीं बोले। अपनी जगह पर गुमसुम बैठे रहे।

'ठीक है, तुम इस तरह नहीं मानोगे। जब तक तुम्हें दहशत न बैठे, तुम ऐसे ही बैठे रहोगे।'

इतना कह नेकराम आगे बढ़ा और उनके बगल में बैठे बच्चों को एक-एक तमाचा जड़ दिया।

नेकराम अपनी जगह लौटकर आया नहीं कि तमाचा खाये एक बालक ने उठकर कहा, 'मास्टर साहब, आप इन बड़ों की गलती पर हम छोटों को क्यों मारते हैं ?'

सुनकर नेकराम एकदम चौंका। उस बालक की ओर कुछ देर अपलक देखने के बाद बोला, 'अपने पेट की खातिर बेटे !'

'मैं समझा नहीं मास्टर साहब !'

'नहीं समझोगे, अभी तुम छोटे हो न। नेकराम ने कहा, 'जब बड़े हो जाओगे आप समझ जाओगे और बेटे देखो, इनकी गलती पर यदि तुम लोग मार खाते भी हो तो इसमें तुम्हारा बिगड़ता क्या है ? यह तो परोपकार की बात है कि दूसरों के कष्ट स्वयं झेलो। फिर तुम्हारा यह भी फायदा है कि तुम इनकी वे भूलें कभी नहीं करोगे जिनके लिए तुम मार खाते हो। इस तरह तुम दुनिया के अच्छे आदमी बनोगे। और अच्छे आदमी ही दुनिया में बड़े बनते हैं। और यह भी सोचो बच्चो, इस स्कूल में ये हैं, इसलिए यह स्कूल भी है। वरना तुम लोग कहाँ जाओगे पढ़ने के लिए ! ऐसे ही मूढ़ बने रहोगे।'

अपनी बात समाप्त करते न करते नेकराम की हालत अजीब हो गयी। अपने आप पर नियन्त्रण पाने के लिए उसने किताब उठायी और उस दिन के पढ़ाने का पाठ ढूंढ़ने लगा।

[सारिका, अक्टूबर 1976 में 'विद्यालय' शीर्षक से प्रकाशित]

शशिप्रभा शास्त्री

धन्यवाद

'मैं कहता हूँ, हो जाएगा, तुम कुछ करो तो सही ।'

'जी सर !'

'जी-जी से काम नहीं चलेगा । तुम्हारे मन में लगन है तो सब हो सकता है । वैर-विरोध तो चलते ही रहेंगे ।'

'तो ?'

'ऐसा करो, तुम दो-चार लड़कियाँ कल ही एक मीटिंग बुला लो । मैं भी आ जाऊँगा । संस्था के बारे में निश्चय कर लेंगे ।'

'जी !' आस-पास खड़ी लड़कियाँ मुसकरा उठीं ।

'हाँ तो कल की मीटिंग का समय ?'

'सर, तीन बजे ठीक रहेगा ।'

'ठीक है, उन नामों की सूची तैयार कर लो जिन्हें मीटिंग के लिए बुलाना है ।'

लड़कियाँ सूची बनाने लगीं ।

□

अगले दिन मीटिंग में खासी बहस हुई । लड़कियाँ कैलाशजी से प्रश्नोत्तर में उलझी थीं ।

'आपने समिति का गठन तो करवा दिया । इतना सुन्दर नाम भी रख दिया । अब इसका उद्घाटन भी तुरन्त करवा दिया जाए ।'

'ठीक है । बताओ, तुम लोग किस प्रकार का उद्घाटन चाहती हो ?'

'उद्घाटन तो एक ही प्रकार का होता है । किसी बड़ी हस्ती को बुलवा लिया जाए । उसके द्वारा उद्घाटन हो और हम काम शुरू कर दें ।'

'पर बुलाया किसे जाए ?'

'मैं सोचता हूँ, किसी राजनीतिज्ञ या पूँजीपति को न बुलाकर किसी

साहित्यिक व्यक्ति को आमन्त्रित करो तो ज्यादा अच्छा ।'

'तो सर आप ही बताइए, किसे बुलायें ?'

'मैं समझता हूँ, क्यों न हम निर्दोष जी को बुला लें । अच्छे साहित्यकार हैं, माने हुए लेखक ।'

'जी, यह अच्छा रहेगा, वे कविता भी लिखते हैं । हमने उनके नाटक भी पढ़े हैं ।'

'मैं चाहता था, किसी महिला साहित्यकार को आमन्त्रित किया जाता तो अच्छा रहता ।'

लड़कियाँ विचारने लगीं, फिर मास्टरजी की ओर टकटकी लगाकर देखने लगीं ।

'सुनो, कुछ सूझ नहीं पड़ रहा । जहन में नाम आ तो रहे हैं, पर मुश्किल है कि कोई महिला साहित्यकार निकट है नहीं । पत्र-व्यवहार में समय लगता है । तुम्हारी संस्था के पास अभी इतना पैसा भी नहीं कि किसी को आने-जाने का किराया और भेंट दे सको । दूसरे किसी कार्यक्रम में महिला को बुला लेना—इस समय निर्दोषजी को ही आमन्त्रित कर लो ।'

निर्दोषजी को आमन्त्रित किये जाने की बात से सभी आनंदित थीं, आंदोलित भी—'इतना बड़ा साहित्यकार आएगा हमारी संस्था में, बड़ी बात होगी न सर !'

'अच्छा तो कार्यक्रम क्या रहेगा उस दिन ?'

'जी, आरम्भ में एक वृन्दगान ।'

'एक छोटा-सा नृत्य भी हो सकता है, छोटी लड़कियों का ।'

'हाँ, यह अच्छा रहेगा—एक संक्षिप्त सांस्कृतिक कार्यक्रम होना ही चाहिए ।'

'उसके पश्चात् सब पदाधिकारी विचार प्रकट करें । आमन्त्रित अतिथियों से भी बोलने के लिए कहना होगा ।'

'जी हाँ, यह ठीक रहेगा ।'

'तो पहले सोच लें कि इस स्थान के किन-किन व्यक्तियों को आमन्त्रित करना है ।'

'तुम यह क्यों नहीं सोचतीं कि आमन्त्रित तो एक-एक व्यक्ति को करना है । मेरा तात्पर्य महिलाओं से है । महिला-संस्था होने के नाते तुम सभी महिलाओं को आमन्त्रित करो । किसी को शिकायत न रह जाए और सब तुम्हारी संस्था को सहयोग दें ।'

लड़कियाँ सोच-सोचकर सूची बनाने लगीं ।

'सबसे पहले लिखो, सेठ गनपतलाल गुप्त, सेठ छदामीलाल, सतनाथ बाजपेयी, स्नेहप्रकाश दीक्षित, बसन्तदेवी मिरासी, फैक्टरी मैनेजर दीपचन्द तथा मालिक श्री विनोदनारायण झाउवाला ।'

'श्री प्यारेलाल देवरिया को नहीं बुलाएँगे सर ?'

'उन्हें तो जरूर आमन्त्रित करना है, इलाके के सबसे बुजुर्गवार तो वही हैं—स्वतन्त्रता सेनानी भी ।'

□

निमन्त्रण-पत्र लड़कियों ने बाँटे, पर कैलाशजी व्यक्तिगत रूप से सबके पास गये । किन्तु सबसे बड़ा काम निर्दोषजी को आमन्त्रित करना था ।

निर्दोषजी पचीस मील दूर बड़े नगर में रहते थे और वहीं एक दफ्तर में काम करते थे । साहित्य-सृजन उनका शौक भी था और जरूरत भी । कैलाशजी को देखते ही उन्होंने तपाक से स्वागत किया, बोले—

'कहिए, कैसे आना हुआ, आप तो काफी दूर रहते हैं ?'

'जी आपको तो मालूम ही है कि मैं भद्रनगर के कॉलेज में अध्यापक हूँ । भद्रनगर में महिलाओं की कोई संस्था न थी । मैंने छात्राओं को तैयार किया । वे चाहती हैं, संस्था का उद्घाटन किसी साहित्यकार से करवायें, सो उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है ।'

'मेरा नाम ! मजाक तो नहीं कर रहे आप ?'

'मजाक ! लड़कियों के साथ-साथ मैं स्वयं चाहता हूँ कि पूँजीपति या राजनीतिज्ञ के बजाय हम किसी साहित्यकार का सम्मान करें । आपसे बढ़कर हमें कोई नहीं दीखता ।'

'भई, मैं आपकी बात समझ रहा हूँ, पर मैं व्यस्त हूँ । मजदूर आदमी हूँ । दिन भर दफ्तर में मगज-पच्ची फिर शाम को अपना यह गोरखा-धन्धा ।'

'गाड़ी आपको घर से ले जाएगी और घर पर ही छोड़ जाएगी । आप सिर्फ दर्शन दे दीजिए—इतना काफी है ।'

'वहाँ कुछ कहना-करना नहीं पड़ेगा !'

'आशीर्वाद, शुभकामना, मार्ग-दर्शन जो भी आप कहें । मुख्य अतिथि आप ही होंगे । हम आपके बड़े आभारी होंगे ।'

निर्दोषजी सोचने लगे ।'

'सोचना-विचारना कुछ नहीं है आपको, बस हामी भर दीजिए । हम सब खुश हो जाएँगे । पूरा इलाका आपके दर्शन को लालायित है ।'

निर्दोषजी कुछ सोचने लगे । किसी पत्रिका ने रचना की माँग की थी । बहुत दिन से सोच रहे थे रचना तैयार करने के लिए । माना कि सवारी घर से ले जाएगी, घर छोड़ भी जाएगी, पर तीन-चार घण्टे तो खर्च हो ही जाएँगे । फिर उनका सामाजिक दायित्व भी है, जैसा कि कैलाशजी कह रहे हैं, छोटी-छोटी बच्चियों ने उन्हें बुलाया है ।

'आपको ज्यादा समय नहीं देना होगा । बस यही एक-डेढ़ घण्टा ।' निर्दोषजी का द्वन्द्व शायद कैलाशजी ने भाँप लिया था ।

'कार्यक्रम क्या रहेगा ?' निर्दोषजी स्वयं को अपराधी समझने लगे थे ।

कैलाशजी ने दोहरा दिया, 'आप सभापति रहेंगे । किसी पूँजीपति या राजनीतिज्ञ को हम मंच पर नहीं बैठा रहे ।'

□

टैक्सी में सवा घण्टे चलने के बाद भद्रनगर आ गया था । मार्ग में हरियाली, दूर पर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ और हरियाली के बीच छोटे-छोटे सफेद घर । शीतल मन्द हवा के झोकों ने निर्दोषजी को मुग्ध कर दिया ।

समारोह के स्थान पर पहुँचते ही उन्हें ससम्मान बैठाया और मालाओं से लाद दिया गया । सभापति का आसन ग्रहण कर उन्होंने श्रोता-समूह पर दृष्टि डाली । आगे की पंक्ति में कुछ पुरुष थे, पीछे महिला-समुदाय । संचालन एक युवती कर रही थी । सबसे पहले वन्दना, फिर समूह-नृत्य, एकाकी नृत्य, एक एकांकी । कार्यक्रम पौन घण्टे चलता रहा । कार्यक्रम की तत्परता और रंगीनी में निर्दोषजी को अचानक बोध हुआ कि वे जिस मंच पर बैठे हैं उस पर लौटते सूरज की रश्मियाँ सीधी पड़ रही हैं । आँखें-सिर-गरदन सभी तप उठे । काली ऐनक चढ़ा लेने पर किरणें उनकी आँखों में और कठोर होकर जलने लगीं । लगा, मंच पर बैठना उनके लिए असम्भव होता जा रहा है । छोटी बालिकाओं का नृत्य चल रहा था । आधा घण्टा और वे धैर्य धारण किये बैठे रहे । सवा घण्टे के सांस्कृतिक कार्यक्रम के बाद समीप बैठी अध्यक्षा से बात की । धूप के कारण वे स्वयं भी व्यथित थीं । दोनों मंच से नीचे उतरकर दर्शकों के साथ सुविधा से बैठ गये ।

अब भाषण शुरू हुए—प्रथम, द्वितीय, तृतीय—सातों पदाधिकारियों ने भाव पूर्ण मुद्राओं में अपने विचार प्रकट किये । एक घण्टा और व्यतीत हो गया । निर्दोषजी को लगा कि वे कुरसी पर बैठे-बैठे भी थक गये हैं । पैरों में सख्त दर्द पहले ही था । कुरसी पर पैर लटकाये बैठे रहने से अब बेहद बढ़ गया था ।

अब भद्रनगर के उपस्थित प्रतिष्ठित भद्र-समूह के आशीर्वाद देने की बारी थी । एक-एक कर उन्हें मंच पर आमन्त्रित किया जा रहा था और वे बड़े आराम से आशीर्वाद दे रहे थे । ढेरों बातें, ढेरों प्रश्न, समस्याएँ, सहयोग के आश्वासन । सूरज की प्रखर किरणें सुकुमार होती जा रही थीं और फिर धीरे-धीरे लुप्त । विभिन्न सम्भ्रांत व्यक्ति, जो स्थानीय संस्थाओं से सम्बन्धित थे, बड़ी संख्या में बाकी थे । उनके भाषण इतमीनान से हो रहे थे, धीरे-धीरे बारीकी से । निर्दोषजी सोचने लगे थे, उन्हें क्या कहना है ? कुछ व्याख्याता खासा समय ले लेने के बाद भी समय के अभाव के कारण पीड़ित थे । जो भी आता, जमकर खड़ा होता और डटकर

बोलता। उनकी स्थली पर एक साहित्यकार आया है, तो वे अपने करतब दिखाने से क्यों चूकें! निर्दोषजी सहन करते रहे। दिन पूरी तरह ढल चुका था। अब केवल दो वक्ताओं को और बोलना था। उसके बाद सभापति यानी मुख्य अतिथि यानी निर्दोषजी की बारी थी। वे चेतन हुए। पैरों के दर्द और थकान को भुला दिया। अभी तक हर वक्ता का एक-एक शब्द ध्यान से सुना तो उन दो की ही उपेक्षा क्यों करें?

लोग-बाग वक्ताओं के साथ-साथ आँख बचाकर मुख्य अतिथि की भाव-मुद्राएं भी निहारते हैं। उसे इस तरह ढला देख उन्हें कैसा लगेगा? तरोताजा और प्रमुदित दीखने के प्रयास में निर्दोषजी तने बैठे रहे—गरदन एकदम सीधी, आँखें पूरी तरह खुली हुईं, ओठ अह्लाद और सन्तोष की मुसकान में खिले। उन्हें महसूस होने लगा कि इस प्रयत्न में वे थकते चले जा रहे हैं। तभी उनका नाम पुकार लिया गया।

निर्दोषजी की आँखें अब भी तप रही थीं, दिमाग में हल्का-सा तनाव था। लग रहा था जो कुछ उन्हें कहना था, उसकी समाप्ति हो चुकी है। अंगारे बुझ गये हैं, राख रह गयी है। फिर भी अपने नाम पर उन्होंने तत्परता दिखायी। भव्य ढंग से चलते हुए वे मंच पर आये। तालियाँ पिटीं। निर्दोषजी ने अपने सामने के चेहरों पर नजर डाली—थके-मांदे बासी से हो रहे चेहरे। सम्भ्रांत नागरिकों की पाँत कुछ इस प्रतीक्षा में कि देखें कि मुख्य अतिथि आखिर क्या बात हमसे बढ़कर कहता है? मुख्य अतिथि सिर्फ औपचारिकता निभाने की मनःस्थिति में आ चुका था। उसने आरम्भ किया, 'बहनो, भाइयो और प्रिय बच्चो! हम सब काफी देर से उपयोगी और रोचक भाषण सुन रहे हैं। अब मैं समझ नहीं पा रहा कि मेरे कहने को बचा क्या है? इसलिए मैं अपने सभी सहयोगी वक्ताओं का आभार मानता हूँ, जिन्होंने मुझे अपने भाषणों द्वारा अत्यन्त प्रभावित और मुग्ध किया (भाषणकर्त्ता सन्तोष से मुसकरा रहे थे)। इसके उपरान्त मैं संस्था के सभी पदाधिकारियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना चाहूँगा—जिनके अनुरोध के कारण इस मंच पर आ सका। समय काफी अधिक हो चुका है, अतएव अपना वक्तव्य सिर्फ दस मिनट में समाप्त कर दूंगा।' और निर्दोषजी ने अपना भाषण दस नहीं, सिर्फ सात मिनट में समाप्त कर दिया—कहानी के सात साफ-सुफरे पृष्ठों की तरह।

आयोजन एक विद्यालय में था। जलपान का प्रबन्ध भी वहीं था। हाल ही निर्मित होने के कारण प्रकाश की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। सलेटी अन्धकार कमरे में अच्छी तरह फैल चुका था। निर्दोषजी चुपके से भीड़ में से निकलकर बाहर खुले मैदान में आ खड़े हुए।

निर्दोषजी को बाहर अच्छा लग रहा था। तभी संचालिकाएँ बाहर आयीं—

'निर्दोषजी, हम आपको भीतर देख रही थीं।'

'मैं बाहर आ गया था, भीतर कुछ घुटन महसूस हो रही थी।'

'जी हमें अफसोस है ।'

'कोई बात नहीं, कैलाशजी किधर हैं, उनसे विदा ले लूँ ।'

'अभी बुलाते हैं ।' लड़कियाँ दौड़कर चली गयीं और तुरन्त लौटकर आ गयीं । कैलाशजी आकर खड़े हो गये ।

'चलिए, हम लोग चलते हैं । टैक्सी तैयार है ।' कैलाशजी ने भावुक होकर निर्दोषजी का हाथ थाम लिया ।

'सच हम लोग तो आज गद्‌गद् हो गये । आपने देखा, हमारे जी० एम० महोदय और यहाँ की फैक्टरी के मालिक—हमारे कॉलेज के सर्वेसर्वा, देश की सम्पूर्ण राजनीति का अंश-अंश समझने में पारंगत, इतने बड़े आदमी, जिनकी कोठियाँ कई शहरों में हैं, यहाँ हम लोगों के बीच इतनी देर बैठे रहे । सच, आश्चर्य हो रहा है । इतना व्यस्त आदमी, जिसे इतने काम करने होते हैं, इतनी बड़ी जिम्मेदारियाँ सम्भालनी होती हैं, वह हमारे साथ इतनी देर रहा । यहाँ के फैक्टरी-मालिक इन्सान नहीं देवता हैं ।'—सचमुच गद्‌गद् हो उठे थे कैलाशजी । फिर बोले, 'आज तो आपने कुछ नहीं सुना । एक दिन हम आपको उनका भाषण सुनने के लिए पुनः आमन्त्रित करेंगे ।

'वे चले गये ?'

'हाँ इस समय तो चले गये ।' कैलाशजी का स्वर जैसे निर्दोषजी को उनसे न मिलवा पाने पर अफसोस प्रकट कर रहा था, 'उन्हें विदा करके ही आ रहे हैं हम लोग ।'

'संस्था की सभी सदस्याएँ भी आपके साथ रही होंगी ?'

'जी सभी थीं । दरअसल आज हमारे कार्यक्रम के कारण फैक्टरी-मालिक को क्लब जाने में काफी देर हो गयी ।' कैलाशजी ने निर्दोषजी का हाथ भावुकता के आवेश में एक बार फिर दबा दिया था ।

[कादम्बिनी, नवम्बर 1976]

सुधा अरोड़ा

दहलीज पर संवाद

अंधेरी ड्योढ़ी को पार कर दोनों शिथिल आकृतियाँ जीने की तरफ बढ़ती हैं। पुरानी चप्पलों की धीमी चरमराहट के साथ-साथ सीमेंट के फर्श पर छड़ी के बार-बार टिकाये जाने का अपेक्षाकृत तेज स्वर उभरता है, फिर रुक जाता है।

—देख कर आना सुमित्रा, अंधेरा है।

—बत्ती क्या हुई ?

—तोड़-ताड़ दिया होगा बल्ब, पड़ोस के बच्चों ने।

—गये थे तो ठीक था।

—हरामखोर कहीं के !....

चप्पलों की चरमराहट और छड़ी की टक-टक का समवेत् स्वर फिर शुरू होता है। इस बार उसमें हाँफने की भारी आवाज भी जुड़ जाती है। ऊँची चढ़ती हुई छड़ी की टक्-टक् दो-तीन क्षणों के लिए ठिठकती है।

—थक गयीं ?

—हाँ ऽ....

—कहा था, रिक्शा ले लेते।

—अढ़ाई रुपये माँग रहा था।

—तो क्या हुआ ? आराम से तो आ जाते !

—पैसे का ख्याल नहीं है आपको।

—सेहत के मामले में कंजूसी नहीं दिखानी चाहिए। इस उम्र में सेहत ही नियामत है।

—खैर....हम कौन-सा रोज-रोज स्टेशन जाते हैं।

छड़ी की आवाज काफी ऊपर जा कर एक बार फिर रुकती है। चप्पलों की चरमराहट के साथ-साथ गहरे निश्वास जारी रहते हैं। झुर्रियों वाला एक हाथ नीचे अगली सीढ़ी तलाशता है।

—मैं आऊँ ?

—नहीं। मैं धीरे-धीरे चढ़ रही हूँ। आप दरवाजा खोलिए।

—चाबी तो तुम्हारे पास है।

—हाय रब्बा ऽऽ····

—ठण्ड तो नहीं लग रही ?

—नहीं।

—मुझे तो लग रही है।

—अच्छा ?

—डॉक्टर कह रहा था कि इस उम्र में रात को बाहर नहीं निकलना चाहिए।

—पर जाना तो था ही।

—मैं यह थोड़े ही कह रहा हूँ।

—चलो, अब तो आ गये····

चाबियों की खनखनाहट शुरू होती है। फिर दरवाजा खुलता है। स्विच के ऊपर-नीचे होने की आवाजें आती हैं। उसके बाद गहरी खामोशी छा जाती है।

—क्या हुआ ?

—बत्ती ही नहीं है।

—फिजूल बेचारे बच्चों को कोस रहे थे। अब ?

—तुम भीतर तो आओ।

—हूँ।

—मोमबत्ती है घर में ?

—ढूँढ़नी पड़ेगी।

—और वह जो राज की टॉर्च थी····

—उसका मसाला कहाँ बदलवाया !

—चलो, खैर, सोना ही है अब।

—खाना नहीं खाओगे ?

—भूख नहीं है।

—क्यों ?

—पता नहीं। तुम खा लो।

—नहीं।

—क्या हुआ ?

—ऐसे ही। जी नहीं करता।

—तो फिर दरवाजा बन्द कर दो।

—अच्छा।

□

तेज खड़खड़ाहट के साथ दरवाजा बन्द होता है। घरघराती हुई साँसें कमरे में गूंजती रहती हैं। फिर बिस्तर पर किसी बोझ के ढह जाने की आवाज आती है। एक मिनट के लिए जैसे सब कुछ रुक जाता है।

—हाय, मेरे रब्बा !

—थक गये न आप भी ?

—नहीं तो।

—आपकी आवाज से लग रहा है।

—क्या हुआ है मेरी आवाज को ?

—आपको नहीं पता चलता ?

—नहीं।

—जैसे गले में कुछ फँसा हुआ होता है।

—क्या ?

—जैसे गला अकड़ गया हो।

—ठण्ड जो थी रास्ते में।

—गुलूबंद ले लेना था।

—उससे क्या फर्क पड़ना था !

—फिर भी। डेढ़ मील तो होगा ही यहाँ से स्टेशन।

—ज्यादा।

—अब वह शरीर भी तो नहीं रहा।

—हूँ....

—जूते उतार लिये ?

—उतार रहा हूँ।

—टाइम क्या हुआ ?

—साढ़े बारह।

—वे लोग इटावा पहुँच गये होंगे।

—अभी कहाँ ! एक बजे आता है।

—टिन्नी दूध के लिए रो रहा होगा।

—हूँ।

—बहुत रोता है।

—आदतें बिगाड़ रखी हैं।

—और क्या !

—अपना राज नहीं रोता था इस तरह।

—आजकल की लड़कियों को बच्चे पालने नहीं आते।

—क्योंकि, बच्चे पाले जाते हैं आजकल। पहले तो अपने आप पल जाते थे।

—कहो तो बुरा लगता है।

—जमाना नहीं है किसी को कुछ कहने को।
—हूँ....
—तुमने कहा तो नहीं था कुछ ?
—नहीं। ऐसे ही एक बात की है।
—खैर....
—कपड़े बदलने हैं आपने ?
—नहीं।
—ऐसे ही सोयेंगे ?
—हाँ।
—कम्बल ले लेना ऊपर।
—ले लिया है।
—पानी पीना है ?
—नहीं।
—और कुछ ?
—नहीं।
—मैं सो जाऊँ फिर ?
—हाँ।

□

चुप्पी कमरे पर छायी रहती है। दूर कहीं चौकीदार आवाज लगाता है। फिर जोर-जोर से बात करते हुए लोगों का झुंड नीचे फुटपाथ पर से गुजर जाता है। फिर दूर-दराज तक वही चुप्पी।

—मैंने कहा....
—हूँ।
—सो गये क्या ?
—नहीं।
—नींद नहीं आती ?
—पेट अजीब-सा हो रहा है।
—खाना जो नहीं खाया।
—तुमने भी तो नहीं खाया।
—अब कौन सियापा करे....
—राज और इन्द्रा के सफर के लिए जो खाना बना था....
—सारा ही मैंने टिफिन में डाल दिया था। इन्द्रा मना करती रही। मैंने जबरदस्ती रख दिया। गाड़ी में भूख ज्यादा लगती है। दो रातों का सफर है।

—रात बहुत हो गयी है····

—हूँ····

—मैंने कहा····सुनते हैं····?

—हूँ····

—घर कैसा चुप-चुप हो रहा है !

—क्या ?

—कैसा मनहूस लग रहा है घर !

—बच्चे की रौनक तो होती ही है।

—बड़ा शैतान है।

—बाप पर गया है।

—माँ पर नहीं ?

—नहीं।

—मैंने राज को बताया था।

—क्या ?

—कि टिन्नी बिल्कुल तेरे पर गया है।

—फिर ?

—फिर क्या ?

—राज ने क्या कहा ?

—कहने लगा, अपने दादा पर गया है।

धीमी, पोपली खिलखिलाहट से सारा कमरा भर जाता है। फिर करवट बदलने की सरसराहट शुरू होती है।

—तुम्हें याद है ?

—क्या ?

—अपना राज बिल्कुल टिन्नी जैसा था।

—हाँ, मगर भारी ज्यादा था।

—मोहल्ले के बच्चों से तो उठता ही नहीं था।

—बीस साल हो गये····

—नहीं, पच्चीस····

—अब भी कितना साफ-साफ याद है !

—सारे कमरे में घिसटता रहता था।

—बच्चे कितनी जल्दी बड़े हो जाते हैं !

—ओमी, पाल, नीलू के तो अपने बच्चे भी कितने बड़े-बड़े हो गये····

—सब छोटे थे, तो सुबह-शाम कितना ऊधम मचाते थे !

—पर प्यार कितना था आपस में !

—अब तो चिट्ठी-पतरी भी नहीं····

—पीछे देखो तो पता चलता है ।
—जमाना था वह भी । अब तो कुछ भी नहीं····
—क्या ?
—कुछ नहीं····

□

खामोशी फिर से उतर आती है । तभी घण्टे की तेज आवाज सुनायी देती है । उसके बाद फिर वही करवटें बदलने की सरसराहट ।

—एक बज गया ।
—दूध मिल जाता है वहाँ ?
—हाँ, बड़ा स्टेशन है ।
—तकलीफ होगी ।
—वो तो होगी ही । रात का सफर है ।
—कहा था, दिन की गाड़ी से चले जाते ।
—अपनी मर्जी के मालिक हैं सब ।
—फिर भी····
—तुमने रुपये पकड़ा दिये थे टिन्नी के हाथ में ?
—हाँ ।
—कितने ?
—दस ।
—बीस देने थे ।
—दस ही थे मेरे पास ।
—परसों मैंने दिये जो थे !
—उनसे मैंने टिन्नी को खिलौने खरीद दिये थे ।
—ओ····

दो क्षणों तक सब चुपचाप रहता है । फिर चारपाई चरमराती है । खंखारने की आवाज के साथ फिर सन्नाटा छा जाता है ।

—कितने के आये खिलौने ?
—सोलह रुपये कुछ पैसे के थे ।
—बड़े मँहगे लिये !
—सस्ती कौनसी चीज आती है आजकल !
—हमारे बच्चे तो चम्मचों से ही खेलकर खुश हो जाया करते थे ।
—तब की बात और थी ।
—अच्छा, सुनो ।
—हूँ ?····

—बाकी कितने पैसे रह गये अलमारी में ?
—तीस।
—कितने ?
—तीस।
—बस ?
—हाँ।
—इस महीने बड़ा खर्च हो गया ! अभी आधा महीना भी नहीं····
—बच्चे भी तो तुम्हारे ही हैं !
—हाँ, लेकिन····
—क्या ?
—कुछ नहीं।
—बोलो भी।
—नहीं, कुछ नहीं····

□

बूट पटकता हुआ, लाठी की ठक्-ठक् के साथ, चौकीदार एक बार फिर सड़क से गुजर जाता है। सांस लेने की थकी हुई सरसराहट और सन्नाटा—दोनों बने रहते हैं।

—इस बार राज खुश था बहुत।
—यहाँ आकर ?
—नहीं, वैसे ही।
—कोई बात तो होगी।
—खुद तो वह कुछ नहीं बोला, पर इन्द्रा बता रही थी।
—क्या ?
—कह रही थी, यहाँ से लौटकर जायेंगे तो बदली होगी और तरक्की भी···· राज ने तुमसे कुछ नहीं कहा ?
—बदली होगी ?
—हाँ।
—इधर पास कहीं ?
—कह रही थी, आसाम की तरफ····
—आसाम की तरफ ?
—हाँ। क्यों ?
—वह तो बहुत दूर है।
—अच्छा ?

—एक तरफ के सफर में ही तीन-चार दिन लग जाते हैं....

—हाय मेरे मालिक !

—आना-जाना मुश्किल हो जायेगा।

—हमारा क्या होगा ?

—हूँ ?

—हमारा क्या होगा।

—हमारा क्या हो सकता है।

एक मनहूस चुप्पी कमरे में खिंच जाती है। काफी देर तक कोई आवाज नहीं उभरती। उसी सन्नाटे में कहीं गहरे में से एक थकी हुई आवाज जैसे गूँजती है।

—कितनी तनख्वाह हो जायेगी अब राज की ?

—सत्रह सौ।

—स-च ?

—हाँ, इन्द्रा कह रही थी।

—मैं कल सोसायटी वालों को बताऊँगा। खोसला साहब को भी। बड़ा रोब मार रहे थे।

—और आप कर भी क्या सकते हैं।

—क्या कहा ?

—कुछ नहीं।

—कभी-कभी बहुत कड़वी बात कह जाती हो !

—सच नहीं है क्या ?

—होगा।

—होगा नहीं, है।

—पर हमारे पास खुश होने के लिए इसके अलावा रास्ता भी क्या है ?

—मैंने तो एक बात कही थी।

इस बार एक आकृति उठकर चारपाई पर बैठ जाती है। चारपाई जोरों से चरमरा उठती है।

—उठ गये ?

—हाँ।

—क्यों ?

—नींद नहीं आ रही।

—तबीयत ठीक है ?

—हाँ।

—तो फिर ?

—बस, नींद नहीं आ रही।

—वे लोग भी गाड़ी में जाग रहे होंगे।

—सो गये होंगे शायद। रात काफी हो गयी है।
—टिन्नी तंग न कर रहा हो कहीं।
—तुम्हें क्या पड़ी है ?
—ऐसे ही····खयाल तो आता ही है····
—हूँ····
—क्या सोच रहे हैं ?
—····
—बताइए भी। यही आपकी खराब आदत है।
—सोच रहा हूँ, पिछले दस दिन कितने अच्छे गुजरे।
—वो तो है ही।
—अब मनहूस लग रहा है सब कुछ।
—बड़े कम वक्त के लिए आते हैं हर वार।
—खर्च भी तो बहुत हो जाता है।
—क्या करें !
—दिल पर पत्थर रखना पड़ता है।
—····
—अपने बच्चों को भी खयाल नहीं आता····
—····
—कि इस उम्र में इस तरह अकेले····
—चलो जी, राजी-खुशी रहें, अपने घर····
—दस दिन रह कर जाते हैं तो मेरा तो कलेजा कट जाता है।
—क्या ?
—कलेजा कट जाता है।
—एक हफ्ता और रुकने के लिए कहना था।
—कहा था।
—फिर ?
—इन्द्रा बोली कि छुट्टी नहीं है····
—पर राज तो कह रहा था····
—मुझे भी कहा था।
—फिर ?
—मैंने इन्द्रा और राज की बातें सुनी थीं····
—क्या कह रहे थे ?
—····
—बताओ भी, क्या कह रहे थे ?
—इन्द्रा रो रही थी कि यहाँ उसका मन नहीं लगता। सारा दिन करने

को कुछ नहीं होता। घूमना भी अच्छा नहीं लगता।

—....

—कह रही थी कि बीमारों के बीच उसके बच्चे को कुछ हो गया तो....

—....

—आप चुप क्यों हो गये ?

—कुछ नहीं।

—बोलो भी।

—ऐसे ही। एक बात याद आ गयी।

—क्या ?

—मेजर लाल सुनाते थे न—जिस तरह पिछली लड़ाई में सिपाही जख्मियों को साथ ढोने से तंग आ कर पीछे छोड़ जाते थे, उसी तरह....

—क्या उसी तरह ?

—कुछ नहीं, सुमित्रा। अब सोना चाहिए।

—बोलो भी। क्या कह रहे थे ?

—मुझे तो लगता है....

—क्या लगता है ?

—बताऊँ ?

—हाँ।

—कि हम न इधर हैं, न उधर....

—क्या ?

—तुम्हें ऐसा नहीं लगता ?

—कैसा ?

—कि हमें अब....

—हाय मेरे रब्बा, मनहूस बातें ही निकालोगे....

—नहीं क्या ?

—अब बस भी करो....

—सच बताओ, क्या तुम्हें भी ऐसा लगता है ?

कोई उत्तर नहीं मिलता। सिर्फ अलग-अलग चारपाइयों पर साँसें उठती-गिरती रहती हैं। ऊपर छत पर धूल-सना, मैला पंखा धुंधला, और धुंधला होता जाता है। दूर कहीं दो का घण्टा बजता है तो अन्धेरेदार सन्नाटा यूँ काँपता है जैसे कोई अधमरी चीज हवा में उलटी लटक रही हो....

[सारिका, नवम्बर 1976]

सुरेश उनियाल

योद्धा

जानता हूँ कि देर से घर आ रहा हूँ। घड़ी की छोटी सुई दस पार कर चुकी है। पर देर तो हो ही सकती है। आखिर मैं अब काफी बड़ा हो गया हूँ, बच्चा तो रहा नहीं। वाकई मुझे पिताजी की यह आदत अच्छी नहीं लगती। काफी परेशान हूँ मैं इससे। आर्डर है, नौ से पहले घर पहुँच जाऊँ। यानी नौ बजे एक लक्ष्मणरेखा है, जिसे पार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं। पार हो गयी, तो न गुस्सा होंगे न डाँटेंगे, बस बात नहीं करेंगे। कई बार समझाया कि मैं चाहता तो यही हूँ कि ठीक टाइम पर घर पहुँचूँ, फिर भी यदि कभी देर हो भी गयी, तो क्या हुआ! वैसे तो आप कहते हैं, मैं बड़ा हो गया हूँ, समझदार भी हो गया हूँ, तब मेरे देरी से आते ही आप परेशान क्यों होने लगते हैं? यह मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। कभी अच्छा नहीं लगता कि जब मैं आऊँ, पिताजी अपनी छड़ी का सहारा लिये दरवाजे से टिके खड़े हों या दरवाजे के बाहर से लेकर गली के नुक्कड़ के चक्कर काट रहे हों। बचपन से ही मुझे उनकी इस प्रकार की हरकत से परेशानी होती आ रही है। तब भी अगर कभी स्कूल से आने में देरी हो गयी तो आ जायेंगे स्कूल तक ही। एक बार तो बीमार थे, वैसे ही उठ गये। माँ ने जब बिस्तर खाली देखा, तो चाचाजी आदि को उनकी तलाश में दौड़ाया। मैं जब आया, तो मुझे भी तगड़ी डाँट पड़ी। और फिर होता यह कि मेरे जरा देरी से आते ही सारे मुहल्ले को पता लग जाता। और फिर जब मैं आता, तो गली के नुक्कड़ से ही पहले तो पटवारी जी कहते, 'अरे भाई, प्रकाश, तुम्हारे पिताजी····'और फिर मेरे तेवर अच्छे न देखकर सहम-से जाते। वाक्य पूरा करने के लिए जोड़ते, 'काफी कमजोर हो गये हैं आजकल।' मैं कोई और जवाब दिये बिना ही आगे बढ़ जाता तो पीछे से उनकी बड़बड़ाहट अवश्य सुनायी दे जाती, 'निकल गया हाथ से पंडज्जी का यह लौंडा भी!' मैं कहना चाहता, तुम्हारा जो लौंडा चार साल से दसवें में फेल होता जा रहा है, वह तो सुधरा हुआ है—मुझसे एक साल आगे था वह। अब मैं अगले साल बी० ए० कर लूंगा और वह रहेगा वहीं दसवें में? पर कुछ न कह सकता।

आगे सत्तो की माँ मिल जाती, 'क्यों परेशान करता है रे तू पंडज्जी को?

टैम से नी आ सकता घर ?'

मैं कहता, 'टैम हुआ ही क्या है अभी ! कहीं आग लग गयी या डाका पड़ गया ?' यह मैं काफी जोर से कहता, ताकि घर पर पिताजी भी सुन लें। बाद में लोगों ने मुझसे कहना छोड़ दिया था, पर अपने देर से आने पर मुझे पूरे वातावरण में एक खुसबुसाहट-सी व्याप्त मिलती और गली का लगभग हर व्यक्ति अपने घर से मुझे झाँकता मिलता। इससे मैं और भी परेशान हो जाया करता।

घर आकर गुस्सा निकालने के लिए मेरे पास एक ही चीज होती—खाना। कोई-न-कोई दोष निकाल कर खाना छोड़ देता। तब माँ कह देती, 'नहीं खाता, तो मत खा ! यह ऐंठ तो मेरे पास नहीं चलेगी ! मैं नहीं डरती ऐसी हेकड़ियों से !'

उसी समय अन्दर से पिताजी की आवाज आती, 'मेरे लिए भी मत लाना खाना।'

तब हाथ नचा-नचाकर माँ कहती, 'सुन लिया ? आखिर क्यों तूने कसम खा रखी है हम सबको परेशान करने की ? ऐसा ही तू, ऐसे ही तेरे बापू !' और फिर बड़बड़ाती हुई अन्दर जाती, 'क्योंजी, क्या तुम चाहते हो कि मैं भी न खाऊँ ?'

पिताजी उस समय कुर्सी पर बैठे अखबार उलट रहे होते, बिना सिर उठाये ही कहते, 'तुम्हें किसने मना किया है ? तुम जाकर खाओ।'

माँ तुनक जाती, 'कौन सुसरा खा सकेगा ऐसे में ? वैसी ही तुम्हारी औलाद और वैसे ही तुम ! तुम्हें इसका बाप नहीं, माँ होना चाहिए था !'

माँ बड़बड़ाती हुई रसोई में चली जाती, मैं कुर्सी मेज के निकट घसीटता, टेबल लैंप का स्विच आन करता और किताब का कोई-सा भी पन्ना खोल कर बैठ जाता। थोड़ी ही देर बाद माँ आकर एक थाली मेरी मेज पर रख देती और एक पिताजी की कुर्सी के सामने तिपाई सरकाकर उस पर। ऐसी स्थिति में मैं पढ़ बिल्कुल न पाता। अचेतन की आँखें पिताजी को ही देख रही होतीं। उनकी नजरें अखबार पर ही टिकी होतीं। उस समय उनका चेहरा अत्यन्त दयनीय दिखता।

मैं सोचता, शायद मैं ही ज्यादती कर रहा हूँ। दिन भर तो पिताजी आफिस में परेशान होते हैं और शाम को भी चैन से खाना नहीं खा पाते। मैं उनकी ओर देखता तो उन्हें अपनी ओर देखते पाता। एक अनबोला-सा समझौता हो जाता हमारे बीच और मैं खाना खाना शुरू कर देता। वह भी खाने लगते। माँ एक बार दरवाजे पर आकर झाँकती और फिर वापस चली जाती।

अकसर उसी समय मुझे याद आता कि पिताजी ने शाम को ही मुझसे माँ की दवाई या ड्राईक्लीनर से अपना सूट लाने के लिए कहा था। मैं अपराधी नजरों से पिताजी की ओर देखता। उस समय वह सिर झुकाये खाते हुए ही मिलते। तब मेरी नजर उन पर से फिसलती हुई सामने खूंटी पर टंगे सूट या दूसरे कमरे में माँ की चारपाई के पास वाले आले में रखी हुई दवा की शीशी पर पड़ जाती। सन्तुष्टि के साथ-साथ ग्लानि भी मन में पैदा हो जाती। उसके बाद पिताजी कभी याद नहीं

दिलाते कि मुझे कुछ काम करना भी था।

□

मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी उन्हें सिर उठाये भी देखा। उनके रिटायरमेंट के बाद तो यह सर और भी झुक गया था। माँ उन्हें अकसर कहा करती, 'कम से कम अब तो आराम करो। रात-दिन खटते-रहते हो! सपूत बड़ा हो गया है। इससे कहो, कमा कर क्यों नहीं लाता ?' ऐसे समय पिताजी उसी तरह बिना कुछ बोले सिर झुकाये बैठे रहते। माँ का भाषण जारी रहता और मैं कोई किताब निकालकर उस पर नजरें गड़ाये चुपचाप सुनता रहता। आखिर कर भी क्या सकता था! एम० ए० किये दो साल हो गये थे। मेरी स्थिति को पिताजी अच्छी तरह समझ सकते थे, इसीलिए उन्होंने मुझसे नौकरी के लिए कभी नहीं कहा। माँ या पटवारी जी मुझे कंजरवेटिव तथा कैपिटलिस्ट टाइप के लगे। तभी तो पटवारी-जी ने अपने लड़के को मैट्रिक न कर पाने पर अपने ही किसी साहब के यहाँ अरदली लगवा दिया था।

पिताजी से मिलने पर ऐसी ही बातें पटवारीजी उनसे भी कहते। एक बार कह रहे थे कि यदि पिताजी चाहें, तो वह मुझे किसी आलू के आढ़ती की दुकान पर मुन्शी की जगह लगवा सकते हैं, या फिर.....। इसी प्रकार की कई जगहों के बारे में बताते। पिताजी उसी तरह सिर झुकाये चुपचाप सुनते रहते। ऐसे में पटवारीजी बहुत जल्दी आजकल के लड़कों की बात पर आ जाते। कहते, 'इन लड़कों का भी क्या कहना पंडज्जी, खाली रहें, तो आवारा-गर्दी करने लगते हैं! भला हमारे जमाने में भी लड़के बीड़ी-सिगरेट पीते थे ? इसीलिए मैंने तो अपने लड़के को खाली नहीं रहने दिया।' उन्होंने एक बार मुझे सिगरेट पीते हुए देख लिया, तो बस तब से आजकल के लड़कों के बहाने ताने कसते रहते हैं। पटवारीजी समझते हैं कि इस तरह की बातें करके वह पिताजी को मेरे विरुद्ध भड़का सकेंगे।

उन्हें क्या पता कि पिताजी को मेरे सिगरेट पीने का पता है।

उस हादसे को भी मैं कभी भूल नहीं सकूँगा। हम दो तीन दोस्त बाजार से गुजर रहे थे। मेरे मुँह में सिगरेट थी, तभी किसी ने मेरे कँधे पर हाथ मारा, 'प्रकाश, देख तेरे पिताजी!'

सिगरेट पता नहीं मुँह से कब गिर गयी। सामने दूसरी पटरी पर पिताजी सिर झुकाये चले जा रहे थे। मैंने मन-ही-मन ईश्वर को धन्यवाद दिया कि उन्होंने देखा नहीं। साथ ही मैंने मन ही मन कसम भी खा ली कि कभी सिगरेट को हाथ तक नहीं लगाऊँगा।

घर पहुँचा, तो नजारा ही कुछ और था। माँ ने सारा घर सिर पर उठा रखा था, 'आखिर इस सबका मतलब क्या है ? न कहा न सुना, बस, खाना नहीं

खायेंगे ! कुछ मुँह से कहें, तो पता भी चले । हम कोई अन्तरजामी तो हैं नहीं कि मन की बात जान लें ! किसी से कोई गलती हुई हो, मुझसे या प्रकाश से तो बोलो !'

लेकिन पिताजी ने खाना नहीं खाया और नहीं खाया ।

दूसरे दिन भी बिना खाये काम पर चले गये । उनके काम पर जाने तक माँ का मुँह लगातार चलता रहा । शाम से सुबह तक वह तीन-चार बार उनके सामने खाना ले गयीं और ठंडा होने पर वापस ले आयीं । पिताजी के साथ माँ का भी उपवास हो गया ।

□

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं करूँ क्या ? यह तो मैं अन्दाजा लगा ही चुका था कि पिताजी ने मुझे सिगरेट पीते हुए देख लिया होगा, पर अब उनसे किस तरह क्षमा माँगू ? किस तरह उन्हें मनाऊँ ? यह जानते हुए भी कि उन्होंने मुझे सिगरेट पीते हुए देख लिया है, उनके सामने यह स्वीकार करने की कि मैंने सिगरेट पी, इसके लिए क्षमा माँगने और आगे से न पीने की कसम खाने की हिम्मत नहीं हो रही थी ।

पिताजी संस्कारों में बँधे आदमी । उनके संस्कारों को आधुनिकता की आँधी भी डिगा नहीं पायी थी । उनके लिए पुत्र का आदर्श राम था । वह मुझसे उसी आचरण की अपेक्षा करते थे, जो उनके संस्कारों को मान्य था ।

मुझे उनकी यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं है और न कभी थी । अगर वह मुझे अपनी मान्यताओं पर चलने को किसी और तरह से बाध्य करते, तो मैं शायद इसके विरोध में आवाज भी उठाता । पर उनका यह मौन और अपने आपको ही कष्ट देना मैं सहन नहीं कर पाता । एक कचोट-सी मेरे मन को लगातार बेधती रहती—तब तक, जब तक स्थिति फिर से सामान्य नहीं हो जाती ।

उस दिन मैं दिन-भर कहीं नहीं जा सका ।

रात को मैं साहस करके पिताजी के पास चला ही गया । कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई, तो उनकी गोद में सिर रख कर रोने लगा । वह मेरे सिर पर हाथ फेरने लगे । एक-दो गुनगुनी बूंदें मैंने अपनी गरदन पर महसूस कीं ।

कहने लगे, 'प्रकाश, मैं बहुत कमजोर और बूढ़ा हो गया हूँ । अगर तू चाहता है कि मैं कुछ और जी सकूँ, तो कभी ऐसा काम मत करना जिससे मेरा दिल दुखे ।'

थोड़ी देर बाद माँ खाना ले आयीं, तो मैं उठ गया । पिताजी चुपचाप खाना खाने लगे ।

मेरी सिगरेट न पीने की कसम अधिक दिनों तक कायम न रह सकी । मैं नहीं जानता कि इस बात का पिताजी को पता है या नहीं, पर इतना अवश्य है कि

पटवारीजी जब इस तरह की बातें करते हैं, तो पिताजी बिना कुछ कहे चुपचाप सुनते रहते हैं और उस समय उनकी नजरें फर्श के उखड़े हुए हिस्से या दीवार के गिरे हुए प्लास्टर पर टिकी हुई होती हैं ।

□

नौकरी न मिल पाने का अपराधबोध और गली में आते-जाते पटवारीजी की व्यंग्यदृष्टि मुझे कचोट-कचोट जाते । आखिर अपनी तरफ से तो पूरी कोशिश कर रहा हूँ । नहीं मिल पा रही है, तो मेरा क्या दोष ? कई बार लगता कि शायद पिताजी यह समझ रहे हों कि मैं जान-बूझ कर नौकरी के लिए कोशिश नहीं कर रहा हूँ । तब मैं पिताजी को बताता कि आज अमुक-अमुक जगह एप्लिकेशंस भेजी हैं, अमुक-अमुक लोगों से मिला हूँ, आदि । पिताजी चुपचाप पूरी बात सुनते रहते । मेरे चुप होने पर पूछते कि खाना खा लिया है या नहीं । और फिर माँ को आवाज देकर मेरे लिए खाना मँगवा लेते ।

उनके इस प्रकार के व्यवहार से मेरे भीतर का अपराध-बोध और अधिक तीव्र हो जाता । कोशिश यही रहती कि उनके सामने कम-से-कम पड़ूँ । सुबह घर से जल्दी निकल जाता । रात को देर से लौटता । पर हमेशा ही पिताजी को जागता हुआ पाता ।

घर पहुँचते-पहुँचते ग्यारह बज ही जाते हैं । मेरे जूतों की आवाज सुन कर सत्तो के घर की गली वाली खिड़की एक बार खुल कर बन्द हो जाती है । घर में अन्धेरा है । पिताजी आज इन्तजार नहीं कर रहे हैं । आश्चर्य भी हुआ । पिताजी की तबीयत को लेकर आशंका भी हुई । जो होगा, सुबह को देख लिया जायेगा, सोच कर दबे पाँव अपनी चारपाई की ओर बढ़ता हूँ । बीच का दरवाजा बन्द करने के बाद कपड़े बदलने के लिए लाइट का स्विच ऑन करता हूँ, तो अपनी चारपाई के पास एक कुर्सी पर बैठे पिताजी उसी तरह सिर झुकाये आँखें मलते नजर आते हैं ।

मैं जानता हूँ, इसके बाद वह रसोई में जाकर मेरा खाना यहीं ले आयेंगे ।

[माया, सितम्बर 1976]

स्वदेश दीपक

महामारी

कल ही बड़े लड़के का खत आया था। वह चार दिन के लिए पत्नी और बच्ची के साथ आ रहा है। माँ अनपढ़ है। लेकिन पोस्टकार्ड पर लिखी लाइनों से ही पहचान गयी थी कि खत सन्तोष का है। सिर्फ वही है, जो सारा पोस्टकार्ड जाया कर दिया करता है। पति बाजार से लौटे, तो कहा था, 'देखना, सन्तोष का खत है न ! क्या लिखा है ? सारे आ रहे हैं न ?'

एक साथ बहुत सारे सवाल पूछने की आदत बहुत पुरानी है, अभी भी गयी नहीं। जब-जब बड़े का कभी-कभार कोई खत आ जाता है, वह यही बँधे-बँधाये सवाल पूछा करती है। लेकिन बड़ा आता-जाता बहुत कम है। बाबू जी को खत का मजमून बताने के बाद हमेशा उसके आहत होने को झेलना पड़ता है। लेकिन लड़के के आने की खबर उसे देकर उनके दिल में भी छोटी-सी खुशी कूद गयी थी। वे बाहर के दिखावे और टीम-टाम में खुद भी विश्वास नहीं करते। लड़के के साल-साल तक न आने का कहीं गहरे में बुरा नहीं मानते। लेकिन यह जरूरी नहीं कि हर सवाल का ठीक जवाब किसी को खुशी भी दे। एक बार देर तक न आने की बात की थी, तो लड़के ने समझाया था कि बिना वजह के कहीं आना-जाना उसे फिजूल लगता है। कभी कोई बात हुई है, काम पड़ा है, जरूरत आ खड़ी हुई है, तो वह हमेशा क्या पहुँचा नहीं ?

कोई जरूरत आ पड़ने पर पहुँचने की बात तब उन्हें सही लग गयी थी। नौकरी से रिटायर होने के बाद चालीस रुपये की पेंशन मिलने पर छोटी लड़की की शादी करने पर, जरूरतें पड़ती ही रही हैं और जैसे-तैसे बड़ा पहुँचा है। जो हो सका था, किया भी है।

पत्नी को भी समझाने की कोशिश की थी, लेकिन वह ठहरी अनपढ़ ! आज के आदमी की तरह वह सूखे तर्क तथा कारण के आधार पर न जीती है, न बात करती है। उसने बिफर कर कहा था कि क्या अपने लोग अब सिर्फ काम पड़ने पर ही मिलते हैं ! प्यार भी कुछ होता है न ? वह पढ़-लिख कर कितना सूखा हो गया है।

लड़के के पढ़ने का विशेष श्रेय माँ को जाता है। सारे विरोध होने के बावजूद कि कॉलेज का खर्च कौन देगा, और बच्चे भी हैं, उसने पढ़ाई के बारे में डटकर लड़के का साथ दिया था। लड़का पढ़ा, उसकी अच्छी नौकरी लगी। और तब तो उसके दिल में ठण्ड पड़ जाया करती है, जब लड़का अब भी दूसरों के सामने स्वीकार किया करता है कि उसको पढ़ाने वाली, बनाने वाली, उसकी माँ ही है।

लेकिन एक दुख उसे हमेशा सताता रहा है। नौकरी बाहर के शहर में लगने पर लड़के का घर आना-जाना कम हो गया है। क्वांरा था, तो कोई बात न थी। शादी हुई, बच्ची हुई। माँ ने सोचा, अब महीने में एक बार तो आयेगा। लेकिन नहीं। वही पुरानी आदत। अब आस-पड़ोस के लोग लड़के, बहू और बच्ची के न आने की बात पूछते हैं, तो वह अपमानित होती है। लोग तो कमीने हैं। यही सोचते होंगे न कि शायद अब लड़के और उसकी घरवाली से बनती नहीं।

इसलिए लड़के के आने की बात पर उसने पति से फिर पूछा था, 'किस तारीख को आ रहा है? कितने दिन रहेंगे? पता नहीं, कपड़े भी साथ लाते हैं कि नहीं? दोनों लापरवाह हैं। मीनू के बारे में कुछ नहीं लिखा? मुझे याद करती है न।'

बाबू जी ने सारे सवाल सुने, जरूरी सवाल का चुनाव किया और बताया, 'कल इतवार सुबह आयेंगे। चार-पाँच दिन रहेंगे।'

दादी को मीनू के आने की खुशी लड़के के आने से कहीं ज्यादा है। तीन साल की उमर में कितनी बातें करती है। वह मीनू से मिलने महीने में एकाध बार ही आया करती है। लड़का और बहू तो बस चुप रहते हैं। उन्हें आपस में बहुत बातें करते कभी नहीं देखा-सुना। उससे क्या बोलेंगे? पहले मिलने जाती थी, तो सुबह जाकर शाम को लौट आया करती थी। वहाँ तो दिल तंग पड़ जाता है। लेकिन जब से मीनू ने बोलना शुरू किया है, महीने में दो-तीन दिन लड़के के यहाँ लगा आती है। कितना बोलती है। मरजानी बिलकुल मेरे ऊपर गयी है। उसे अपने बहुत बोलने की आदत का पता है, जिसे बाबू जी बड़-बड़ करना कहते हैं। वह काम करते हुए मुस्करा रही है। चलो लड़के के घर भी बड़-बड़ करने वाली पैदा हो गयी। कोई तो आया घर की चुप्पी तोड़ने वाला!

आज सुबह से वह झाड़-पोंछ और सफाइयों में लगी है। बीच-बीच में आस-पड़ोस जाकर बता भी आती है कि बड़ा आ रहा है। पूरे चार दिन के लिए, यह सूचना देने का उसका मकसद उन्हें बताना ही है कि देखो, हमारी 'बनती' है। ऐसी-वैसी कोई बात नहीं।

☐

बाहर रिक्शा रुकने की आवाज आती है। वह दौड़कर दरवाजे के पास

पहुँचती है। रिक्शा में रखा छोटा सूटकेस देखकर उसे विश्वास हो जाता है कि ये लोग कुछ दिन ठहरेंगे। अन्दर कहीं ठण्ड पड़ जाती है। दौड़ कर मीनू को गोदी उठा लेती है। बड़ा सूटकेस उठाकर अन्दर आता है। बहू से नमस्ते होती है। हाल-चाल पूछने पर सिर हिला देती है। माँ को कहीं तकलीफ होती है कि वह उससे खुलती नहीं। लेकिन छोड़ो। अब मीनू जो है।

अब दादा ने मीनू को उठा लिया है। कुछ महीनों बाद मिली है। इस बीच एकदम से पूरे वाक्य बोलने लगी है। दादा को बीड़ी सुलगाते देखकर पूछती है, 'आप क्या पी रहे हैं?'

'बीड़ी।'

अपने पिता को वह सिगरेट पीते देखती रहती है। यह बीड़ी शब्द उसके लिए नया है।

'झूठ बोलते हो। सिगरेट है सिगरेट। हाँ।'

दादी मीनू को अपनी गोदी में खींच लेती है। चूमती है।

'हाय राम! कितनी स्यानी बातें करने लगी है।'

बाहर दूध वाला आया है। माँ बर्तन उठाकर बाहर जाती है। फिर वहीं से आवाज देकर पूछती है, 'काका, कितना दूध फालतू लेना है?'

सन्तोष पत्नी से पूछकर माँ को बताने बाहर आता है। अभी कुछ और लोग दूध ले रहे हैं। वह माँ से कहता है, 'जितना रोज लेती हो ले लो।'

'काका, हम तो एक पाव ही रोज लेते हैं। दो टैम की चाय ही तो बनानी होती है।'

लड़का यह बताते हुए कि मीनू के लिए दो किलो दूध ले लो, कहीं कसूरवार महसूस करता है। माँ का चेहरा उसे लगता है, दो किलो की बात सुनकर क्षण भर के लिए बुझ जाता है।

उसे याद आता है, घर में हमेशा इतना ही दूध आता रहा है। हाँ, पाँच भाई-बहनों में जब कभी कोई बीमार पड़ता था, तो उसे पीने के लिए दूध मिला करता था बतौर दवाई। तब से दूध देखते ही उसके दिल में बीमार होने का अहसास आ जाता है। अब उसके थोड़े अच्छे दिन हैं। लेकिन दूध से नफरत है। वह अपने अर्धजाग्रत मन में हिसाब भी लगाये जा रहा है कि मीनू सिर्फ चार दिन में यहाँ का महीने भर का दूध का बजट पी जायेगी।

माँ ने नाश्ता बना लिया है। पराठे। चाय। अचार। चौथाई सदी से चली आ रही खाने की एक ही फेहरिस्त।

मीनू दादी की गोद में बैठ खायेगी। दो-चार कौर वह आजकल खा लेती है। वह बड़े गौर से खाने का सामान देख रही है।

'दादी, अण्डा नहीं बनाया।'

कमरे में क्षणिक चुप्पी छा जाती है। सन्तोष कहता है, 'मेरा अच्छा बेटा,

ऐसे ही खा ले। कल बना देंगे।'

बहू भी अपनी तरफ से छोटी-सी सफाई देती है, 'घर भी तो कभी-कभी थोड़ा-सा ही खाती है।'

जवाब मीनू देती है, 'ममा झूठ बोलती है। हाँ, थोड़ा-सा नहीं खाती। एक खाती हूँ। एक।'

अब सन्तोष उसे डाँट देता है। माँ बाबू जी से कहती है कि वे शाम को अण्डे लेते आयें। साथ-ही-साथ उसका अनपढ़ दिमाग यह अन्दाज भी लगाये जा रहा है कि रात की सब्जी के पैसे अण्डे खा जायेंगे। उन दोनों बूढ़ों को तो रात को सब्जी की जरूरत पड़ती नहीं। सुबह आधा पतीला दाल बन जाती है, जो रात तक चल जाती है। बाहर आँगन में सब्जियों का छोटा-सा बाग है। मौसम आता है, थोड़ी सब्जी उगती है, तो ही बनती है। वह सुबह ही बैंगन के पौधों के बड़े-बड़े पत्ते उठाकर दो गोल बैंगन तलाश चुकी है। छोटे हैं, तो क्या? तोड़ लेगी। एक टैम का काम तो चल जायेगा।

मीनू दो कौर खा लेने के बाद दूध माँगती है। बहू उठकर रसोई में जाती है। मीनू की बड़ी वाली बोतल भरकर लाती है। मीनू लेट जाती है और लगभग एक ही सांस में सारा दूध पी जाती है। दादी सोचती है कि पाँच बार में तो सारा दूध पी जायेगी। वह बहू को सलाह देती है, 'काकी इसे रोटी खिलाया कर। अन्न अन्दर जायेगा तो कुछ मोटी होगी। देख तो सही, कैसे सूखी पड़ी है।'

बहू पति को नाम लेकर ही बुलाया करती है। बताती है, 'मैं खिलाने लगती हूँ, तो सन्तोष गुस्से हो जाता है। कहता है, इतनी जल्दी रोटी शुरू नहीं करनी।'

माँ सन्तोष की तरफ देख रही है। बेटा उसे कैसे समझाये कि वह छोटी मीनू के माध्यम से अपना बचपन सुखद रूप में पहली बार जी रहा है। उसे आज भी याद है कि जब से होश सम्भाला, हाथ में रोटी का टुकड़ा और चाय का गिलास ही रहा है। अगर बच्ची रोटी खाने की जिद करती है, तो उसे अपना घिनौना बचपन याद आ जाता है। तब अन्य बच्चों को बाजार की कोई भी चीज खाते देखकर उसका जी कितना ललचाता था। जब माँ से पैसे माँगने की जिद पर अड़ जाता था, तो आम तौर पर पिटाई ही होती थी। क्योंकि घर का राशन-पानी खरीदने के बाद माँ के पास देने को कुछ बचता ही न था। तब उसे अपनी माँ से बेइन्तहा नफरत थी—कितनी बुरी है। कभी कुछ नहीं देती। नासमझ जो था। अब जाकर कहीं समझ आया है कि पैसे का, पूंजी का यह अभाव गलत वितरण, असन्तुलन, वह कुल्हाड़ी है, जो हमारे सम्बन्धों को काटकर फेंक देती है।

दादा ने नाश्ता कर लिया है। वे बीड़ी सुलगाते हैं, तो मीनू फिर टोकती है, 'दादा, यह सिगरेट मत पियो। गन्दा। बू वाला। पापा वाला पिया करो। हाँ नहीं तो।'

दादा उठकर आँगन में चले जाते हैं। मीनू की ममा उसे डाँटती है, 'मीनू,

बड़ों से ऐसे नहीं कहते । देखो, मैं तुम्हारे पापा से ऐसा कहती हूँ ।'

'हाँ, कहती हो । सिगरेट मत पियो । बू आती है ।'

मीनू उठती है । मटकती हुई बाहर आँगन में आ जाती है । कुछ टमाटर के पौधे हैं, कुछ भिंडी, कुछ बैंगन और साग वगैरह । मीनू एक-एक करके सबके बारे में दादा से पूछ रही है । फिर कहती है, 'मैं इनको छू लूँ । खराब तो नहीं होंगे ।'

दादा उसका सिर थपथपा कर छू लेने की आज्ञा देते हैं । साथ ही हिदायत देते हैं कि पत्ते न तोड़े । थोड़ी देर छू लेने से उसका मन भर जाता है । पूछती है, 'दादा, सुन्दर फूल कहाँ हैं ।'

उसे अपने घर के छोटे-से आँगन की याद है, जहाँ सारा साल रंग-बिरंगे फूल इठलाते रहते हैं । उन पर उड़ती तितलियों के पीछे वह छोटी-छोटी दौड़ें लगाती रहती है । वह अब भी दादा के जवाब के इन्तजार में है । अगला सवाल पूछती है, 'दादा, तितली कहाँ है ?'

सब्जी के पौधों के हिलने से उन पर बैठे मच्छर उड़े हैं । एक-दो ने मीनू को काट भी लिया है । अब वह दादा के चुप रहने और मच्छरों के काटने से झुंझला गयी है । कहती है, 'दादा, ये पौधे तोड़ दो । गन्दे ! छी ! मच्छर काटता ।'

दादा के पास उसके सारे सवालों के जवाब हैं । लेकिन जवाब देने की हिम्मत नहीं पड़ रही । क्योंकि उन्हें फूलों और सब्जी के फर्क का पता है । लेकिन मीनू का क्या कसूर है । बचपन में शायद उन्हें भी फूल और तितलियाँ अच्छी लगती थीं । थोड़ा बड़ा होने पर गरीब जिन्दगी की सच्चाइयों का पता चला । अपने आप फूल भूल गये थे, तितलियाँ भूल गयी थीं । मीनू के इन सवालों से वे अन्दर से हिल गये हैं । उनका जी चाहता है कि इसी वक्त खुरपा उठायें और सब्जी के इन पौधों को जड़ से काट दें । यहाँ फूल लगा दें, जिन पर तितलियाँ उड़ती रहें । वे इन्हें नहीं देख सके, बेटा सन्तोष नहीं देख सका । क्या तीसरी पीढ़ी भी बिलकुल पहले वाली पीढ़ियों की-सी जिन्दगी बितायेगी ! बिना फूलों के, बिना तितलियों के ।

उन्हें पता है कि ये फूल-तितलियाँ शायद मीनू के भाग्य में भी सिर्फ कुछ दिन और हैं । बेटा जो कमाता है, वे जानते हैं । घर के जो खर्च हैं, वे जानते हैं, बड़ी जल्दी बेटे के आँगन से भी फूलों के पौधे उखड़ जायेंगे, तितलियाँ उड़ जायेंगी, वे जानते हैं । वहाँ भी जल्द ही सब्जियाँ लग जायेंगी, वे जानते हैं । बदसूरती, गरीबी, अभाव बच्चों की जिन्दगी में शुरू से आ जाये, तो उनका क्या होता है, वह क्या बन सकते हैं, वे जानते हैं । क्योंकि सारी उमर उन्होंने क्लर्की की है । लेकिन मीनू को तो अभी इन दुखों का पता नहीं । वह मच्छरों का काटना भूल चुकी है । फिर से पौधों के बीच भटक रही है । उसने बैंगन के पौधे के लम्बे पत्तों को हाथ से पीछे किया, गोल-गोल बैंगन देखकर चहक उठी, 'दादा, देखो। कितने बड़े आलू हैं।'

दादा मुस्कराये, उसे बताया, 'मीनू बेटे, आलू नहीं । बैंगन ।'

'अच्छा ! कितना बड़ा बैंगन । मैं एक तोड़ लूँ ।'

दादा अब सतर्क हो गये हैं। बैंगन की सब्जी बेटे-बहू के लिए तो इस दोपहर को बननी तय हुई है । अभी से मीनू तोड़ लेगी, तो खराब हो जायेंगे । वे उसे कहते हैं, 'मीनू, कल तोड़ेंगे ।'

'नहीं । अभी तोड़ूँगी । बस एक । हाँ ।'

वे उसे पकड़ कर क्यारी से बाहर निकालते हैं। अब बच्ची पर जिद सवार हो चुकी है। वह ऊँचे-ऊँचे रोना शुरू कर देती है। दादी भी रसोई से बाहर आ गयी है । मीनू अपनी माँ के पास शिकायत कर रही है, 'ममा, दादा बहुत गन्दे हैं। मुझे तोड़ने नहीं दिया ।'

दादी बाबू जी से कहती है, 'तोड़ लेने देते जी । क्या फर्क पड़ता है ।'

बाबू जी खीझ गये हैं । जरा तेज आवाज में बोलते हैं, 'तो कल सब्जी....'

फिर उन्हें खयाल आता है कि बेटे-बहू के सामने तो यह वाक्य बोलना नहीं था । वे कमरे से बाहर चले जाते हैं ।

वहू इस आधे बोले गये वाक्य से ही सब कुछ समझ गयी है । इतना कड़ा अभाव शायद अपनी जिन्दगी में उसने पहली बार देखा है। पति से कहती है, 'सन्तोष, कैसे चलाते होंगे घर का खर्चा । सुनो, हर महीने यहाँ कुछ भेज दिया करो न ।'

पति कोई जवाब नहीं देता । उसे कैसे बताये कि कहना आसान है, भेजना कितना कठिन है। फिर कई बार एक मुश्त बड़ी रकम भी तो घर में देनी पड़ जाती है। वह उसके जवाब का इन्तजार नहीं कर रही है । वह जानती है, सन्तोष क्या सोच रहा है ! उसके दिमाग के कोनों में इस वक्त छोटी-छोटी रकमें इधर-से-उधर उछल रही होंगी । आपस में जमा होती, फिर घटती, फिर शेष क्या बचा, इसका लेखा-जोखा करती । लेकिन वह भी इस सच्चाई को समझ चुकी है कि एक रकम से दूसरी चाहे जितनी बार घटाओ, शेष कभी कुछ नहीं बचता । बची हुई रकम तो कुछ विशेषाधिकार प्राप्त लोग पहले से ही काट लेते हैं ।

लेकिन पति-पत्नी क्योंकि जिन्दगी का सच एक-दूसरे से हमेशा बाँटकर रखते रहते हैं, इसलिए किस्से-कहानियों-वाला तनाव उनकी जिन्दगी में कम ही आता है। वह पति को सलाह देती है, 'सुनो सन्तोष, मीनू तो इनका चार-पाँच रुपये रोज का खर्च करवा देगी । ऐसा क्यों नहीं करते, माँ को खर्च के लिए कुछ रुपये दे दो न ।'

'मैंने यह सोचा था । लेकिन पैसे देने की हिम्मत नहीं हो रही । कितना अपमानित महसूस करेंगे । माँ को कितना चाव था, मीनू कुछ दिन यहाँ रहे । अब बच्ची का खर्चा मुझसे तो दिया न जायेगा ।'

'ठीक है । यहाँ से वापस जाने के बाद कुछ रुपये मनीआर्डर से भेज देना ।'

सन्तोष चुप है । इसे कैसे समझाये कि इन घरों में हर दिन के खर्चे की

रकम बँधी-बँधायी होती है। कोई अपना भी कुछ दिनों के लिए आ जाता है, तो इनके आने वाले कुछ दिनों की रोटी खा जाता है। वह जानता है कि अमूमन माँ सुबह ही दाल का आधा पतीला बना लिया करती है, दोनों वक्त के खाने के लिए। लेकिन इतने अरसे के बाद बेटा आया है, मीनू आयी है, खाते-पीते घर की बहू आयी है, एक अतिरिक्त सब्जी बनानी तो चाहिए ही।

□

मीनू को दोबारा भूख लग चुकी है। हमेशा की तरह आज्ञा देती है, 'ममा, भूख लगी है। दूध ला।'

अब तक ममा को भी घर में घट रही हर रोज की त्रासदी का आभास हो गया है। मीनू इतनी जल्दी-जल्दी दूध पियेगी, तो शाम तक का सारा खत्म कर देगी।

'नहीं बिट्टू, खाना बन रहा है। आज तो मीनू हमारे साथ छोटी गोगी खायेगी।' लेकिन मीनू इस तरह के नाटकों से छलावे में नहीं आने वाली। कड़क कर कहती है, 'ममा, तू बक-बक मत किया कर। हाँ नहीं तो। मैं दूध पियूँगी।'

पत्नी सन्तोष की ओर मदद माँगती निगाहों से देखती है। वह कहता है, 'यह मानेगी क्या ? दे दो। मैं शाम को बाजार से और दूध ले आऊँगा।'

मीनू गटगट दूध खत्म कर देती है। फिर वह रसोई के दरवाजे पर खड़ी होकर दादी से पूछती है, 'दादी, तू क्या बना रही है ?'

'अपने लाल के लिए खीर बना रही हूँ। खायेगी न।'

'हाँ, मुझे खीर बोत अच्छी लगती है।'

□

दोपहर के खाने के लिए सब बैठे हैं। दादी कटोरी में खीर डाल कर सबसे पहले मीनू के आगे रखती है। मीनू खीर को देखती है, फिर मुँह फेर लेती है।

'खाओ न बेटे।' दादी ने कहा।

'मैं नहीं खाती।' मीनू बोली।

'क्यों ?' जरा कड़ी आवाज में पूछा सन्तोष ने।

'नहीं खाती। खीर में दादी ने बादाम नहीं डाले।'

दादी असहाय नजरों से मीनू को देखती है, समझाती है, बेटे, खीर में बादाम नहीं डालते।'

'देखो ममा, दादी झूठ बोलती है, तू डालती है बादाम। है न।'

सन्तोष तीखी आवाज में कहता है, 'मीनू, चुपचाप खीर खा लो।'

'नहीं खाती। दादी गन्दी है। दादा गन्दा है। मुझे एक बैंगन नहीं तोड़ने दिया। सब गन्दे हैं। ममा, हम अपने घर चलेंगे। हाँ, यहाँ नहीं रहते।'

माँ सन्तोष के अन्धे गुस्से को जानती है, पिता जानते हैं, पत्नी जानती है, लेकिन मीनू तो नहीं जानती। सन्तोष सुबह से माँ-बाप की छोटी-छोटी मजबूरियाँ देख रहा है। छोटे-छोटे अपमान देख रहा है। मीनू के इस लम्बे वाक्य ने इन मजबूरियों को, अपमानों को आपस में जोड़ दिया। वह उठकर घुटनों के बल बैठ गया। हाथ लम्बा हुआ। दिमाग में बैठी मजबूरियों ने एक खूंखार जानवर का रूप धारण किया। जानवर उछल कर हाथ पर आ बैठा। हाथ पूरे जोर से उठा और मीनू के दायें गाल और नाक के आधे हिस्से पर फड़ाक की आवाज के साथ जानवर ने छलांग लगा दी।

मीनू जमीन पर लुढ़क गयी है। उसका मुँह खुल गया है, लेकिन किसी तरह की आवाज बाहर नहीं आ रही। दादी बेटे को धक्के देकर परे करती है। मीनू की छाती मल रही है। फिर बच्ची के अन्दर कैद चीख पूरा जोर लगाती है और मुँह के रास्ते बाहर निकल कर कमरे में फैल जाती है। चीख का तीखा हिस्सा दादी, दादा और माँ के दिल के अन्दर भी चाकू की नोक की तरह सरसरा कर घुस जाता है।

मीनू का मुँह कुछ क्षणों में ही सूज गया है। होंठ पर लहू की बूंद चमक आयी है। अब वह लगातार हाहाकार किये जा रही है। सन्तोष खाना छोड़कर सिगरेट सुलगाता है, दादा बीड़ी सुलगा लेते हैं। पत्नी मीनू को गोदी में ले कर हिला-डुला रही है। फिर उसे उठाये हुए बाहर आंगन में चली जाती है। बाबू जी इन्तहा गुस्से में हों, तो बेटे की तरह बेकाबू हो जाते हैं। पत्नी से कहते हैं, 'जाहिल औरत! चार बादाम खीर में डाले नहीं जा सकते थे।'

'घर में बादाम कहाँ हैं?'

'उफ, इस घर में कभी भी कुछ हुआ है क्या?'

वह जानती है, इस वक्त जवाब देना ठीक नहीं। पता उन्हें भी है कि घर में बादाम कभी खरीदे ही नहीं गये। वह डरते-डरते बेटे से कहती है, 'काका, तू पागल हो जाता है। इतना गुस्सा! कितने जोर से मारा है। खून निकल आया है। कान फट जाता तो? बच्ची को समझ थोड़े ही है। उसका क्या कसूर!'

जानवर दिमाग में वापस आ बैठा है। उसके अलग-अलग अंग दिमाग के अलग-अलग हिस्सों में बँट गये हैं। पता सन्तोष को भी है कि कसूर बच्ची का नहीं। पता उसे भी है कि कसूर किन लोगों का है। लेकिन क्या हो सकता है? कभी तो कुछ होगा ही। वे लोग इतिहास को भूल गये हैं, इतिहास क्या उन्हें मुआफ करेगा?

☐

पत्नी बाहर से ही उसे आवाज देती है, 'अब चुप भी तुम्हीं से होगी। जरा बाहर आकर उठा लो।'

सन्तोष मीनू को गोद में ले लेता है। वह उसकी छाती पर सिर रख कर और जोर से रोने लगती है। लेकिन वह उसे छोटी-छोटी कहानियाँ सुना कर जल्दी ही मना लेता है। मीनू का गाल और होंठ अभी तक सूजे हुए हैं।

सब लोग फिर से खाने के लिए बैठे हैं। मीनू अब चुपचाप बिना बादाम की खीर खा रही है। पापा साथ-साथ उसे भालू वाली कहानी सुना रहे हैं। खाना ख़त्म हो गया। मीनू दादी से कहती है, 'दादी, जल्दी फ्रूट लाओ। मैं खाकर निनी बाबा करूँगी।'

सन्तोष मीनू को घूर कर देखता है। वह थोड़ी देर पहले पड़ी मार को भूली नहीं। झट से कहती है, 'पापा, अच्छे बच्चे फ्रूट नहीं माँगते।'

'नहीं बेटा।'

'अच्छा, दादी तू फ्रूट मत ला। दूध दे। मैं सोऊँगी।'

सन्तोष और पत्नी याद कर रहे हैं कि घर में रोटी के बाद फल खाने के लिए वे दोनों किस तरह मिन्नतें करते हुए मीनू के पीछे घूमते हैं। वह सौ नखरे करती है, कई बातें मनवाती है, तब कहीं जाकर कुछ खाया करती है। अभावों की मार सच जल्दी ही समझा देती है। छोटी बच्ची है, कोई सन्दर्भ नहीं समझती, किसी का, कुछ का ज्ञान नहीं। फिर भी एक बार मार खा कर सब समझ गयी है। अगर यह अभावों से घिरे बैठे, चुपचाप जी रहे लोग सदियों से मार खाने के बाद चुप हैं, अपना जो है नहीं माँगते, तो फिर हैरानी कैसी!

□

दोपहर हो गयी है। वे तीनों लेटे हैं। दादा, दादी पास ही के कमरे में लेटे हैं। मीनू और पत्नी सो गये हैं। सन्तोष को नींद नहीं आ रही। वह गुसलखाने जाने के लिए उठता है। गुसलखाने और साथ वाले कमरे की खिड़की, जिसमें माँ-बाप सोये हैं, सांझी है, वे दोनों आपस में बातें कर रहे हैं।

'सुनो जी, शाम को बाजार जाकर अण्डे, फल और थोड़ा-सा दूध ले आना। वह गुस्से में पागल हो जाता है। फिर मीनू को मार बैठेगा।'

'अच्छा।'

'पैसे हैं? आखरी दिन हैं। खत्म हो गये होंगे।'

'नहीं हैं। माँग लूंगा।'

छोटी-सी चुप्पी। फिर माँ की आवाज, 'सन्तोष जल्दी वापस जाने के लिए अगर कहे, तो रोकना मत। अच्छा करता है, यहाँ नहीं आता।'

माँ का एक-एक शब्द किसी महामारी के कीटाणुओं की तरह सरसराता

हुआ सन्तोष के शरीर में प्रवेश कर रहा है। फिर उसे लगता है कि ये कीटाणु दरवाजे से बाहर निकल रहे हैं, निकल गये हैं, आस-पड़ोस के घरों में जाकर लोगों के शरीर में घुस गये हैं। घर-घर में, शहर-दर-शहर कीटाणु पहुँच चुके हैं। महामारी फैल चुकी है। आदमी के आदमी से, माँ के बच्चों से, पिता के बेटे-बेटियों से सम्बन्ध काटती महामारी।

यही माँ है। न आने की वजह से कितनी गुस्से में थी, झगड़ती थी। खत लिखवाती थी। यहाँ पहुँचे थे, तो आज सुबह इसका चेहरा कितना रोशन था। यही माँ है, चाह रही है—मीनू, उसकी माँ और सन्तोष आज ही लौट जायें।

सन्तोष दीवार पर लगे शीशे में अपना चेहरा देखता है। अपनी सूनी-सूनी आँखों में अपने भविष्य के छोटे-छोटे दृश्य देखता है। मीनू बड़ी होगी। उसकी शादी होगी। वह अपने बच्चों के साथ उसके घर में आयेगी। तब शायद उसके साथ भी यही कहानी दोहरायी जाये? फिर वह आँखों पर हाथ मल कर इन दृश्यों को मिटा देता है। वह आज ही लौटने का निर्णय कर लेता है।

□

शाम का वक्त है। सन्तोष रिक्शा बुला लाया है। तीनों रिक्शा में बैठते हैं। माँ कहती है, 'काका, यह क्या? कुछ दिन रहते?' वह झूठ बोल रही है।

'नहीं। कोई जरूरी काम याद आ गया है। फिर आयेंगे।' वह झूठ बोल रहा है।

दादी की आँखों में आँसू देख कर मीनू कहती है, 'दादी, अच्छे बच्चे रोते नहीं। मैं फिर आ जाऊँगी। अब अण्डा भी नहीं माँगूगी। दूध भी नहीं माँगूगी। फ्रूट भी नहीं माँगूगी। पापा गुस्से होते हैं।'

रिक्शा चल पड़ती है। दादा-दादी बहुत देर तक मीनू का हवा में उठा 'बाय-बाय' करता हाथ देखते रहते हैं।

[धर्मयुग, 12 दिसम्बर 1976]

हृदय लानी

कब तक ?

एड़ी को खुद ही तग्गे सेठ से मुँह-दर-मुँह बात करने सायन-कोलीवाड़ा जाना पड़ा—नई मंगता तुम्हारा माल ! मंगता ए भाव बदली करो। माल का शिकायत गिराहक नई करना माँगता।

और झूठ क्यों बोले····गयी वह गणपति के दरसन करने भी थी। इसलिए उसने बदरू से आज आने के लिए कह दिया था। बदरू बहुत बेचैन था। शादी भले ही बना ली हो, लेकिन एड़ी की जिद थी कि गणपति के दरसन से पहले वह बदरू को हाथ तक नहीं लगाने देगी।

अलेग्जैंड्रा सिनेमा के बस-स्टॉप पर उतर कर एड़ी ने ठिकाने पर पहुँचने के लिए लम्बे-लम्बे डग भरे—देर हो गयी मेरे को····आ गिया होएगा····

शाम कोठों पर बैठ चुकी थी। शी:····शी: की आवाजें और भोंडे इशारे नीचे उतर रहे थे। चालू मेकप किये हुए कुछ दादा किस्म की छोकरियाँ एड़ी के फुटपाथ से सटे खम्बे के आस-पास पंडित और जाड्या ईरानी होटल में बैठी पुरानी फिलमों के गाने सुनतीं, गिराहकों को ताड़ने लगी थीं। बढ़ती हुई आमदरफ्त के साथ-साथ सस्ते इत्र की बू बदबू की तरह फैलती जा रही थी। 'मतलब' के लिए आये हुए लोग नसों की तरह फैली हुई गलियों में खोते जा रहे थे। सिनेमा हॉल से सटी बिल्डिंग की नेपाली छोकरियाँ, पहले से चौथे माले तक की खिड़कियों की चौखटों में सज चुकी थीं····और पंडित चाय वाले होटल के सामने मंगती का धन्धा करने वाला मदकची अपने सामने कपड़ा बिछा कर घुटनों और माथे के बल उकड़ूँ लेट चुका था।

पंडित चाय वाले को एक 'पेशल' चाय का ऑर्डर दे कर एड़ी छोटेखान के क्लब के नीचे, बरामदेनुमा फुटपाथ पर पड़ी अपनी खाट की तरफ बढ़ गयी। लड्डन मालिश वाला हमेशा की तरह आँखों में काजल डाले होटल के बाहर चम्पी कर रहा था। चालू खोपड़ी छोड़ कर, एड़ी के पास आकर उसने खबर दी कि उसका मेहमान आया है।

भारी-भरकम बदरू, बोझ की तरह छोटी-सी खाट पर पड़ा खर्राटे ले रहा

था । खाट के पायों के नीचे उसकी नयी चप्पलें दबी थीं ।

छोकरियों के गुट से चुहलबाजी करता हुआ ड्यूटी का लाखू हवलदार एड़ी को देख कर आया ।

—माल आ गिया ए तेरा····

—आ गिया····? किदर····?

जाड्या होटल के सामने उकड़ूँ बैठा हुआ एक घिनौना छोकरा थैला लिये हुए सड़क पार करके आया । थैले में से बरगद के पत्ते झाँक रहे थे । एड़ी ने धन्धे पर काम करने वाले गोल-मटोल छोकरे को आवाज दी । और फिर थैले वाले छोकरे से बोली—ये पत्ता डाल मेरी बन्नो के सामने । छोकरे ने थैले के पत्ते खम्बे से बंधी हुई बकरी के सामने डाल दिये और ब्लैडर निकाल कर लकड़ी के एक जर्जर दरवाजे में कलिंजर के पीछे-पीछे घुस गया ।

□

बदरू ने करवट ले ली थी । खाट की बची हुई पाटी पर एड़ी बैठ गयी । पण्डित चाय वाले होटल का बाहर वाला छोकरा चाय लिये खड़ा था ।

आधी चाय प्लेट में उड़ेल कर एड़ी ने सर पर खड़े हुए लाखू हवलदार को दे दी । कप की बची हुई चाय एक घूँट में पीते हुए उसने कप नीचे रख दिया । कमर में खुसे पनथैले से एक रुपया निकाल कर एड़ी ने लाखू को थमा दिया ।

—ये क्या ! लाखू ने मुँह बना कर रुपया फेंक दिया ।

—ऐ ऽ ए ऽ ए ऽ घाटी ! एड़ी बोली । रोकड़ा फेंकता है । काए का रुआब रे····वरदी का ? उसीका रोकड़ा दे रैली मैं, नई तो····कौन साला तेरे को पूछता था····चाऽल उठा रुपया····!

लाखू ने रुपया उठा लिया—एक और दे····

—चल····चल देंगा····बाद में आने का····भोनी नीं····बट्टा नीं····चल रे कलिंजर, चाऽ बोल एक छोकरे कूँ····

उसी फुटपाथ पर थोड़ा हट कर छोटे खान क्लब के 'खेली' छोकरों के साथ दम मारने लगे थे । एड़ी उधर देख कर चिल्लायी—ए····! तुम लोग को दूसरी जगा नई ? साला मेरे को भी नस्सा होता ए धुएँ से····बकरी की तरफ देख कर मुसकरायी—मेरी बन्नो को हो गिया तो····फ्राइडे को बच्चा देंगी वो ।

—एड़ी है····क्लब की सीढ़ियाँ उतरता हुआ भगवती गल्ले वाला मुसकरा कर बोला । काए को बूम मार रैली, एड़ीऽ ? ····मेमान की खातिर-वीतर कर न····

—तू रैन दे····एड़ी बोली । मेमान को तेरे सर पे नई बुलाया ए भगवती····अपना छोकरा लोक का चंडूखाना हटाव इदर से····क्या साला धुआँ-

धुआँ····

—तू जलती है ! भगवती हँसा । तेरा धन्धा दारू का है न····!

—जले तेरी जबान, एड़ी ने ऊपर देखा । देने वाला वो····मैं काए को जलेगी····?

चाय वाले छोकरे को देख कर एड़ी ने बदरू को हिलाया ।

गरदन उचका कर मुँह में भरा हुआ लुआब बदरू ने ठक से सोडा बॉटल के बुच की तरह नाली में उछाल दिया । छोकरे से पानी का गिलास लेकर एड़ी ने बदरू को थमा दिया । बदरू ने पानी की एक पीक मार कर मुँह धोया । कागज का टिप्पा लगे हुए नये रंगीन रूमाल से उसने मुँह पोंछ कर बालों में कंघी फेरी ।

—नईं, नईं····मैं ग्रब्बी पिया, एड़ी ने चाय के लिए मना किया ।

—आओ । बदरू भगवती के बेडौल चेहरे को देख कर मुसकराया ।

—बोलो, कहते हुए भगवती ने बदरू के हाथ से प्लेट ले ली ।

—बस कर····बस कर····झटके से उठ कर एड़ी ने खम्बे से बंधी हुई बन्नो के मुँह से बरगद के पत्ते खींच लिये । माँ बनने जा रैली ए तू····ऐसे टाइम में इतना खाते क्या !····में-में नईं····थूथन तो ड्‌डालेगी····तेरा चलन अच्छा होता तो अस्पताल में बच्चे होते तेरे····!

□

—ऐ ऽऽ लड्‌डन····चल इधर····एड़ी ने आवाज दी । बदरू की तरफ देख कर बोली—इसका चम्पी कर दे, बरोबर, हाथ-पांव दबा के····बिंदास कर दे····

लड्‌डन अपनी 'चौरंगी' लेकर बदरू की तरफ जाने लगा । बदरू बोला—अरे नईं रे····चम्पी-उम्पी मेरे को नईं कराने का····

नईं कराने का····! एड़ी ने डाँटा····समझता ए कुछ ! जासती फैशन नईं करने का····चम्पी-मालिस से बदन को कितना कस मिलता····

—मोत । लड्‌डन बोला····अक्सीर बोलो····पीछे हमाम में न्हा के आओ····फिर देखो कइसा हलका-हलका बदन····फूल के माफक । लड्‌डन ने गमछा झटक कर बदरू की पीठ पर डाल दिया ।

—हाँ भाई····बदरू बोला····अपने सिक्सन में बुला के मेरी चम्पी करवा रैली ए····

लड्‌डन बदरू और एड़ी को बारी-बारी से देख कर थोड़ी देर तक हँसता रहा ।

अलेग्जैंड्रा सिनेमा वाली बड़ी सड़क से इस तरफ मुड़ती हुई गश्त की गाड़ी दिखाई दी । सड़क पर खड़ी और टहलती हुई छोकरियों में भगदड़ मच गयी । जानवरों की तरह इधर-उधर जिधर सींग समाये—होटलों, गलियों, खोलियों

में भागीं।

गलियों में पड़ी खाटों पर बैठी हुई छोकरियाँ छिटक कर दहलीज के उस तरफ लपकीं।

इस टाइम छोकरियों का धन्धे के लिए सड़क पर टहलना, खड़ा होना कानूनन मना है। खोली में रहो, दरवज्जे के उस तरफ····'गिराहक' खोली पे आये तो बैठो—सो बिंदास····दूसरे की खोली पर खड़े 'गिराहक' को आँख उठा के भी देखना यहाँ की रीत के खिलाफ है।

साला खोटा, धन्धा····! ये भी धन्धा है कोई····पावली-आठ आने पे मुँह मारने वाले हवलदार को देख के भागो डर के····कोई भी आके पाँच-दस का नोट फेंके और बिछा दे····! छिः छिः····!

वह भी अपनी माँ की बात मानकर यहाँ की इसी रीत पर चलती तो वह भी भागती होती इधर-उधर। वरना माँ ने इस नरक में ढकेल देने में कोई कसर छोड़ी थी क्या? वह तो चलो, झगड़ा-लफड़ा करके बच गयी किसी तरह, पर सुन्दरी फँस गयी 'गोदाम' के चक्कर में····जिसका एड़ी को अब भी अफसोस होता है····

सुन्दरी को उसकी माँ कहीं से बचपन में उठा लायी थी। 'काम चलाऊ' होते-होते सुन्दरी के सर पर कर्जा ले कर एड़ी की माँ ने 'गोदाम' में तैयार करके डाल दिया था। सुन्दरी मान गयी, वरना किसी की क्या मजाल कि मरजी के खिलाफ छोकरी से धन्धा करवा ले! नईं तो क्या····अपने माफक मैं सुन्दरी को भी इज्जतदार धन्धा करवा देती कोई।

सुन्दरी के यहाँ एड़ी आती-जाती नहीं····कभी-कभी मन होता है देखने का····खोटी बहन ही सही····पर बहन बोला तो बहन····और फिर बचपन तो साथ-साथ निकाला है दोनों ने, माँ के घर····एड़ी को धन्धे वाली छोकरियों के साथ उठना-बैठना, चा-पानी पसन्द नहीं····इसलिए उसकी किसी के साथ उठक-बैठक नहीं। एक फूला कमाठिन है और छोटकी····दोनों के यहाँ भी तो खानदानी धन्धा था। नईं किया खोटा धन्धा, कारखाने में मेहनत-मजूरी का काम किया। इज्जत वाली औरत मेरे सर पे आके बैठे, वांदा नईं। मगर आज सुन्दरी से मिलने जायेगी। बदरू को ले कर····कि ले। देख ले····क्या करे, बिचारी खोटे धन्धे में फँस गयी····है तो भैन····अब कौन धरमिदर मिलेगा उसकू धन्धा छुड़वाने वाला! तार-तार निकाल लिया है जमाने ने····इसकी जमाने की तो····

□

—अरे बड़ी गुपचुप बैठली ए, एड़ी बाई! सुन्दरी की खोली और आस-पास की आठ-दस खोलियों में बरतन-भांडे घिसने वाली बाई थी। एड़ी की तरफ

पाँच का नोट बढ़ा कर बोली—अय एड़ी बाई····! मैं सुना तुम सादी बनाया····अरे कौन है वो सिकन्दर····दिखा न, बाई !

हँस कर एड़ी ने बदरू की तरफ इशारा किया जो मालिश के बाद हम्माम जाने के लिए तैयार था। कलिजर ने बाटली ला कर बाई को थमा दी। बाई ने आँखें छोटी करके बदरू को तोला। बाटली नीचे रख कर उसने कनपटियों पर उंगलियाँ चिटका कर बलाएँ लीं—देवा रक्खे····! जैसी कौली तू वैसा कौला वो···· कह कर बाई ने बाटली उठायी और जाने को हुई।

एक रुपये का नोट बाई को देते हुए एड़ी बोली—ले बाई····चा-पानी कर।

—एऽ देवा, बाई हँस कर बोली, दिल वाली का गोद भर घाई कर····

—हट साली, एड़ी ने झिड़का। मेरी बन्नो को बोल—देखती नई इसका हालत····नर बच्चा दिया कोई, तो नियाज के लिए सेवा करेगी उसका।

—होएँगा····होएँगा····उसकूँ भी होएँगा····

—अरे अइसा कइसा ! एड़ी सड़क पर देख कर बुदबुदायी।

फूला कमाठिन के भाई को पुलिस वाले ले जा रहे थे। एड़ी को देख कर फूला रुक गयी।

—तड़ी पार किया था इसकूँ····वह बोली····आज घर आया था मिलने कूँ····मुखबिर देखा इसको इधर····और अबी ये····

—क्या साला····जा-जा····एड़ी बोली—मुखादम जामनगीर को ले के जा····भांड वाली कर डाल सा'ब से नई तो भारी पड़ेंगा····तड़ी पार का केस है रघड़ डालेंगा····समजा····!

—रोकड़ा नई न····दागीना है····रखने बेचने को टाइम माँगता न····कहते हुए फूला अपने झुमके उतारने लगी।

—अरे सोना रखने-बेचने को किदर टाइम माँगता ? ए भगवती ! एड़ी ने आवाज दी। फिर फूला से पूछा—रखने का····बेचने का ?

—रखने का····छुड़ायेगी मैं।

—भगवती····! ये ले····सौ रुपया लाके दे इसकूँ····मुसीबत में है····

रुआंसी फूला को देख कर भगवती ने एड़ी के हाथ से झुमके ले कर परखे और क्लब की सीढ़ियाँ चढ़ गया।

—मुखादम किदर होएँगा ? फूला ने पूछा।

—जाड्या ईरानी होटल के पीछे बाजू चंडूखाने में देख। नई तो ग्यारा गल्ली में केरी के झाड़ के बाजू में जमना की खोली में पड़ा होएँगा····जा, घबरने का नई····वापिस आके बोल मेरे को····आं····कहते क्लब की तरफ देखा, भगवती सौ का नोट हाथ में लिये हुए सीढ़ियाँ उतर रहा था।

□

…पाँच का एक नोट एड़ी को देकर कलिजर बाटली लेने अन्दर गया। गलियों मे धन्धा…बाटलियों की बिक्री और ठण्ड धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। खाट के पास सिगड़ी सुलगने लगी थी। एक-दो छोकरियाँ और आस-पास की दुकानों पर काम करने वाले छोकरे हाथ पाँव सेंक रहे थे।

एड़ी खाट की तरफ आयी…खाट पर बैठी हुई छोकरियाँ उठ कर जमीन पर बैठ गयीं…

—बस क्या लड्डन ? बैठती हुई एड़ी बोली। मैं क्या बोली थी तेरे को… हाथ-पाँव रगड़ के…हो गयी चम्पी…

—अबी मैं क्या करेंगा ?…हटा दिया मेरे को…लड्डन इस तरफ आता हुआ बोला।

—वो तो हरामी है, एड़ी बोली।

—अबी मेरे को क्या मालूम ! कहता हुआ लड्डन अपनी कुर्सी के पास मंडराते हुए 'गिराहक' को देख कर भागा।

—चलो छोकरियों भागो…एड़ी हाथ सेंकती हुई छोकरियों से बोली। अबी इधर तुमेरा कोई काम नईं… चलो धन्धा देखो अपना…छोकरियाँ उठ कर जाने लगीं…—एड़ी को गाली नईं देने का…

□

—अबे हरामी !…एड़ी चिल्लायी…

मंगती का धन्धा करने वाला मदकची झगड़ा कर रहा था…

—मर जाएंगा…अइसा बूम मारेंगा क्या ? दो दिन बाकी है तेरा…गुपचुप जी लेने का…

—अबी तुम देखो एड़ी बाई, वह बोला…कल पन्द्रा पाई का पाव लिया… आज बीस का बोलता…मैं बोला बरोबर…दस पाई कल देंगा…मेरे को सपना गिरता था क्या ?

—तू रैता किदर है, भड़वे ? एड़ी चिड़चिड़ायी। पता नईं तेरे को…इधर साल में छे टाइम मंगाई गिरता…

—पता क्या ! में पढ़ेला-लिखेला क्या !…अपुन को तभी मालूम गिरता… जबी पाव पन्द्रा का बीस हुआ चाऽ बीस का पच्चीस हुआ…एक आने में उस्सल-पाव होता था, मुम्बई में…वह गिड़गिड़ाया…एड़ी भेन…तू बोल न…मैं दस पाई कल देता…

एड़ी दस का सिक्का उछाल कर बदहवास-सी आती हुई छोटकी को देखने लगी…

कलिजर ने मिमियाती हुई बन्नो की पीठ पर कपड़ा डाल दिया। आस-पास

से इकठ्ठा किये लकड़ी के टुकड़े और गत्ते सिगड़ी में डालने लगा। धुआँ लगते ही एड़ी ने कलिजर को चपत मार कर गाली दी। कलिजर ने खीसें निपोर दीं····

—ए सकुंतला भेन····छोटकी बोली····सुन न····

एड़ी उठ कर छोटकी के साथ दो कदम चली। मुसकरा कर बोली—बोल····सकुन्तला भेन, बोल····साली काम बोल····अबी किदर से आ रैली तू ?

—सीधा कम्पनी से····सेठ बोला, पइस कल देंगा····तू आधा बाटली दारू दे न !

ए वेड़ी ! तेरे कूं पता नई····मैं खुचरे का धन्धा नई करती। कभी बाटली से कमती धन्धा किया क्या ?

—कुछ कर न····

—हाँ-हाँ····देती मैं तेरे को दारू····छोड़ दे ! नौकरी-मजूरी करने वाली छोकरी का पीना खोटी बात !

—कस्सम से····छोटकी बोली, अपने लिए नई····माँ के लिए····दारू लेके नई गयी तो घर में नई घुसने दे। बोलती—किसी के पास 'बइठ' के ला····मगर ले के आ····अवी····तू बोल मैं खोटा धन्धा करेगी क्या ?

—नई····कब्बी नहीं। एड़ी रुपये निकालती हुई बोली, तू किदर और से ले ले—मेरे पास नौटाक-पाव सेर का धन्धा नई—अपनी माँ को दारू पिलाने का सबाब तू लूटे····रोकड़ा मेरा····स्यानीऽऽ, पइसा कल वापिस देने का····

—देंगा····देंगा····कहती हुई छोटकी····पीने चली गयी।

एड़ी के खाट पर बैठते ही कलिजर उसे कुछ रुपये देता हुआ बोला—माल खलास····! दो-तीन बाटली होएंगा बस····

—वांदा नई····एड़ी बोली। दो-तीन जितना भी बाटली होवे, निकाल डाल····बन्द कर····रोटी खाया ?

कलिजर उसका मुँह ताकता रहा।

—चल भाग !····एड़ी रुपया देते हुए बोली। खा ले····एक चाऽ बोल उसकूं····अरे देख रे····बन्नो क्या कर रैली····

फूला आ कर खाट पर चुपचाप बैठ गयी।

—आ····एड़ी बोली····हो गिया····?

—हो गिया, फूला ने बताया····छोकरा दो बरस के वास्ते 'तड़ीपार-हुकुम' में था। छोकरा बोलता दो बरस खलास हुआ। पुलिस बोलता, इधर चोपड़ी में लिखंत-पढंत नई····कइसा हो गया दो बरस····? चारज मारेंगा !

—हाँ फिर ?

—मुखादम सा'ब को बात किया····सौ का नोट लिया। बोलता बीस रुपया और देव····!

—मुखादम ! एड़ी बोली। उस माँ का यार को एक पइसा नई देने का····

लिया होएंगा····

—मैं जाती, फूला उठती हुई बोली····तेरे को बोलने आया बस····

—जा····आने का फिर····फूला चाऽ पी के जा ना····!

पर फूला चली गयी। एड़ी ने छोकरे के हाथ से चाय ले ली।

□

बिजली के खम्बे की गोद में पीक भरता हुआ भगवती एड़ी के सामने आ कर बैठ गया—बचेंगा नईं····!

—कौन रे ? एड़ी ने पूछा।

छोकरा····भगवती बोला····वो कलिजर के माफक एक छोकरा होता था न····पालिस वाला····बेवड़ी का छोकरा।

—कौन····? छोटकी का भाई ? एड़ी ने पूछा।

—हाँ-हाँ····खीसे में बरुस-पालिस डाल के टिरेनों में फिर-फिर के धन्धा करता था····टिरेन का हड़ताल हुआ····उसका धन्धा बन्द····उसके पास पेटी तो है नहीं····जो जंटलमैन पालिस कराके रुपया देंगा····किदर-किदर करके दो रुपया कमाया बिचारा····घर आया। दो रुपया उसका माँ ले लिया····रोटी नईं दिया····लात मार के बाहर किया····वो····घासलेट पी गया····अस्पताल ले गये उसकूं। बचेगा नईं।

अरे अइसा कइसा !····एड़ी ने सोचा····अब्बी तो····छोटकी····अइसा कइसा····

लड्डन पास आ कर बोला—मगर उसकूं घासलेट मिला किदर !

□

बदरू को आते देख कर एड़ी उठ कर उस तरफ चल दी।

—ओय होए, हीरो लग रैलाए ?····एक टिक्का लगा ले····नजर नीं लग जावे····

—बस····बस, रैन दे अब्बी····तेरे को हम्माम जाने का, तो जा ! बदरू ने कहा।

—नईं रे····एड़ी बोली, मैं कब्बी की नहा-धो के पाक-साफ····

—दरसन किये न····गणपति के ? बदरू ने पूछा।

—छोकरा बनता ए····समजता नईं जइसा !

—ये भेन····क्या जवाब हो गया ?····

—हाँ। ऐड़ी ने सर हिलाया।

—तो हो जाये फिर, बदरू मुसकराया। अबी इदर कोई काम-वीम है तेरा ?

—ट्र ऽ···अब्बी क्या ?

—तो चल फिर···बदरू ने एड़ी को देखा। ये क्या···थोड़ा कपड़ा-बिपड़ा चेन् कर···तेरे भाकड़े में देख जाके···बैग पड़ेला ए मेरा···साड़ी तपास उसमें··· पहन के आ···आदा बारंडी की बाटली···दो बीर पडेली ए···ले ले···उसकू बी ले ले···चल घाई कर···अबी क्या हो गया तेरे को ?···मेरे थोबड़े में क्या देख रैली ए ?···

—क्या···आती मैं। एड़ी चौंक कर बोली।

—हाँ, जा के आ···मैं चाऽ पीता होटल में।

अचानक एड़ी की नजर बदरू के हाथ पर पड़ी।

—अरे बता तो···अंगूठी नवी डाली क्या···?

—अर नईं रे। बदरू हाथ बढ़ाता हुआ बोला। मैं बोला चल डाल लेवे हाथ में···मंगता ए···?

—नईं, एड़ी हाथ छोड़कर बोली। नग कमजोर इसका···लाफा-वाफा मारे तो गिर जावे···

नईं गिरता···मैं मार के देखा···अबी जा न तू···बंकस कर रैली···

□

चाय पीता हुआ बदरू जाड्या ईरानी होटल में एड़ी का इन्तजार करने लगा।

नयी साड़ी में लिपटी एड़ी···बदरू को एड़ी न लग कर कोई और ही लग रही थी।

बदरू खड़ा हो गया। एड़ी बदरू के पास आकर चुपचाप खड़ी हो गयी। दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला।

—चल, एड़ी के होठ हिले···

—चल···अरे ! चाऽ का पाइसा देने का···वे दोनों चल दिये।

—नईं ! इदर से नईं···सरम लगती···

सिनेमा हॉल का चक्कर लगा कर एड़ी उसे एक सुनसान अंधेरी गली में ले जाने लगी।

—अरे, इदर किदर जा रैली तू ?

—चल न, बताती मैं···!

गली के बीचो-बीच थोड़ी-सी जगह घेरे एक बहुत ही छोटा-सा मन्दिर था। एड़ी ने सर ढक कर दहलीज को हाथ लगाया। माथा टिकाया। जलते हुए

दिये की रोशनी को दोनों हाथों से बटोर कर चेहरे पर पोता। बदरू से भी उसने ऐसा करने को कहा। बदरू ने भी किया।

—अब चल। बदरू जाने के लिए मुड़ा।

—टेर ना····एड़ी ने उसकी बांह पकड़ ली। एड़ी बैठकर मन-ही-मन कुछ बुदबुदाती रही। फिर उसने बदरू के पांव छू लिये।

—अरे! बदरू पीछे हटता हुआ बोला। ये क्या कर रैली तू?

एड़ी डांट कर बोली—बस क्या! अबी मेरे को कुंकुम लगा! कह कर एड़ी ने चेहरा ऊपर उठा दिया।

बदरू ने मूरत के पांव से अंगूठा रगड़कर एड़ी के माथे पर टीका लगा दिया। एक लम्बी सांस लेकर एड़ी ने आँखें खोल दीं····आ····अब्बी चल····

—चल। दोनों आगे बढ़ें। किदर? बदरू ने पूछा।

—मैं सब बन्दोबस्त किया····पैले से····बिंदास····फिकर नईं····मैं पैला सुन्दरी को मिल लेवे दो मिनिट····भेन होती ए वो मेरी····खोटे धन्धे में पड़ गयी बिचारी····

—अरे छोड़····बदरू बोला। अपुन आज होटल में रूम बुक करायेंगा····

—न बाबा, न····! होटल-फोटल में जाने वाली मैं नईं····

—काए को?

—होटल में रंडियाँ जाती····मेरे को उदर नईं जाने का····

—क्या बात करती तू?····होटल में नईं जाने का····बड़ा-बड़ा लोग जाता····वो सब रंडी हैं क्या?

—होएँगा····मेरे को उदर नईं जाने का!

—नईं जाने का? बदरू चिढ़-सा गया।

—नईं····

—लाफा खाने का?

एड़ी ने झटके से बदरू को देखा। उसका चेरहा कस गया। ····लाफा मारेगा! मार! सच्चा मरद है तो मार!

तड़ाक! बदरू ने थप्पड़ मार दिया····एड़ी की आँख से पानी आ गया····अरे!····

बदरू नजरें झुकाकर अपना हाथ देखने लगा। एड़ी ने उसका हाथ पकड़ लिया····देख, गिर गया न! मुसकरा कर बोली। मैं बोली थी····नग गिर जायेगा····!

बदरू को हँसी आ गयी। बोला—जाने दे····गाल पर हाथ रखा····जास्ती लगा तो नईं? चल, जिदर तू मंगती ए, चल····मेरी माँ····

—नईं····जिदर तू मंगता ए····ले के चल····! मैं जरा सुन्दरी को दिखा देऊँ एक मिनट····

सुखला जी स्ट्रीट में खुलने वाली कमाठीपुरा, चौदहवीं गली के नुक्कड़ से सटे संडास के सामने के गलियारे में दोनों आगे-पीछे बच-बच कर चलने लगे। दोनों तरफ की खोलियाँ कुछ दिन हुए पुरानी बिल्डिंग के साथ धसक गयी थीं। गलियारे के बीच में खड़ी बल्लियों पर नयी छत टिकी है। बायीं तरफ दस कदम पर सुन्दरी की खोली है।

खोली में पहुँच कर एड़ी ने बदरू से बैठ जाने को कहा। बदरू बैठ गया। दाहिनी तरफ का पलंग परदों से घिरा था। अन्दर से परेशान आवाजें आ रही थीं।

एड़ी ने सुन्दरी को आवाज लगायी।

तेज-तेज सांस लेती सुन्दरी नीचे आयी—अरे मेरी एड़ीऽऽ····एड़ी को भींचते हुए सुन्दरी ने कहा। मैं तो सोचा····तू भूल गयी अपनी भेन को····दरवाजे की तरफ मुँह उठा कर बोली—दो थंडा लेके आ····आ, बैट न····कहते हुए वह बदरू को देखकर एड़ी की तरफ शरारत से मुसकरायी। यही है न ?

एड़ी ने सर हिलाया और पूछा—कइसा है ?

—एक रात मेरे को दे दे····सुन्दरी बोली। बगल से गुजरती हुई बाई के हाथ से सोडे की एक बोतल ले कर एड़ी को थमा दी और बदरू की तरफ इशारा किया।

—अबी जायेगी मैं····तू ऊपर क्या करती थी ? गिराहक····!

—अरे नईं रे····सुन्दरी बोली। उधर राजस्थान में सूखा पड़ा····कितना माल गिरा बम्बई में····ब्योपारी लोग सस्ता-सस्ता, कड़क माल लाया उदर से···· मेरे पास चार दाना था। तीन को तो भेजा 'गोदाम' में तैयार करके····एक बचा ए···· मानती नहीं····मारो-पीटो····खाना नईं देव····कुछ भी करो····उदर ई थी मैं····

—अच्छा ! ऊपर····मेरे को बी दिखा····

—चल, देख ले····सुन्दरी ने कहा।

दोनों सीढ़ियाँ चढ़ने लगीं। एड़ी ने जाते-जाते बदरू से पूछा। बदरू ने सोडे की खाली बोतल कुर्सी के नीचे रखते हुए एड़ी को जाने का इशारा किया।

पलंग के परदे खन-खन करते खुले। एक आदमी बटन बन्द करता हुआ बाहर निकल गया। बदरू ने सिगरेट सुलगा ली। छोकरी मोरी से वापस आ कर कंघी करती हुई बदरू के घुटनों से अपनी जांघे रगड़ने लगी। कंघी फेंक कर वह धच् से बदरू की गोद में बैठ गयी। बदरू ने एक तरफ का गाल चूम कर दूसरा थंपथपाया—अबी बस····आ····उदर बैठ सीधा····

—अच्छा, एक सिगरेट दे। बदरू ने सिगरेट दे दी।

□

वह राजस्थानी छोकरी एक कोने में घुटनों में चेहरा छुपाये सुबकियाँ लेती

बैठी थी। सीढ़ियों पर होती आवाजों पर उसने आँखें खोली। चेहरा उठाते हुए उसकी निगाह एड़ी के पैरों से होती हुई चेहरे पर आ कर अटक गयीं।

ताजे बहे हुए आँसू अब भी उसकी आँखों और गालों पर थे। बिखरे हुए बाल····थोड़ी धंस गयी आँखें····पीला पड़ गया चेहरा····इकहरा-कमजोर बदन····बाहों, गालों और टेट पर उछले हुए बेंत के निशान····

एड़ी को सामने देखकर उसने पीठ सीधी कर ली।

—तू वी मारवे आई वे····? मार ले, मेरी बूटी-बूटी नूंच ले····मी राज-पूऽतनी बेटी····मी वो काम नी करूँ····

एड़ी ने उसके सामने बैठते हुए उसके बदन पर पड़े बेंत के निशानों को सहलाया। गालों पर आँसुओं की नमी महसूस की····नईं रे····मैं तेरे को मारने नईं आयी।

सुन्दरी की तरफ देख कर एड़ी बोली—जाने दे सुन्दरी,····ये नहीं मानेगी····इसे जाने दे····तरस खा····

—तरस खाऊँ!····सुन्दरी बोली····काए का तरस····मेरे पे कोई तरस नईं खाया····बारा बरस की उम्मर में मेरे सर पे कर्जा लेके 'गोदाम' में पटक दिया था। कइसा छोड़ेगी मैं? कइसा जाने देगी?

····उस छोकरी ने बिखर कर एड़ी को भींच लिया और फूट-फूट कर रोने लगी—मी नी रऊँ याँ····ले चल····आपणे संग····जिनगी भर चाकरी करूँ तेरी····मेरी भैणा, ले चल····

एड़ी ने उसे चुप कराया—घबरने का नईं····तू मर जाना। झैर खा लेने का····खोटा धन्धा नईं करने का····मैं आयेगी फिर····आं! घबरने का नईं····

सुन्दरी ने एड़ी का कंधा झकझोर दिया—ये क्या कर रैली तू?····मैं इसका पहला गिराहक का माड़वाली हजार रुपये में नक्की किया····हाँ····

—तू एक टाइम हाँ बोल दे····

एड़ी ने सुन्दरी को देखा। देखा और देखती रही। उसे लगा उसकी माँ अभी मरी नहीं है····

□

—तू एक टाइम हाँ बोल दे····हजार रुपये में नथ उतरवाऊँ तेरी। काए को मुकद्दर पे थूक रैली तू?····पइसा बटोर ले····पइसा अपना मरद····पइसा धरम····

—नईं····मेरे को ये खोटा धन्धा नहीं करने का····पइसे के लिए सब मरद के साथ नईं सोयेगी मैं—

—फिर क्या करेगी तू?····धन्धा नईं करेगी····ऐक्टर बनेगी!····

—शादी बनायेगी····इज्जतदार धन्धा करेगी····अपना एक मरद होयेंगा···· खानदान वाला····इज्जतदार धन्धे वाला····

—शादी बनायेगी तू ?····एड़ी हो गयी तू····अरे अपने यहाँ आज तक किसी औरत ने शादी बनायी जो तू सती-सावित्री बनेगी····सरम नई आती ?····एक मरद की गुलामी करेगी····?

—मैं किसी की घरवाली बनेगी····औरत बनेगी····रंडी नहीं बनने का है मेरे को····समजती है क्या ?····

—क्या बोली ?····इतनी छोकरी धन्धा करती, वो औरत नहीं ?····रंडी हैं····मैं अउरत नहीं !····सिरफ रंडी है !····

—तू अपने को अउरत बोल तो बोल····दुनिया मानती क्या····?

—मैं किसी की अउरत नहीं ?····मैं अउरत नहीं !

□

—हाँ-हाँ····तू रंडी है····औरत नहीं····बोल किस की औरत है तू ?····पीर भाय अली भाय की····जिसको तू मेरा बाप बोलती····किदर है वो !····तू किसी की अउरत होती तो उसके घर में होती····इधर कमाठीपुरा के बाजार में खटिया नहीं चलाती होती····तू अउरत होती तो मेरे को, अपनी छोकरी को धन्धा करने को नई बोलती ····बोल किदर से अउरत है तू····?

—मैं तेरी जबान खीच लेंगी····मिरचें भरवा देंगी····देखती मैं भी कइसा नई मानती तू····एड़ी को उसकी माँ ने मारना शुरू कर दिया था। मारती रही थी, मारती रही थी। अचानक ही एड़ी ने अपनी माँ को धक्का दे दिया था—वह दीवार से टकरा गयी थी। फिर वह धीरे-धीरे अपनी माँ की तरफ आगे बढ़ी थी····

□

चीख सुन कर बदरू ऊपर लपका। सुन्दरी की गरदन को एड़ी की उँगलियाँ कसती जा रही थीं····

[सारिका, जनवरी 1976]

इस संकलन के रचनाकार

अचला शर्मा [जन्म : 1952, जालंधर, पंजाब]

1970 के बाद के रचनाकारों में चर्चित। 'साहित्य में अपेक्षित सम्पूर्णता के लिए निर्ममता और सहिष्णुता के समन्वय की आकांक्षी।' पारिवारिक और सामाजिक विसंगतियों का सफलता से आकलन और प्रस्तुति। व्यक्ति की संवेदना के प्रति आश्वस्त, साथ ही गिरते हुए जीवन-मूल्यों के प्रति आशंकित। 'बर्दाश्त बाहर' (कहानी संग्रह) प्रकाशित।

सम्पर्क : सी–283, डी० डी० ए० फ्लैट्स, मालवीय नगर एक्सटैंशन, नयी दिल्ली–110017

आशीष सिन्हा [जन्म : 1943, मुंगेर, बिहार]

स्वस्थ लेखकीय दृष्टि से सम्पन्न रचनाकार। 'मैं यह मानकर चलता हूँ कि लेखन जीवन-संघर्ष का वाहक है तथा इस संघर्ष में 'वर्ग' और 'वर्ण' दोनों शामिल हैं।' आदमखोर (कहानी संग्रह) तथा 'कई लहरों के बीच' (उपन्यास) प्रकाशित।

सम्पर्क : ए–40, इन्द्रपुरी, नयी दिल्ली–110012

इब्राहीम शरीफ [जन्म : 1939, मृत्यु : 27 अप्रैल 1977]

प्रगतिशील चिंतक और यथार्थवादी प्रखर रचनाकार। समान्तर आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर। जीवन में घटित सामान्य-सी घटना को आधार बनाकर अपनी स्वस्थ रचनाधर्मिता के निर्वाहकर्ता। अपने चिंतन में व्यापक मानवीयता और समतावादी आदर्श के लिए सतत् संघर्षरत। 'कई सूरजों के बीच' (कहानी संग्रह) विशेष रूप से चर्चित। इसके अतिरिक्त एक कहानी संकलन तथा एक उपन्यास और प्रकाशित।

चित्रा मुद्गल [जन्म : 1944, उन्नाव, उत्तर प्रदेश]

नवोदित कहानी लेखिका। लेखन में घर-परिवार की मर्यादाओं का स्वीकार। 'क्योंकि इनके प्रति भी प्रतिबद्ध होना उतना ही जरूरी लगता है जितना राजनीतिक दृष्टि से....। ....सामान्य व्यक्ति की आँसू भरी लाचारियों में छिपी आस्थाएँ मेरी प्रेरणा हैं।' गुजराती की 70 कहानियों और 5 उपन्यासों और मराठी की 50 कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी में 6 कहानियाँ प्रकाशित।

सम्पर्क : 74, पत्रकार नगर, वान्द्रा (पूर्व), बम्बई–400051

जवाहर सिंह [जन्म : 1934, विष्णुपुरा ग्राम, बिहार]

प्रतिपक्ष के सफल कथाकार। 'मेरी दृष्टि में साहित्य कोई निर्जीव-निष्क्रिय दर्पण नहीं है, उसे अपने प्रतिबिम्बित सामाजिक जीवन की खूबसूरती या बदसूरती के लिए जिम्मेदार उन तत्त्वों के विविध समीकरणों के रहस्य को भी उद्घाटित करना चाहिए जिनके गलत संयोजन से सामाजिक चेहरे में विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।'

अब तक तीन उपन्यास और दो कहानी संकलन प्रकाशित। साथ ही, सभी शीर्षस्थ पत्रिकाओं में रचनाओं (विशेषकर कहानियों) का प्रकाशन।

सम्पर्क : हिन्दी-विभाग, राजकीय डी० एम० कॉलेज, इम्फाल–795001 (मणिपुर)

दिनेश पालीवाल [जन्म : 1942, इटावा, उत्तर प्रदेश]

नये कहानीकारों में चर्चित। रचना-दृष्टि आम आदमी से प्रतिबद्ध। सर्वहारा-क्रान्ति में विश्वास। 'सरकारें बदलने से समाज नहीं बदलता, व्यवस्था बदलने से समाज बदलता है'—इस कथ्य के प्रति अप्रतिम रूप से निष्ठावान्। अपनी अधिकांश रचनाओं में सामाजिक विसंगतियों और मानवीय सम्बन्धों का वस्तुपरक निरूपण। एक कथा-संग्रह (दुश्मन) तथा लगभग 125 कहानियाँ प्रकाशित।

सम्पर्क : राधाकृष्ण भवन, न्यू कॉलोनी, इटावा (उत्तर प्रदेश)

निर्मल वर्मा [जन्म : 1929, नयी दिल्ली]

आजादी के बाद के लेखकों में अत्यन्त चर्चित। अपनी रचनाओं में सामाजिक, सामयिक सन्दर्भों के निरूपण के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं की प्रस्तुति के सन्दर्भ में सिद्धहस्त। स्वस्थ रचनात्मक दृष्टि से सम्पन्न। घटना-बिन्दुओं की सूक्ष्म पकड़। तीन कहानी संग्रहों (जलती झाड़ी, परिन्दे, पिछली गर्मियों मे) और दो उपन्यासों (वे दिन, लाल टीन की छत) के यशस्वी रचनाकार। 'वे दिन' उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत।

सम्पर्क : 14–ए–20 डब्ल्यू, ई० ए० करोल बाग, नयी दिल्ली–110005

प्रभु जोशी [जन्म : 1950, देवास, मध्य प्रदेश]

सामान्य वर्ग की पक्षधरता से प्रतिबद्ध बहुचर्चित कथाकार। जुझारू मानसिकता और साथ ही मानवीय संवेदना से सम्पन्न। सामयिक विसंगतियों की यथार्थ और वस्तुपरक पहचान और अपनी कृतियों के माध्यम से जनचेतना लाने के लिए संकल्पित। अभी तक शीर्षस्थ पत्रिकाओं में लगभग एक दर्जन कहानियाँ प्रकाशित।

सम्पर्क : आकाशवाणी, रीवाँ (मध्य प्रदेश)

भीष्म साहनी [जन्म : 1915, रावलपिंडी, पाकिस्तान]

श्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक। मध्यवर्गीय मानसिकता के निरूपण में विशेष रूप से यशस्वी। समष्टिगत चिन्तक होने के नाते समाजोन्मुख दृष्टि से सम्पन्न। पाँच कहानी संग्रह (भाग्य रेखा, पहला पाठ, भटकती राख, पटरियाँ, वाङ् चू); तीन उपन्यास (झरोखे, कड़ियाँ, तमस) और एक नाटक (हानूश) प्रकाशित। 1975 में 'तमस' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित।

सम्पर्क : 8/30 ईस्ट पटेल नगर, नयी दिल्ली–110008

मधुकर गंगाधर [जन्म : 1934, झलारी ग्राम, बिहार]

शोषितों के पक्षधर रचनाकार। मार्क्सवाद चिन्तन का आधार। 'मेरी प्रत्येक रचना जन-मानस को समर्पित है किसी ग्रुप, किसी दल को नहीं।····मेरा साहित्य साज नहीं, हथियार है।' अब तक 5 कहानी संग्रह (तीन रंग तेरह चित्र,

हिरना की आँखें, गर्म गोश्त बर्फीली तासीर, नागरिकता के छिलके, शेर छाप कुर्सी) और छह उपन्यास (मोतियों वाले हाथ, यही सच है, फिर से कहो, सुबह होने तक, उत्तर कथा, सातवीं बेटी) प्रकाशित।

सम्पर्क : ब्लॉक 38, फ्लैट–276, रोड 11, राजेन्द्र नगर, पटना–800016

मोहर सिंह यादव [जन्म : 1948, मैनपुर, राजस्थान]

तेजी से उभरते हुए नवोदित कथाकार। लेखन में जनहित और आम आदमी के विकास-उत्थान से सम्बद्धता। 'समसामयिक सन्दर्भ में समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं को मैं अपने लेखन का आधार मानता हूँ।'

सम्पर्क : 30 लाजपतनगर, अलवर (राजस्थान)

रमेश उपाध्याय [जन्म : 1942]

स्वस्थ रचनाधर्मिता से सम्पन्न सशक्त कथाकार। समस्त लेखन में संघर्षशील जुझारू प्रवृत्ति के प्रति प्रतिबद्धता। आम आदमी के प्रति ईमानदार हित-कामना से आपूर्ण। कहानी संग्रह (जमी हुई झील, शेष इतिहास, नदी के साथ); उपन्यास (चक्रवद्ध, स्वप्नजीवी, दण्डद्वीप); नाटक (पेपरवेट, सफाई चालू है) प्रकाशित। साथ ही गुजराती की अनेक कृतियों के अनुवादक।

सम्पर्क : बी–3/4 राणाप्रताप बाग, दिल्ली–110007

रमेश बत्तरा [जन्म : 1949, जालंधर, पंजाब]

सामयिक सन्दर्भों के सजग कथाकार। प्रतिपक्ष के पक्षधर। आम आदमी की जिजीविषाओं की जीवन्तता के प्रति प्रतिबद्ध। 'कहानी न रामायण है, न मेनीफेस्टो ····कहानी मेरे लिए वह माध्यम है जो मुझे टुच्चे तथ्यों के बीच में से सत्य की ओर ले जाता है।' अब तक एक दर्जन से अधिक कहानियाँ प्रकाशित।

सम्पर्क : सारिका, पो० आ० बा० नं० 213, टाइम्स ऑफ इण्डिया बिल्डिंग, बम्बई–400001

राजेन्द्र राव [जन्म : 1944, कोटा, राजस्थान]

उभरते कहानीकारों में चर्चित। 'निम्न मध्यवर्गीय परिवार और समाज में व्याप्त विसंगतियाँ और मानवीय सम्बन्ध रचनाधर्मिता का आधार हैं।' तीन दर्जन कहानियों (दो कथा संकलनों) तथा अनेक रिपोर्ताज के रचयिता।

सम्पर्क : ई–51, अर्मापुर इस्टेट, कानपुर–208009

विवेकानन्द [जन्म : 1956, पटना, बिहार]

युवा आक्रोश की सार्थकता के समर्थक कहानीकार। 'समाज में व्याप्त छल-कपट, शोषण, उत्पीड़न, मँहगाई-बेकारी, भ्रष्टाचार-अन्याय जब 'क्यों' बनकर मेरी नंगी आँखों के सामने खड़े हो जाते हैं तब मैं कुछ लिखने को बाध्य हो जाता हूँ....'

'लाल लकीर' कहीं भी प्रकाशित होने वाली पहली कहानी है।

सम्पर्क : हसन बाजार, भोजपुर (बिहार–802204)

शंकर पुणतांबेकर [जन्म : 1925, कुम्भराज, मध्य प्रदेश]

बहुचर्चित लघु-कथा लेखक। सार्थक सामयिक लघु-कथाओं के साहित्यिक

प्रतिष्ठाताओं में अग्रणी। 'साहित्य का मूल आधार वाद नहीं, अनुभूतियाँ और सवेदनाएँ हैं। ये अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ कभी भी समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकतीं। अब तक दो उपन्यास (कलंक-रेखा, हरियाली और काँटे); एक नाटक (शीशे के टुकड़े); तीन एकांकी संग्रह (कल्याणी, सबसे छोटा आदमी, बचाओ मुझे डॉक्टरों से बचाओ), एक हास्य व्यंग्य-संग्रह (रेडीमेड कपड़े) तथा एक व्यंग्य कथाओं का संकलन (श्रेष्ठ व्यंग्य कथाएँ सम्पादित) प्रकाशित।

सम्पर्क : 163, जिल्हा पेठ, जलगाँव, महाराष्ट्र

शशि प्रभा शास्त्री [जन्म : 1923, मेरठ, उत्तर प्रदेश]

पिछले वर्षों की चर्चित कहानीकार। रचनाधर्मिता में गहराई, बेबाकी और बारीकी का होना आवश्यक मानती हैं। सामाजिक मूलभूत प्रश्नों के साथ-साथ प्रेम तथा सेक्स सम्बन्धी स्थितियों को भी अपनी रचनाओं में ग्रहण किया है। श्लील-अश्लील जैसे प्रश्नों को लेखन से जोड़ने में आपका विश्वास नहीं है। 10 प्रकाशित पुस्तकों में दो कहानी संकलन (धुली हुई शाम, अनुत्तरित) तथा चार उपन्यास (वीरान रास्ते और झरना, अमलतास, नावें, सीढ़ियाँ) भी प्रकाशित।

सम्पर्क : 3/6 भगवान नगर, देहरादून (उत्तर प्रदेश)

सुधा अरोड़ा [जन्म : 1946, लाहौर, पाकिस्तान]

व्यापक सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई सफल लेखिका। पारिवारिक, सामाजिक और व्यवस्था-सम्बद्ध स्थितियों का अत्यन्त जागरूकता से पर्यवेक्षण और आकलन करने की क्षमता तथा मानवीय संवेदनाओं की यथार्थ पहचान से सम्पन्न। दो कथा संकलन (बगैर तराशे हुए, युद्ध-विराम) प्रकाशित।

सम्पर्क : 1/403 सी-क्रेस्ट, सात बंगला, वरसोवा, बम्बई–400061

सुरेश उनियाल [जन्म : 1947, देहरादून, उत्तर प्रदेश]

नवोदित दृष्टि सम्पन्न कहानीकार। 'कथ्य को सामयिकता और परिवेश से संयुक्त करके देखना ही आज लेखन को सार्थक बना सकता है। साथ ही, कलात्मकता की रक्षा के लिए प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग भी मुझे प्रिय है।' अब तक लगभग एक दर्जन कहानियाँ प्रकाशित।

सम्पर्क : सारिका, पो० आ० बा० नं० 213, टाइम्स ऑफ इण्डिया बिल्डिंग, बम्बई–400001

स्वदेश दीपक [जन्म : 1942, रावलपिंडी, पाकिस्तान]

मानवीय संवेदना के सफल कहानीकार। जीवन में व्याप्त असंगतियों के रेखांकन में यथार्थ दृष्टि से सम्पन्न। एक कहानी संग्रह तथा दो उपन्यास प्रकाशित।

सम्पर्क : अंग्रेजी विभाग, गांधी मेमोरियल कॉलिज, अम्बाला छावनी

हृदय लानी [जन्म : 1944, संडीला, उत्तर प्रदेश]

सामान्य वर्ग की पीड़ा और उसकी आशा-आकांक्षाओं के व्याख्याता। स्वाभाविक भाषा-शिल्प के धनी। जीवन की विसंगतियों के साहसिक प्रस्तुतकर्ता। देश की शीर्षस्थ पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

सम्पर्क : द्वारा नितिन सेठी, बी/2, अल्वोराडा, ऑफ सेन्ट रोक रोड, बम्बई–400050

1976 में प्रकाशित कहानी-संग्रह

1. इन्सान और मशीन, अभिमन्यु अनत, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली–7 ।
2. खामोशी के चीत्कार, अभिमन्यु अनत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2 ।
3. यह कहानी नहीं, अमृता प्रीतम, पराग प्रकाशन, दिल्ली–32 ।
4. आतंक, ईश्वरचन्दर, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ।
5. पिंजरे का पंछी, कल्पना, सन्मार्ग प्रकाशन, जवाहर प्रकाशन, दिल्ली–7 ।
6. पानी और रेत के कण, कुलभूषण, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली ।
7. नीली आँखों वाले बगुले, कृष्ण कुमार, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली–6 ।
8. एक कमजोर लड़की पागल सी, कृष्णा, सुपर्णा प्रकाशन, 101 काउस घाट रोड, हावड़ा–711002 ।
9. शहर-दर-शहर, गिरिराज किशोर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2 ।
10. अन्त:पुर, गोविन्द मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली–2 ।
11. धूप के अहसास, दीप्ति खण्डेलवाल, पराग प्रकाशन, दिल्ली–32 ।
12. पहला कदम, दूधनाथ सिंह, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद ।
13. बेबस अपराधी, परिपूर्णानन्द वर्मा, पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली–2 ।
14. मोर्चा बन्दी, भगवतीचरण वर्मा, राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली–2 ।
15. सूरज लीलती घाटियाँ, भगवतीलाल व्यास, राजस्थान साहित्य अकादमी, [संगम] उदयपुर ।
16. टूटा हुआ इन्द्रधनुष, मंजुल भगत, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली–51 ।
17. अभी तलाश जारी है, मणिका मोहिनी, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद–1 ।
18. चेहरों के बीच, [स०] योगेन्द्र किसलय, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर–2 ।
19. एक विरासत और, रघुवीर सिन्हा, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली–51 ।
20. महानगर की कहानियाँ, [स०] सुदर्शन नारंग, पराग प्रकाशन, दिल्ली–32 ।
21. मम्मी ऐसी क्यों थी, राजानन्द, राजस्थान साहित्य अकादमी, [संगम] उदयपुर ।
22. एक औरत से इन्टरव्यू, राजेन्द्र अवस्थी, पराग प्रकाशन, दिल्ली–32 ।
23. शेष प्रसंग, बल्लभ सिद्धार्थ, शब्दकार, दिल्ली–6 ।

24. बरगद की छाया, [स०] विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर–2 ।
25. वही आग वही गंगाजल, शिवसागर मिश्र, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली ।
26. चील, शैलेश मटियानी, अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली–2 ।
27. पुष्पांजलि, सरोज, साहित्य भवन [प्रा०] लि०, इलाहाबाद ।
28. गरीबी हटाओ, रवीन्द्रकालिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1 ।
29. टोकरी भर धूप, हरिकृष्ण कौल, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली–7 ।
30. मनुष्य-चिह्न, हिमांशु जोशी, पराग प्रकाशन, दिल्ली–32 ।
31. श्रेष्ठ समान्तर कहानियाँ, [स०] हिमांशु जोशी, पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली–32 ।